पश्चिमी दर्शन

[illegible]

लेखक

डॉक्टर दीवानचन्द

उत्तर प्रदेश हिन्दी संस्थान (हिन्दी समिति प्रभाग)
राजर्षि पुरुषोत्तमदास टंडन हिन्दी भवन
महात्मा गांधी मार्ग, लखनऊ

पश्चिमी दर्शन

[ऐतिहासिक निरूपण]

हिन्दी समिति प्रभाग ग्रन्थमाला–11

पश्चिमी दर्शन

[ऐतिहासिक निरूपण]

लेखक
डॉक्टर दीवानचन्द

उत्तर प्रदेश हिन्दी संस्थान (हिन्दी समिति प्रभाग)
राजर्षि पुरुषोत्तमदास टंडन हिन्दी भवन
महात्मा गांधी मार्ग, लखनऊ

पश्चिमी दर्शन
[ऐतिहासिक निरूपण]

प्रथम संस्करण : 1957
द्वितीय संस्करण (संशोधित) : 1967
तृतीय संस्करण : 1978

■

मूल्य : तेरह रुपये

■

मुद्रक :
बाबूलाल जैन फागुल्ल,
महावीर प्रेस,
भेलूपुर, वाराणसी–1

प्रकाशकीय

जीव और प्रकृति के सम्बन्ध में अनेक दृष्टियों से विचार किया जाता है। तात्त्विक दृष्टि से उनके विषय में विचार करना दर्शन कहलाता है। सत्-असत् की मीमांसा और मन, बुद्धि, अहंकार आदि की विवेचना मनीषियों द्वारा भाँति-भाँति से की गयी है।

पश्चिम के देशों में दर्शनशास्त्र के क्षेत्र में यूनान अग्रणी माना जाता है और यूनान के यशस्वी दार्शनिकों में सुकरात का नाम सर्वप्रथम लिया जाता है। उसके बाद प्लेटो और अरस्तू का स्थान है। यूनान से निकल कर दार्शनिक विचारधारा रोम पहुँची और फिर समस्त यूरोप तथा अमेरिका में फैल गयी। प्रस्तुत पुस्तक में डॉ० दीवानचन्द ने पश्चिमी दर्शनशास्त्रियों के विषय में बड़ी रोचक एवं सरल शैली में प्रकाश डाला है और ऐतिहासिक पृष्ठभूमि के साथ उनके मत एवं सिद्धान्तों का संक्षिप्त परिचय दिया है।

डॉ० दीवानचन्द भारत के प्रसिद्ध शिक्षाविद् एवं लोकसेवी व्यक्ति थे। वे दीर्घ काल तक दर्शन के सफल प्राध्यापक रहे और अपने प्रगाढ़ अनुभव के आधार पर हिन्दी समिति के लिए उन्होंने यह पुस्तक लिखी, जिसका विद्यार्थियों में विशेष रूप से आदर हुआ। खेद है कि डॉ० दीवानचन्द अपनी इस कृति के बाद के संस्करण न देख सके और इनके प्रकाशित होने के पहले ही परलोकवासी हो गये।

पुस्तक का सुधी पाठकों ने स्वागत किया और प्रथम संस्करण की भाँति इसके द्वितीय संस्करण को भी उन्होंने पूर्ववत् अपनाया। अब पाठकों की माँग पर इसका तृतीय संस्करण प्रस्तुत किया जा रहा है।

विश्वास है, यह संस्करण भी पूर्ववर्ती संस्करणों की भाँति दर्शन के छात्रों तथा अन्य जिज्ञासु पाठकों द्वारा समादृत होगा।

ठाकुरप्रसाद सिंह
निदेशक,
उ० प्र० हिन्दी संस्थान

पश्चिमी दर्शन

[ऐतिहासिक निरूपण]

प्रथम संस्करण : 1957

द्वितीय संस्करण (संशोधित) : 1967

तृतीय संस्करण : 1978

■

मूल्य : तेरह रुपये

■

मुद्रक :

वाबूलाल जैन फागुल्ल,

महावीर प्रेस,

भेलूपुर, वाराणसी–1

प्रकाशकीय

जीव और प्रकृति के सम्बन्ध में अनेक दृष्टियों से विचार किया जाता है। तात्त्विक दृष्टि से उनके विषय में विचार करना दर्शन कहलाता है। सत्-असत् की मीमांसा और मन, बुद्धि, अहंकार आदि की विवेचना मनीषियों द्वारा भाँति-भाँति से की गयी है।

पश्चिम के देशों में दर्शनशास्त्र के क्षेत्र में यूनान अग्रणी माना जाता है और यूनान के यशस्वी दार्शनिकों में सुकरात का नाम सर्वप्रथम लिया जाता है। उसके बाद प्लेटो और अरस्तू का स्थान है। यूनान से निकल कर दार्शनिक विचारधारा रोम पहुँची और फिर समस्त यूरोप तथा अमेरिका में फैल गयी। प्रस्तुत पुस्तक में डॉ० दीवानचन्द ने पश्चिमी दर्शनशास्त्रियों के विषय में बड़ी रोचक एवं सरल शैली में प्रकाश डाला है और ऐतिहासिक पृष्ठभूमि के साथ उनके मत एवं सिद्धान्तों का संक्षिप्त परिचय दिया है।

डॉ० दीवानचन्द भारत के प्रसिद्ध शिक्षाविद् एवं लोकसेवी व्यक्ति थे। वे दीर्घ काल तक दर्शन के सफल प्राध्यापक रहे और अपने प्रगाढ़ अनुभव के आधार पर हिन्दी समिति के लिए उन्होंने यह पुस्तक लिखी, जिसका विद्यार्थियों में विशेष रूप से आदर हुआ। खेद है कि डॉ० दीवानचन्द अपनी इस कृति के बाद के संस्करण न देख सके और इनके प्रकाशित होने के पहले ही परलोकवासी हो गये।

पुस्तक का सुधी पाठकों ने स्वागत किया और प्रथम संस्करण की भाँति इसके द्वितीय संस्करण को भी उन्होंने पूर्ववत् अपनाया। अब पाठकों की माँग पर इसका तृतीय संस्करण प्रस्तुत किया जा रहा है।

विश्वास है, यह संस्करण भी पूर्ववर्ती संस्करणों की भाँति दर्शन के छात्रों तथा अन्य जिज्ञासु पाठकों द्वारा समादृत होगा।

ठाकुरप्रसाद सिंह
निदेशक,
उ० प्र० हिन्दी संस्थान

प्रस्तावना

उत्तर प्रदेश की सरकार ने निश्चय किया है कि राजभाषा के प्रोत्साहन के लिए विविध विषयों पर पुस्तकें प्रकाशित की जायें। इस सम्बन्ध में कार्य आरम्भ हो चुका है। लेखक की रचना 'तत्त्व-ज्ञान' 'हिन्दी समिति ग्रन्थमाला' में दूसरी पुस्तक है। 'पश्चिमी दर्शन' 'तत्त्व-ज्ञान' का साथी ग्रन्थ ही है। दर्शन का इतिहास मानव जाति के निरन्तर दार्शनिक विचारों की कथा ही है।

प्लेटो जिन बातों के लिए जीवन के प्रति अनन्य कृतज्ञता प्रकट करता था, उनमें प्रथम स्थान इस बात को देता था कि वह सुकरात के समय में पैदा हुआ और उसे ऐसे गुरु के निकट सम्पर्क में रहने का अवसर मिल। हम लोग प्लेटो से अधिक भाग्यवान् हैं। हम सुकरात के ही नहीं, प्लेटो और अनेक अन्य विचारकों के, जिन्होंने 2,000 वर्षों के लगभग मानव-जाति का पथ-प्रदर्शन किया है, निकट सम्पर्क में आ सकते हैं। आवश्यकता इस बात की है कि हम ऐसे सम्पर्क के लिए समय निकाल सकें और हममें इस सम्पर्क से लाभ उठाने की योग्यता हो। हममें से बहुतेरे इन महान् आत्माओं की संगति से इसलिए घबराते हैं कि कहीं हमें अपनी बौद्धिक सीमाओं का बोध न हो जाय।

मुझे परमात्मा ने बहुत कुछ दिया है। अपनी सम्पत्ति का सबसे अधिक मूल्यवान् भाग मैं प्रमुख विचारकों के सम्पर्क को समझता हूँ। 'पश्चिमी दर्शन' के द्वारा मैं अपनी मानसिक तुष्टि में कुछ साझेदार बनाना चाहता हूँ। यह सम्पत्ति ऐसे साझे से घटती नहीं, कुछ बढ़ती ही है। स्काटलैण्ड के दार्शनिक सर विलियम हैमिल्टन ने कहा था कि हम दार्शनिक विवेचन करते हैं या नहीं करते। यदि करते हैं, तब तो करते ही हैं; यदि नहीं करते, तो भी करते हैं। कोई मनुष्य ऐसे विवेचन के बिना रह नहीं सकता। जब स्थिति ऐसी है, तो उचित यही है कि हम उन लोगों से, जिन्होंने ऐसे विवेचन को जीवन का प्रमुख कार्य बनाया था, कुछ सुनें। 'कठोपनिषद्' में कहा है—

'उत्तिष्ठत जाग्रत प्राप्य वरान्निबोधत।
क्षुरस्य धारा निशिता दुरत्यया दुर्गं पथस्तत् कवयो वदन्ति।'

(3, 14)

'उठो, जागो, भले पुरुषों के सम्पर्क में आकर कुछ सीखो। ज्ञानी पुरुष कहते हैं कि जैसे छुरे की धार तीक्ष्ण होती है, उसी प्रकार आत्मसिद्धि का मार्ग दुर्गम है।'

विवेचकों की संगति में हमें भी उनके तात्त्विक विवेचन में सम्मिलित हो जाना चाहिए। चिन्तन और मनन ही दर्शन के अध्ययन का मुख्य फल है। एक दार्शनिक ने विवेचन की उपमा शिकारी के काम से दी है। शिकारी अपने काम में घंटों व्यतीत कर देता है। उसे कभी तो कुछ मिल जाता है, कभी नहीं भी मिलता। दोनों हालतों में वह समझता है कि उसने अपने समय का अच्छा उपयोग किया है।

दीवानचन्द

विषय-सूची

पहला भाग

यूनान का दर्शन 1–16

1. सुकरात से पहले 1
2. साफिस्ट समुदाय और सुकरात 14
3. प्लेटो 25
4. अरस्तू 40
5. अरस्तू के बाद 54

दूसरा भाग

मध्य काल का दर्शन 67–68

6. टामस एक्विनस 69

तीसरा भाग

नवीन काल का दर्शन 79–237

7. सामान्य विवरण 81
8. बेकन और हाब्स 87
9. डेकार्ट और उसके अनुयायी 99
10. स्पिनोज़ा और लाइबनिज़ 112
11. जॉन लॉक 128
12. बर्कले और ह्यूम 140

13. कांट 154
14. फ़ीख़टे और हेगल 167
15. शापनहावर और नीत्शे 181
16. हर्बर्ट स्पेन्सर 197
17. हेनरी बर्गसाँ 209
18. अमेरिका का दर्शन 221

पहला भाग

यूनान का दर्शन

आइओनियन

थेलस
एनाक्सिमैण्डर
एनाक्सिमिनिज
पाइथागोरस

इलियन

पार्मेनाइडिस
जीनो

हेराक्लीटस
ल्यूसिप्पस
डिमाक्राइटस
एनाक्सिगोरस

साफिस्ट

प्रोटेगोरस
जार्जियस
सुकरात
प्लेटो
अरस्तू

After Aristotle

एपिक्यूरस
स्टोइक

जीनो
एपिक्टेटस
औरेलियस

पहला परिच्छेद

सुकरात से पहले

1. यूनानियों का दर्शन

यूनान पश्चिमी सभ्यता का जन्मस्थान समझा जाता है। इस सभ्यता ने अपने प्रमुख रूपों में वहीं जन्म लिया, और वहीं उसका विकास हुआ। सभ्यता के प्रमुख चिह्न क्या हैं? एक नवीन लेखक ने इसका निश्चय करने के लिए प्राचीन यूनान की स्थिति को देखना ही पर्याप्त समझा है। इस लेखक के कथनानुसार सभ्यता के दो प्रधान चिह्न हैं—एक यह कि जीवन का शासन बुद्धि के हाथ में हो; दूसरा यह कि सौन्दर्य की कीमत भली भाँति समझी जाय। बुद्धि की प्रधानता विज्ञान और दर्शन के प्रति श्रद्धा में प्रकट होती है; सौन्दर्य का प्रेम ललित कला को, उसके विविध रूपों में, जन्म देता है। प्राचीन यूनान ने जो विचारक, कलाकार और साहित्यकार पैदा किये, उनसे ऊँचे दरजे के विचारक, कलाकार और साहित्यकार किसी अन्य देश में इतने थोड़े समय में उत्पन्न नहीं हुए। इन लोगों ने यूनान को प्रतिष्ठा के शिखर पर स्थापित कर दिया, जहाँ पर उनमें से कई की पताका आज भी गौरव के साथ फहरा रही है। मैं तो जब वर्तमान यूनान की बाबत पढ़ता हूँ, तो मेरी आँखों के सामने सुकरात, प्लेटो और अरस्तू का देश ही आता है।

जब हम यूनान के दर्शन की बाबत जिक्र करते हैं, तो हमारा अभिप्राय भूगोल-विषयक यूनान से नहीं होता, अपितु यूनानी जाति से होता है। यूनान एक छोटा-सा प्रदेश था। यहाँ के लोग निर्वाह के लिए, या अपनी स्थिति सुधारने के लिए, बाहर जाकर अपनी बस्तियाँ बनाते थे। ये बस्तियाँ भी यूनान या 'विशाल यूनान' का भाग ही समझी जाती थीं। इन बस्तियों में रहनेवाले भी सच्चे अर्थ में यूनानी ही रहते थे। जब हम यूनान के दर्शन की चर्चा करते हैं, तो वास्तव में हमारा अभिप्राय यूनानियों के दर्शन से ही होता है। तथ्य यह है कि दार्शनिक विचार का आरम्भ यूनान में नहीं, अपितु यूनान की बस्तियों में हुआ। सुकरात की बाबत कहा जाता

है कि वह दर्शन-शास्त्र को स्वर्ग से पृथ्वी पर ले आया। यह तो भक्ति की भाषा है। ऐतिहासिक तथ्य यह है कि सुकरात के बाद बस्तियों के स्थान में स्वयं यूनान दर्शन का वासस्थान बन गया।

2. यूनानी दर्शन के तीन भाग

यूनान के दर्शन को हम तीन भागों में बाँट सकते हैं। जैसे मनुष्य के जीवन में बाल्यावस्था, यौवन और बुढ़ापा ये तीन भाग होते हैं, वैसे ही हमें जातियों में भी तीन अवस्थाएँ दिखाई देती हैं। किसी जाति या देश को दृढ़ बनने में समय लगता है, और प्रतिष्ठा की अवस्था भी चिरकाल तक बनी नहीं रहती। यूनान के दर्शन में भी हम यही देखते हैं। पहला भाग बाल्यावस्था का था। इस काल में विचारकों का काम प्रकाश की खोज में यत्न करना भर था। सीखने में प्रथम स्थिति यही होती है—'परखो, परखो, और फिर परखो'। पहले भाग का यूनानी विचार अपनी प्रमुख समस्या के लिए कोई सन्तोषदायक समाधान ढूँढ़ता था; और यह स्वाभाविक ही था कि एक समाधान के बाद दूसरा, दूसरे के बाद तीसरा उनके सम्मुख आया। जो समाधान उन्होंने प्रस्तुत किये, उनकी अपने आपमें कीमत न भी हो, तो भी महत्त्व की बात यह है कि एक बड़ी समस्या उनके सम्मुख खड़ी हुई, और उन्होंने इसका समाधान ढूँढ़ने के लिए गम्भीर विचार करना आरम्भ किया। दर्शन-शास्त्र का प्रमुख काम प्रश्नों का खड़ा करना ही तो है।

ये आरम्भिक विचार दो बस्तियों में उत्पन्न हुए। इनमें एक बस्ती लघु एशिया के समुद्रतट का इलाका आइओनिस थी। इस बस्ती में 10 धनी और शक्ति-सम्पन्न नगर शामिल थे। दूसरी बस्ती इटली का दक्खिनी प्रदेश था, जिसे इलिया कहते थे। यूनानी दर्शन के प्रथम युग में दो प्रसिद्ध सम्प्रदाय हुए, और वे इन दोनों प्रदेशों के नाम पर ही 'आइओनियन' और 'इलियाटिक' सम्प्रदाय के नाम से विख्यात हैं। इन दोनों में 'आइओनियन' सम्प्रदाय पुराना है। पहले इसी की चर्चा करेंगे।

3. आइओनियन सम्प्रदाय

आइओनिया के विचारकों में तीन नाम प्रसिद्ध हैं। प्रथम नाम थेल्स (624–550 ईसवी पूर्व) का है। वह सर्वसम्मति से यूनानी दर्शन का पिता माना जाता

है। दूसरे दो नाम एनैक्सिमैंडर (611–547 ई० पू०) और एनैक्सिमिनिज़ (588–524 ई० पू०) के हैं।

प्रोफेसर मैक्समूलर ने कहा है कि जब कोई मनुष्य, जो वर्षों से दृष्ट जगत् को देखता रहा है, अचानक इसपर दृष्टि डालकर पुकार उठता है—'तुम क्या हो ?', तो समझो कि दार्शनिक जिज्ञासा उसके मन में पैदा हो गयी है। थेल्स भी दृष्ट जगत् को प्रतिदिन देखता था। अचानक उसके मन में प्रश्न उठा—'यह जगत् क्या है—कैसे बना है।' उसने प्राकृत जगत् में ही इसका समाधान ढूँढ़ना चाहा। वह समुद्र तट पर रहता था। प्रदेश के वासी खेती-बाड़ी का काम करते थे। ऐसे लोगों के लिए जल का जो महत्त्व है, वह स्पष्ट ही है। समुद्र में वे अनेक जन्तुओं को पैदा होते देखते थे; भूमि पर खाद्य पदार्थों को जल से पैदा होते देखते थे। सम्भवतः थेल्स यह भी देखता था कि जहाँ अनेक पदार्थ जल से उपजते हैं, वहाँ अनेक पदार्थ जल में पड़कर समाप्त भी हो जाते हैं। उसने जल को सारे प्राकृत जगत् का आदि और अन्त कहा। जो कुछ विद्यमान है, वह जल का विकास है, और अन्त में फिर जल में ही विलीन हो जायगा। जल पर जीवन का आधार है, परन्तु जीवित पदार्थों में अन्य अंश भी होते हैं, और जीवित पदार्थों के साथ निष्प्राण पदार्थ भी विद्यमान हैं। लोहा, सोना आदि धातु जल से इतने भिन्न हैं कि इन्हें जल के रूपान्तर समझना सम्भव नहीं। थेल्स इस कठिनाई को दूर नहीं कर सका।

एनैक्सिमैंडर ने अनुभव किया कि दृष्ट जगत् के पदार्थों में इतना भेद है कि उसे अस्वीकार नहीं किया जा सकता। जल या कोई अन्य अकेला पदार्थ भूमण्डल के अनेक भेदों तथा इसकी विविधता का समाधान नहीं कर सकता। जल स्वयं भी अपने समाधान की माँग करता है। एनैक्सिमैंडर ने थेल्स के समाधान को अमान्य कहा, परन्तु उसके मौलिक दृष्टिकोण को उसने अपनाया और प्राकृत जगत् के स्रोत को प्रकृति में ही देखा। अपनी मूल अवस्था में जो निश्चितता अब हम देखते हैं, वह विकास का फल है। मूल प्रकृति में किसी प्रकार का भेद नहीं, और इसकी कोई सीमा नहीं। यह अनन्त है। एनैक्सिमैंडर ने अनन्त के प्रत्यय को दर्शन में प्रविष्ट किया। उसके पीछे अनन्त और सान्त का भेद, और उनका आपस का सम्बन्ध एक स्थायी समस्या बन गया है। मूल कारण एक है; कार्य में यह अनेक, असंख्य रूप ग्रहण करता है। दार्शनिक प्रश्न ने 'एक और अनेक' का दूसरा रूप धारण कर लिया।

एनैक्सिमिनिज़ ने अव्यक्त को विकास का आरम्भ करने में असमर्थ पाया, और थेल्स की तरह, किसी विशेष तत्त्व में जगत् की उत्पत्ति का कारण देखना चाहा। उसने जल के स्थान में वायु को यह गौरव प्रदान किया। प्राकृत पदार्थों को हम तीन रूपों में देखते हैं—ठोस, तरल और वायव्य। कुर्सी ठोस पदार्थ है। इसके परमाणु एक दूसरे से गठित हैं; इसका आकार और परिमाण निश्चित है। तरल पदार्थ के अणु युक्त होते हैं, परन्तु गठित नहीं होते। ये एक दूसरे के साथ स्थान परिवर्तन कर सकते हैं। जल को जिस पात्र में डालें, उसी का रूप ग्रहण कर लेता है। इसका परिमाण तो निश्चित है; आकृति निश्चित नहीं। वायु के परमाणुओं में स्नेह बहुत कम है। एक बोतल में बन्द गैस, बोतल के खुलने पर, सारे कमरे में फैल जाती है। इसका परिमाण और आकृति दोनों अनिश्चित हैं; यह फैल भी जाती है और सिकुड़ भी जाती है। वायु की इस क्षमता ने एनैक्सिमिनिज़ का ध्यान बलपूर्वक आकर्षित किया, और उसे ख्याल आया कि उसने थेल्स और एनैक्सिमैंडर दोनों की कठिनाई दूर कर दी है। उसने वायु को दृष्ट जगत् का मूल कारण बताया। वायु जल से अधिक सक्रिय है और इसमें दृष्ट जगत् के भेदों का समाधान भी मौजूद है। प्राकृत पदार्थों का भेद वास्तव में इसी पर निर्भर है कि उनमें विरलता या पतलेपन की मात्रा कितनी है। विरलता के कम होने से गर्मी पैदा होती है; इसके बढ़ने से सर्दी पैदा होती है। जब वायु में विरलता बहुत बढ़ जाती है, तो यह अग्नि का रूप धारण कर लेती है। जब वायु, इस अग्नि को उड़ाकर बहुत ऊँचा ले जाती है, तो अग्नि तारों का रूप ग्रहण कर लेती है। घनी बनने पर, वायु पहले मेघ बनती है; फिर जल बनती है। अधिक घना होने पर जल पृथिवी और चट्टान बन जाता है। इस तरह सारा दृष्ट जगत् वायु के सूक्ष्म और सघन होने का परिणाम है।

तीनों विचारक जिनका ऊपर जिक्र हुआ है, एक ही प्रश्न का हल ढूँढ़ना चाहते थे, और तीनों ने यह निश्चय किया था कि वे इसके लिए प्राकृत जगत् से परे नहीं जायँगे। उन्हें जो हल सूझे, वे भिन्न-भिन्न थे; इस पर भी वे एक ही सम्प्रदाय में थे।

4. पाइथेगोरस और उसके साथी

आइओनिया के विचारकों ने दृष्ट जगत् के समाधान के लिए प्रकृति की शरण ली थी। प्रत्येक प्राकृतिक पदार्थ तौला मापा जा सकता है। किसी वस्तु को तौलने

मापने का अर्थ यही है कि उसमें किसी विशेष इकाई की संख्या निश्चित की जाय। हम कहते हैं—छड़ी तीन फुट लम्बी है; चार छटाँक भारी है। एक फुट में 12 इंच होते हैं और छटाँक में पाँच तोले होते हैं। जल और वायु जिन्हें थेल्स और एनैक्सिमिनिज़ ने जगत् का मूल कारण बताया था, तौले और मापे जा सकते हैं। संख्या इन दोनों से अधिक मौलिक है। हम ऐसे जगत् का चिन्तन कर सकते हैं, जिसमें रंग-रूप मौजूद न हो, परन्तु हम किसी ऐसे जगत् का चिन्तन नहीं कर सकते, जिसमें संख्या का अभाव हो। पाइथेगोरस (छठी शती ई० पू०) ने संख्या को विश्व का मूल तत्त्व बयान किया। जल, वायु आदि को हम देखते हैं, उन्हें छू भी सकते हैं। परन्तु संख्या किसी ज्ञानेन्द्रिय का विषय नहीं। इस तरह पाइथेगोरस ने एक अदृश्य, अस्पृश्य तत्त्व को मूल तत्त्व का स्थान देकर दार्शनिक विचार में एक नया अंश प्रविष्ट कर दिया।

'एक और अनेक' का विवाद भी दार्शनिकों के लिए एक जटिल प्रश्न था। पाइथेगोरस ने संख्या के एक और अनेक में समन्वय देखा। 1 इकाई है। कुछ इकाइयाँ एक साथ लिखें। यहाँ बहुत्व या अनेकत्व प्रकट हो जाता है। 5 की स्थिति क्या है? यह एक है, या बहुत? इसमें पाँच इकाइयाँ सम्मिलित हैं; इसलिए यह अनेक है। यह बिखरी हुई इकाइयों का समूह नहीं, अपितु एकत्व इसमें विद्यमान है। इस तरह संख्या में एक और अनेक का समन्वय है।

संसार में हम अनुरूपता, क्रम और सामञ्जस्य देखते हैं। यह सब संख्या से सम्बद्ध हैं। हम कहते हैं—'मनुष्य का शरीर सुडौल है; इसके अङ्गों में अनुरूपता है।' इसका अर्थ यही है कि इसके अङ्गों को विशेष संख्या से प्रकट किया जा सकता है। क्रम क्या है? हम कुछ पदार्थों को क्रम में रखते हैं। इसका अर्थ यह है कि जो अन्तर उनमें पाया जाता है, वह विशेष संख्या से व्यक्त किया जा सकता है। सामंजस्य का अच्छा उदाहरण राग में मिलता है, और राग का सम्बन्ध संख्या से स्पष्ट ही है। पाइथेगोरस का ख्याल था कि विश्व के अनेक भागों की गति में एक राग उत्पन्न होता है, और वह राग मानवी राग से पूर्णतया मिलता है। शेक्सपियर ने एक नाटक में इस ख्याल की ओर संकेत किया है—

'जैसिका! बैठो। देखो, आकाश में सोने के टुकड़े कैसे घने जुड़े हुए हैं; जिन तारों को तुम देखती हो, उनमें छोटे से छोटा तारा भी अपनी गति में देवदूत की तरह

गा रहा है; परन्तु हम इस जरा-ग्रस्त मिट्टी के वस्त्र में बन्द, वह दैवी राग सुन नहीं सकते ।'

इस समुदाय का एक और सिद्धान्त यह था कि सृष्टि और प्रलय का प्रवाह नित्य है, और छोटे से छोटे अंश में भी एक सृष्टि दूसरी सृष्टि को दुहराती है । नवीन काल में, जर्मनी के दार्शनिक नीत्शे ने भी इसी प्रकार का ख्याल ज़ाहिर किया है ।

5. इलिया का सम्प्रदाय

जैसा पहले कह चुके हैं, इलिया दक्खिनी इटली में यूनानियों की एक बस्ती थी । इलिया के सम्प्रदाय में दो नाम प्रमुख हैं—पार्मेनाइडिस और ज़ीनो ।

पार्मेनाइडिस (पाँचवीं शती ई० पू०) ने अपने विचार एक काव्य में लिखे । पुस्तक के दो भाग हैं । पहले भाग में उसके अपने सिद्धान्त का वर्णन है; दूसरे में अन्य मतों का खण्डन है । पहले भाग को 'सत्य-मार्ग' का नाम दिया है; दूसरे को 'सम्मति-मार्ग' कहा है । हम यहाँ पहले भाग की बावत ही कहेंगे ।

पार्मेनाइडिस ने ज़ीनोफ़ेनीज़ के एक कथन को अपने विचार की नींव बनाया । यह कथन था—'सब कुछ एक है' । जिन दार्शनिकों का हम जिक्र कर चुके हैं, उन्होंने बहुत्व या अनेकत्व से आरम्भ किया, और इस बहुत्व के नीचे एकता को देखना चाहा । इलिया के सम्प्रदाय ने पर्वत की पेंदी से ऊपर चढ़ने का यत्न नहीं किया; उन्होंने शिखर पर स्थित होकर आरम्भ किया । अन्य शब्दों में, उन्होंने एकता से आरम्भ किया, और इसके आधार पर बहुत्व के स्वरूप को समझना चाहा । उनके सिद्धान्त में प्रमुख प्रत्यय सत् और असत् का भेद है । वे इस परिणाम पर पहुँचे कि दृष्ट जगत् असत् है; भास मात्र है । भाव और अभाव, सत् और असत् में कोई मेल का बिन्दु नहीं; सत्-असत् से उत्पन्न नहीं हो सकता, न सत् असत् बन सकता है । जगत् का प्रवाह जो हमें दीखता है, माया है; इसमें सत् या भाव का कोई अंश नहीं ।

सत् का विवरण भावात्मक और निषेधात्मक दोनों प्रकार के शब्दों में किया गया है । सत् के लिए भूत, वर्तमान और भविष्य का भेद नहीं; यह नित्य है । यह अविभाज्य है, क्योंकि इसके अतिरिक्त कोई पदार्थ है ही नहीं; जो इसका विभाजन

कर सके। इसमें कोई परिवर्तन नहीं हो सकता, क्योंकि परिवर्तन तो असत् का लक्षण है। इसका अकेला भावात्मक गुण इसकी सत्ता है; यह 'इस' और 'उस' के भेद से परे है।

दृष्ट जगत् केवल भासता है; यह इन्द्रियों का विषय है। पश्चिमी दर्शन में, सबसे पहले पार्मेनाइडिस ने इन्द्रिय और बुद्धि के भेद पर जोर दिया।

ज़ीनो (465 ई० पू०) ने यह बताने का यत्न किया कि गति का कोई अस्तित्व नहीं। इसे स्वीकार करने पर हम अनेक कठिनाइयों में फँस जाते हैं। एकेलीज़ और कछुए की प्रसिद्ध पहेली ज़ीनो की कठिनाई को प्रकट करती है। एकेलीज़ बहुत तेज़ चलता है; कछुआ आहिस्ता चलता है। कछुआ दस गज़ एकेलीज़ से आगे है। क्या एकेलीज़ कभी कछुए को पकड़ सकता है? फर्ज़ करें कि एकेलीज़ एक मिनट में दस गज़ चलता है, और कछुआ एक गज़ चलता है। जहाँ कछुआ अब है, एकेलीज़ 1 मिनट में पहुँच जायगा, परन्तु कछुआ एक गज़ आगे निकल जायगा। जितने काल में एकेलीज़ यह अन्तर तै करेगा, कछुआ $\frac{1}{10}$ गज़ आगे निकल जायगा। अवकाश-भाजन की कोई सीमा नहीं, इसलिए दोनों का अन्तर कम होता जायगा, परन्तु शून्य कभी नहीं होगा। इसका अर्थ यह है कि कछुआ सदा एकेलीज़ से आगे ही रहेगा; एकेलीज़ उसे पकड़ नहीं सकता।

इस विवरण में, गति का अस्तित्व फर्ज़ करने में एक कठिनाई की ओर संकेत किया गया है। ज़ीनो यह भी कहता है कि गति की सम्भावना ही नहीं। हम कहते हैं कि तीर क से ख को जाता है। क और ख के मध्य में ग है। तीर को ख तक पहुँचने से पहले ग पर होना चाहिए। क और ग के मध्य में घ है। तीर को ग तक पहुँचने से पहले घ पर होना चाहिए। इसी तरह क और घ के मध्य में एक स्थान है, और यह क्रम कहीं समाप्त नहीं होता। तीर क से ख तक जाता नहीं; यह उनके बीच असंख्य स्थानों पर खड़ा होता है। उसका गति करना एक भ्रम है।

गणितज्ञ कहता है कि ज़ीनो को भ्रम हुआ : उसने समझा कि अनन्त पंक्ति के अंशों का योग भी अनन्त होता है। तथ्य यह है कि $1 + \frac{1}{10} + \frac{1}{100} + \cdots$ का योग अनन्त नहीं, अपितु 2 से भी कम है। ज़ीनो भी जानता था कि एकेलीज़ कछुए को पकड़ लेगा। उसका उद्देश्य एक कठिनाई की ओर संकेत करना था, हम समझ नहीं सकते कि अनन्त के अंशों का अन्त कैसे हो सकता है।

इसी कठिनाई की ओर, एक भिन्न दृष्टिकोण से, नवीन काल में बर्ट्रेण्ड रस्सल ने संकेत किया है। स्टर्न के उपन्यास में ट्रिस्ट्राय शैंडी ने अपना विस्तृत जीवन चरित लिखने का निश्चय किया। एक दिन का विवरण लिखने में उसे एक वर्ष लगा; दूसरे दिन का विवरण लिखने में एक वर्ष और लग गया। यदि शैंडी को अनन्त काल चरित लिखने के लिए मिले, तो वह अपना काम समाप्त कर सकेगा, या नहीं ?

एक दिन का विवरण लिखने में 365 दिन लगते हैं। अनन्त दिनों का विवरण लिखने में अनन्त $\times$ 365 दिन लगेंगे। गणित कहता है—

अनन्त $\times$ 365 = अनन्त
इसलिए जीवनचरित लिखा जा सकेगा।

अब दूसरी ओर से देखिये।

एक वर्ष के बाद, 364 दिनों का चरित्र लिखना बाकी रहता है।
दो वर्षों के बाद, 364 $\times$ 2 दिनों का बाकी रहता है।
अनन्त वर्षों के बाद, 364 $\times$ अनन्त दिनों का बाकी रहेगा।
अनन्त $\times$ 364 = अनन्त।

इसलिये, अनन्त काल का जीवन अन्त में भी लिखना रहेगा। इस कठिनाई के कारण, कई विचारक देश और काल के वस्तुगत अस्तित्व से ही इनकार करते हैं।

6. हिरैक्लिटस

हिरैक्लिटस (535–475 ई० पू०) का स्थान प्राचीन यूनानी विचारकों में बहुत ऊँचा है। वह लघु एशिया का रहनेवाला था। उसका जन्म एक अमीर घराने में हुआ; और उसकी मनोवृत्ति भी कुलीन वर्ग की मनोवृत्ति थी। वह अपने समय के विचारकों की बाबत समझता था कि उनमें बुद्धि थोड़ी है; और जो है, उसे पुस्तकों के पाठ ने नाकाम बना दिया है।

हिरैक्लिटस के सिद्धान्त को आइओनिया और इलिया दोनों के सम्बन्ध में देख सकते हैं। उसने अग्नि को जल और वायु, दोनों से बलिष्ठ और व्यापक देखा। द्यौलोक तो अग्नि का प्रकट रूप है ही; पृथिवी पर भी सारा जीवन अग्नि का

चमत्कार है। अग्नि विश्व का मूल तत्त्व है। मूल अग्नि अपने आपको वायु में परिवर्तित करती है; वायु जल बनती है, और जल पृथिवी का रूप ग्रहण करता है। यह 'नीचे की ओर का मार्ग' है। हम इसे विकास कह सकते हैं। इसके विपरीत 'ऊपर की ओर का मार्ग' है। इसमें पृथिवी जल में, जल वायु में, वायु अग्नि में बदलती हैं।

अग्नि ही जीवन और बुद्धि है; यह पदार्थों में जीवन और बोध का अंश है। किसी पदार्थ में अग्नि की मात्रा जितनी अधिक होगी, उतना ही उसमें जीवन अधिक होगा। जीवन की मात्रा पर ही गति का आधार है। प्रकाश की कमी और भारीपन पदार्थों को मृत्यु की ओर ले जाते हैं। मनुष्य की आत्मा भी अग्नि ही है; यह व्यापक आत्मा अग्नि का अंश है। सृष्टि अग्नि से प्रकट होती है और अन्त में अग्नि में ही विलीन हो जाती है।

इलिया के मत के अनुसार, सत् एकरस और नित्य है; बहुत्व और परिवर्तन आभास, छायामात्र हैं। हिरैक्लिटस दूसरी सीमा पर गया और उसने कहा कि सारी सत्ता प्रवाह की स्थिति में है। नित्यता हमारी कल्पना ही है। कोई मनुष्य एक ही नदी में दो बार कूद नहीं सकता। जब वह दूसरी बार कूदने लगता है, तो पहली नदी कहाँ है ? पहला जल कहीं नीचे जा पहुँचा है और नया जल ऊपर से वहाँ आ गया है, और कूदनेवाला भी तो बदल गया है। संसार में स्थिरता का कहीं पता नहीं चलता; अस्थिरता ही विद्यमान है।

इस विवरण से प्रतीत होता है कि एक अवस्था गुज़रती है और दूसरी उसका स्थान लेती है। हिरैक्लिटस इससे आगे जाता है और कहता है कि प्रत्येक अवस्था में भाव और अभाव का मेल है। यह मेल ही सत्ता का वास्तविक रूप है। हिरैक्लिटस ने विरोध को सत्ता का तत्त्व बताया। कवि होमर ने प्रार्थना की थी कि देवताओं में और मनुष्यों में संग्राम समाप्त हो जाय। इसके विरुद्ध, हिरैक्लिटस कहता है कि संग्राम के समाप्त होने पर तो सत्ता ही समाप्त हो जायगी। संग्राम से ही पदार्थों की उत्पत्ति होती है; और संग्राम से ही उनका विनाश होता है। जीवन और मृत्यु संयुक्त हैं। प्रतीत ऐसा होता है कि मनुष्य जन्म लेता है और कुछ समय बाद मरता है। तथ्य यह है कि प्रतिक्षण वह पैदा होता है और मरता है।

यह प्रवाह नियम के अनुकूल होता है। इस नियम के अनुसार, जहाँ भद्र है, वहाँ इसका प्रतिरूप अभद्र भी मौजूद है; सुख के साथ दुःख भी मिला है। कुछ लोग इस स्थिति को देखकर घबरा जाते हैं, परन्तु यह विरोध तो न्याय का तत्त्व है। हमारा काम यह है कि इस नियम को स्वीकार करें और सन्तुष्ट रहें।

व्यापक नियम की मौजूदगी में, क्या हम कुछ और कर भी सकते हैं ?

इलिया सम्प्रदाय ने इन्द्रियजन्य ज्ञान और बुद्धि में भेद किया था, और इस भेद के आधार पर दृष्ट जगत् को असत् कहा था। हिरैक्लिटस भी इस भेद को स्वीकार करता है, परन्तु वह इसके आधार पर विपरीत अनुमान पर पहुँचता है। वह कहता है कि ज्ञानेन्द्रियाँ हमें स्थिरता का अनुभव कराती हैं : हमें प्रतीत होता है कि हमारा शरीर, हमारा घर, घर का सामान स्थिर हैं। जब बुद्धि स्थिति की जाँच करती है, तो पता लगता है कि स्थिरता या नित्यता का तो अस्तित्व ही नहीं; जो कुछ है, क्षणिक है।

7. ल्युसिप्पस और डिमाक्राइटस

पार्मेनाइडिस ने कहा था कि सत् एकरस और नित्य है; दृष्ट जगत्, जिसमें बहुत्व और परिवर्तन इतने स्पष्ट हैं, आभास मात्र है। हिरैक्लिटस ने कहा कि दृष्ट प्रवाह ही अस्तित्व रखता है; इसके अतिरिक्त सत् कल्पना मात्र है। उन दोनों का प्रमुख विषय सत्ता का स्वरूप था। आइओनिया के विचारकों के सम्मुख दृष्ट जगत् के मूल कारण का प्रश्न था। जैसा हम देख चुके हैं, उनमें एक ने जल को, दूसरे ने वायु को, तीसरे ने अग्नि को मूल कारण बताया। तीनों इस बात में सहमत थे कि उनका चुना हुआ तत्त्व अन्य तत्त्वों में बदल सकता है। उनमें से कोई यह नहीं बता सका कि यह परिवर्तन कैसे हो सकता है।

ल्युसिप्पस (480 ई० पू०) ने इस गुत्थी को खोलना चाहा। उसने कहा कि जल, वायु, अग्नि और अन्य पदार्थ, जिन्हें हम देखते हैं, मिश्रित हैं। मूल तत्त्व जानने के लिए इनका विश्लेषण करना चाहिये। जहाँ हम इस विश्लेषण में आगे जा नहीं सकते, वहाँ हमें मूल तत्त्व मिलता है। यह मूल तत्त्व परमाणु है। हम इसे देख नहीं सकते; इसका विभाजन नहीं हो सकता; यह ठोस है। यह नित्य है। परमाणुओं के योग से सारे पदार्थ बनते हैं। इन परमाणुओं में मात्रा और आकृति

का भेद है। इस भेद के कारण उनकी गति भी एक समान नहीं होती। सारी क्रिया इस गति का फल है। गति के लिए अवकाश की आवश्यकता है। ल्युसिप्पस ने परमाणुओं के साथ शून्य अवकाश को भी मूल तत्त्व स्वीकार किया। पदार्थों में और अवकाश में भेद यह है कि पदार्थ अवकाश का भरा हुआ भाग है। इस भेद को दृष्टि में रखते हुए, विश्व अशून्य और शून्य में विभक्त किया गया। ल्युसिप्पस ने भी प्राकृत जगत् के समाधान के लिए किसी अप्राकृत तत्त्व या शक्ति का सहारा नहीं लिया। उसके मत में, जो कुछ होता है, प्राकृत नियम के अनुसार होता है; यहाँ किसी प्रयोजन का पता नहीं चलता।

डिमाक्राइटस (460–361 ई० पू०) ने ल्युसिप्पस के विचारों को स्वीकार किया। दोनों के अनुसार पदार्थों में गुणों का भेद उनके परमाणुओं के परिमाण, आकार, और स्थान पर निर्भर है। अग्नि समतल और गोल परमाणुओं से बनती है। जीवात्मा भी ऐसे ही परमाणुओं का संयोग है—ऐसे परमाणुओं का, जो अपूर्व मात्रा में विशुद्ध और सूक्ष्म हैं।

परमाणुवादियों के सम्मुख एक समस्या यह थी कि परमाणुओं में गति क्यों होती है। यह तो ठीक है कि अवकाश के अभाव में गति नहीं हो सकती; परन्तु इसका अर्थ यह नहीं कि अवकाश गति का कारण है। कुछ लोगों का ख्याल है कि ल्युसिप्पस और डिमाक्राइटस परिमाण और आकृति के साथ, भारीपन को भी परमाणुओं का गुण मानते थे। सभी परमाणु अपने भार के कारण नीचे की ओर गिरते हैं। बड़े परमाणु अधिक वेग से गिरते हैं, और छोटे परमाणुओं को ठुकराकर चक्कर में डाल देते हैं। उन्हें आकर्षण-नियम का ज्ञान न था। उनका यह विचार भी निर्मूल था कि भारी पदार्थ भारी होने के कारण हलके पदार्थ की अपेक्षा अधिक वेग से गिरता है।

जहाँ परमाणुवाद ने मूल प्राकृत तत्त्व का विवाद समाप्त किया, वहाँ उसने पार्मेनाइडिस और हिरैक्लिटस के मतों का समन्वय करने का भी यत्न किया। पार्मेनाइडिस एकरस, नित्य सत् में विश्वास करता था। परमाणुवादियों ने कहा कि परमाणु ऐसा ही सत् है। हिरैक्लिटस कहता था कि प्रवाह की सत्ता असंदिग्ध है। परमाणुवादियों ने कहा कि यह निरन्तर परिवर्तन परमाणुओं के संयोग-वियोग का परिणाम है। यन्त्रालय में टाइप पड़ा है। अक्षरों के भिन्न-भिन्न संयोग से अनेक लेख छपते हैं। एक प्रयोग के बाद अक्षरों का वियोग होता है, और उन्हें फिर नये शब्दों

और पदों में जोड़ा जाता है। इसी तरह परमाणुओं के भिन्न-भिन्न संयोग-वियोग से जगत् का प्रवाह बना रहता है।

8. एनैक्सेगोरस

जब हम यूनान के दर्शन का ध्यान करते हैं, तो एथेन्स हमारे सम्मुख आ जाता है। जिन विचारकों का अभी तक ज़िक्र हुआ है, वे यूनानी थे, परन्तु रहते यूनान के बाहर थे। पश्चिमी सभ्यता के इतिहास में, एनैक्सेगोरस (500–428 ई० पू०) का नाम विशेष महत्त्व का है, क्योंकि उसने एथेन्स को अपना निवास-स्थान बनाया। उस समय का एथेन्स मिथ्या विचारों में फँसा था, और एनैक्सेगोरस के स्वतन्त्र विचारों को सुनने के लिए तैयार न था। सूर्य और उससे भी अधिक चन्द्रमा के लिए लोगों में अगाध भक्ति का भाव था। एनैक्सेगोरस ने कहा कि सूर्य जलता हुआ पत्थर है, और चन्द्रमा मिट्टी का बना है। एनैक्सेगोरस पर देवनिन्दा का आरोप लगाया गया; वह दोषी ठहराया गया और उसे मृत्युदण्ड दिया गया। दण्ड मिलने से पहले ही, वह आँख बचाकर एथेन्स से भाग निकला, और अपनी जन्मभूमि लघु-एशिया में चला गया।

परमाणुवादियों की तरह, एनैक्सेगोरस भी निरपेक्ष उत्पत्ति और विनाश में विश्वास नहीं करता था। पदार्थों की उत्पत्ति परमाणुओं का संयोग है, उनका विनाश परमाणुओं का वियोग है। उसके विचार में, सारे परमाणु एक प्रकार के नहीं होते। सोने और मिट्टी के परमाणुओं में जाति-भेद है। इसका अर्थ यह है कि दृष्ट जगत् का मूल कारण असंख्य प्रकार के परमाणुओं की असीम मात्रा है। यह सामग्री आरम्भ में पूर्णतया व्यवस्था-विहीन थी। अब सोने, चाँदी, मिट्टी, जल आदि के परमाणु एक प्रकार के हैं; आरम्भ में ये सारे एक दूसरे से मिले थे। उस समय न सोना था, न मिट्टी थी। अव्यवस्थित दशा से व्यवस्था कैसे पैदा हुई? स्वयं परमाणुओं में तो ऐसी समझ की क्रिया की योग्यता न थी; यह क्रिया चेतन सत्ता की अध्यक्षता में हुई। इस चेतन सत्ता को एनैक्सेगोरस ने बुद्धि का नाम दिया। इस तरह एनैक्सेगोरस ने एक नये तत्त्व को प्रविष्ट किया। उससे पहले, विचारक व्यवस्था के क्रम की बावत ही सोचते रहे थे; एनैक्सेगोरस ने कहा कि क्रम और कारण में भेद है। क्रम इन्द्रियों का विषय है; कारण दृष्ट नहीं। क्रम जो कुछ भी हो, उसका अधिष्ठाता चेतन होता है। एनैक्सेगोरस ने पश्चिमी विवेचन में पहली बार चेतन और

अचेतन, जीव और प्रकृति के भेद को प्रविष्ट किया। यह भेद अत्यन्त महत्त्व का भेद था। इसका महत्त्व देखते हुए ही, पीछे अरस्तू ने कहा कि अन्धों में अकेला एनैक्सेगोरस ही देखनेवाला था। चेतन और अचेतन का भेद, एनैक्सेगोरस के बाद, कभी दार्शनिकों की दृष्टि से ओझल नहीं हुआ।

असमान परमाणुओं का वियोग और समान परमाणु का संयोग सम्पूर्ण नहीं हुआ; इसमें कुछ त्रुटि रह गयी। इसके फलस्वरूप सोने का कोई टुकड़ा विशुद्ध सोना नहीं; इसमें अन्य जाति या जातियों के परमाणु भी मिले हैं।

परमाणुवादियों ने परमाणुओं में परिमाण और आकृति का भेद किया था। साथ ही यह भी कहा था कि परमाणु ठोस हैं; कोई परमाणु किसी अन्य परमाणु को अपने अन्दर घुसने नहीं देता। परमाणुवादी विस्तार, आकृति और ठोसपन को ही प्रकृति के विशेषण मानते थे। रूप-रंग, गंध आदि गुणों को, जिन्हें आजकल अप्रधान गुण कहा जाता है, मानसिक अवस्थाओं का पद देते थे। एनैक्सेगोरस ने इस भेद को स्वीकार नहीं किया। वह उत्पत्ति में विश्वास नहीं करता था; इसलिए अप्रधान गुणों को प्रधान गुणों की क्रिया का फल स्वीकार नहीं कर सकता था। उसने दोनों प्रकार के गुणों को प्रकृति के अनादि गुण बताया।

एनैक्सेगोरस के साथ यूनानी दर्शन का प्रथम युग समाप्त होता है। वह दार्शनिक विचार को एथेन्स में ले गया और उसके बाद एथेन्स यूनान की सांस्कृतिक राजधानी बन गया। उसने व्यवस्था के समाधान के लिए बुद्धि या चेतना का आश्रय लेकर, दार्शनिक विवेचन को एक नये मार्ग पर डाल दिया, सूर्य, चन्द्र आदि के सम्बन्ध में उसके विचार प्लेटो और अरस्तू के विचारों से आगे बढ़े थे। वह अपने समय से बहुत पहले पैदा हुआ।

■

दूसरा परिच्छेद

साफिस्ट समुदाय और सुकरात

1. साफिस्ट समुदाय

1. प्राचीन यूनान की स्थिति

आजकल जब हम यूनान का ज़िक्र करते हैं, तो एक देश का ज़िक्र करते हैं, जिसमें अनेक नगर एक ही शासन में हैं। प्राचीन काल में स्थिति भिन्न थी। प्रत्येक नगर एक स्वतन्त्र राष्ट्र था। एथेन्स एक नगर-राष्ट्र था। इसमें 10–12 हज़ार नागरिक रहते थे; और इससे अधिक संख्या दासों की थी। नागरिकता के अधिकार स्वाधीन पुरुषों को प्राप्त थे; स्त्रियाँ और दास इनसे वञ्चित थे।

प्रत्येक नगर-राष्ट्र एक गणतन्त्र राज्य था। राष्ट्र छोटे थे; इसलिए प्रतिनिधित्व की प्रथा की आवश्यकता न थी। जब कोई निर्णय करना होता था, सारे बालिग नागरिक इकट्ठे हो जाते थे और निर्णय कर लेते थे। ऐसी स्थिति में दलबन्दी का जोर होना स्वाभाविक था। जहाँ प्रतिनिधित्व की प्रथा होती है, वहाँ प्रतिनिधि को याद रखना होता है कि वह सभा में जो कुछ कहता है, अपनी ओर से ही नहीं कहता; अन्य मनुष्यों की ओर से भी कहता है, जिन्होंने उसे यह अधिकार दिया है। जनतन्त्र का तत्त्व ही यह है कि संस्था में कोई मनुष्य अपनी वैयक्तिक स्थिति में काम नहीं करता। उसे दूसरों का हित अपने सम्मुख रखना होता है। जहाँ यह प्रथा न हो, प्रत्येक मनुष्य अपना ही प्रतिनिधित्व करता है, और साधारण हालतों में अपने हित का ही मुख्य ध्यान रखता है। प्राचीन एथेन्स में भी स्थिति ऐसी ही प्रतीत होती है। प्रत्येक नागरिक राजनीतिज्ञ और व्यवस्थापक था। सभा में जो निर्णय होते थे, वे उद्वेग के प्रभाव में होते थे। इतनी बड़ी सभा में गम्भीर विचार के लिए कोई स्थान नहीं हो सकता। 'नेता' जिधर चाहते थे, जनता को हाँक ले

जाते थे। सामाजिक जीवन में अव्यवस्था का राज्य था। उस समय के एक लेखक ने कहा है कि एथेन्स के लोग अपने घरों में अति चतुर किन्तु सामूहिक निर्णयों में अति बुद्धिहीन थे।

ऐसी दशा में कुछ युवकों को आगे बढ़ने की लालसा होती है। इसे पूरा करने के लिए, उस समय कोई स्कूल, कालेज तो था नहीं; कुछ लोगों ने इसे अपना पेशा बनाया। इन्हें साफिस्ट कहते थे।

2. साफिस्ट सम्प्रदाय

'साफिस्ट' का अर्थ बुद्धिमान्, मेधावी पुरुष है। ये लोग एक स्थान पर नहीं रहते थे; जहाँ अच्छी फीस देनेवाले शिष्य मिल जाते थे, वहाँ कुछ काल के लिए निवास कर लेते थे। इन्होंने पहले पहल शिक्षण को पेशा बनाया। आम लोगों की दृष्टि में विद्या का बेचना अच्छा काम न था, परन्तु इसमें कोई दोष भी न था। विविध विषय वे शिष्यों को पढ़ाते थे, परन्तु उनका मुख्य काम वाद-विवाद में चतुर बनाना था। आज एक युवक आया और उसने मद्यनिषेध पर बातचीत करने की इच्छा प्रकट की। शिक्षक ने उससे पूंछा कि तुम कौन पक्ष लोगे? जो पक्ष शिष्य नें लिया, उसके विरुद्ध शिक्षक ने लिया। दूसरे दिन एक अन्य शिष्य ने प्रतिपक्ष लिया और शिक्षक ने उसका विरोध किया। साफिस्टों का अपना कोई निश्चित सिद्धान्त न था। उनके वाद-विवाद से यही पता लगता था कि प्रत्येक धारणा के पक्ष में और उसके विरुद्ध भी युक्तियाँ दी जा सकती हैं। उनकी अपनी मनोवृत्ति भी यही बन गयी कि निश्चितता कहीं विद्यमान नहीं। पीछे यही उनका सिद्धान्त बन गया। इस समुदाय में दो नाम विशेष रूप में प्रसिद्ध हैं—प्रोटैगोरस और जार्जियस। उन्होंने साफिस्ट मनोवृत्ति को एक सिद्धान्त बना दिया।

प्रोटैगोरस

प्रोटैगोरस (480–411 ई० पू०) का एक विख्यात कथन उसका मत स्पष्ट शब्दों में प्रकट करता है—'मनुष्य सभी चीजों का माप है : जो कुछ है, उसके अस्तित्व के सम्बन्ध में और जो नहीं है, उसके अभाव के सम्बन्ध में वही निश्चय करता है।'

कौन मनुष्य? प्रोटैगोरस प्रतिष्ठा का यह पद प्रत्येक मनुष्य को देता है। इस धारणा पर कुछ विचार करें।

प्रोटैगोरस से पहले कुछ विचारकों ने इन्द्रियजन्य ज्ञान और बुद्धि में भेद किया था और कहा था कि वास्तव में बुद्धि ही ज्ञान दे सकती है। एक समद्विबाहु त्रिभुज को लें। कहा जाता है कि इसके दो कोण बराबर हैं। हम इसे देखते हैं, और हमें ऐसा ही दीखता है। हम एक ओर हटकर उसे एक नये स्थान से देखते हैं। अब वे दोनों कोण बराबर नहीं दीखते। हमारी स्थिति हमारे बोध को बदल देती है। हम जानना चाहते हैं कि तथ्य क्या है। बुद्धि युक्ति का प्रयोग करके बताती है कि ऐसे त्रिभुज में दो कोणों का बराबर होना अनिवार्य है। जो कुछ सत्य है, वह सब के लिए सत्य है, और उसे जानना बुद्धि का काम है। प्रोटैगोरस ने इस दावे को अस्वीकार किया और इन्द्रियजन्य ज्ञान के अतिरिक्त किसी अन्य प्रकार के ज्ञान को माना ही नहीं। हम सत्य और असत्य की बाबत व्यर्थ झगड़ते हैं; यहाँ मतभेद का अवकाश ही नहीं। जो कुछ मुझे प्रतीत होता है, वह मेरे लिए सत्य है; जो मेरे साथी को प्रतीत होता है, वह उसके लिए सत्य है। मिथ्या ज्ञान का अस्तित्व ही नहीं।

जीवन-व्यवहार में हम भले बुरे का भेद करते हैं। हम समझते हैं कि जो काम आदर्श के अनुकूल है, वह अच्छा है; जो काम आदर्श के प्रतिकूल है, वह बुरा है। और आदर्श सबके लिए एक ही है। प्रोटैगोरस कहता है कि आदर्श हमारे बाहर नहीं, हमारे अन्दर है; हममें से प्रत्येक के अन्दर है। जो कुछ मुझे भाता है, वह मेरे लिए अच्छा है; जो कुछ मेरे साथी को भाता है, वह उसके लिए अच्छा है। ऐसे शुभ की खोज करना जो सबके लिए शुभ है, समय खोना है। ऐसे शुभ का कोई अस्तित्व नहीं।

इस तरह, तत्त्व-ज्ञान और नीति दोनों में प्रोटैगोरस ने व्यक्तिवाद को मौलिक प्रत्यय बनाया। व्यापक सत्य और व्यापक भद्र का कोई अस्तित्व नहीं; क्षणिक बोध और क्षणिक भाव ही सब कुछ है।

जार्जियस

जार्जियस (427 ई० पू०) ने भी प्रोटैगोरस की तरह सत्य-ज्ञान की सम्भावना से इन्कार किया। उसने अपने विचार 'नेचर या अभाव' नाम की पुस्तक में प्रकट किये। प्रोटैगोरस की तरह उसने बुद्धि का तिरस्कार नहीं किया, अपितु, इसकी सहायता से तीन निम्नलिखित धारणाओं को सिद्ध करने का यत्न किया—

(1) किसी वस्तु की भी सत्ता नहीं ।

(2) यदि किसी वस्तु का अस्तित्व है, तो उसका ज्ञान हमारी पहुँच से बाहर है ।

(3) यदि ऐसे ज्ञान की सम्भावना है, तो कोई मनुष्य अपने ज्ञान को किसी दूसरे तक पहुँचा नहीं सकता ।

पहली धारणा के पक्ष में, जार्जियस ने ज़ीनो की युक्ति का प्रयोग किया । ज़ीनो ने कहा था कि गति के प्रत्यय में आन्तरिक विरोध है, इसलिए गति होती ही नहीं । जार्जियस ने कहा कि सारी सत्ता में आन्तरिक विरोध है, इसलिए सत्ता है ही नहीं । यदि किसी वस्तु का अस्तित्व है, तो इसका आरम्भ कभी होना चाहिये । इसकी उत्पत्ति सत् से हुई होगी या असत् से । यदि सत् से हुई, तो यह उत्पत्ति नहीं; सत् तो पहले ही विद्यमान था । असत् से कुछ उत्पन्न हो ही नहीं सकता । इसलिए कोई वस्तु भी सत्ता नहीं रखती ।

दूसरी धारणा तो साफिस्ट दृष्टिकोण का परिणाम है ही । सारा ज्ञान इन्द्रिय-जन्य ज्ञान है, और इन्द्रियाँ जो कुछ बताती हैं, उसमें भेद होता ही है ।

यदि सारा ज्ञान वैयक्तिक बोध है, तो यह एक से दूसरे तक पहुँच ही नहीं सकता ।

3. साफिस्ट सम्प्रदाय का महत्त्व

दर्शन के इतिहास में साफिस्ट सम्प्रदाय का महत्त्व क्या है ?

जैसा हम देख चुके हैं, यूनानी दर्शन के प्रथम भाग में विवेचन का विषय प्राकृत जगत् की उत्पत्ति था । विचारक जानना चाहते थे कि जगत् का मूल कारण क्या है । सब की दृष्टि बाहर की ओर लगी थी । साफिस्टों ने इस दृष्टिकोण को बदल दिया । उन्होंने बाह्य जगत् के स्थान में स्वयं मनुष्य को दार्शनिक विचार का केन्द्रीय विषय बनाया । एथेन्स के विचार में, मनुष्य ही दिलचस्पी का केन्द्र बना रहा । भूमण्डलविद्या का स्थान नीति और राजनीति ने ले लिया । नीति में प्रथा और रिवाज का स्थान प्रधान था; व्यक्ति की स्वतन्त्रता नाम मात्र थी । राजनीति में बहुमत का शासन था । प्रोटैगोरस का सारा यत्न इस स्थिति का विरोध करने के लिए था । उसने व्यक्ति के महत्त्व पर जोर दिया । उसकी भूल यह थी कि उसने बुद्धि का महत्त्व नहीं देखा । बुद्धि मनुष्यों को गठित करती है । समूह बेसमझी की क्रिया करते हैं,

क्योंकि वे बुद्धि के स्थान में उद्वेग के नेतृत्व में चलते हैं। हमारे लिए प्रोटैगोरस के विचारों की कीमत यह है कि उन्होंने सुकरात की तीव्र बुद्धि को इस प्रश्न पर लगा दिया।

एनैक्सेगोरस एथेन्स में आकर बसा था, परन्तु उसे अपने विचारों की उदारता के कारण वहाँ से भागना पड़ा। साफिस्ट एथेन्स के स्थायी वासी न थे; घूमते-घामते कभी वहाँ भी आ पहुँचते थे। सुकरात पहला बड़ा विचारक था जो एथेन्स में पैदा हुआ, और जिसने आयु का बड़ा भाग वहीं बिताया। यूनानी दर्शन सुकरात के साथ एथेन्स का दर्शन बन जाता है।

2. सुकरात

1. सुकरात के विविध रूप

सुकरात की बाबत हमारा ज्ञान प्राय: ज़ीनोफन और प्लेटो की पुस्तकों पर आधारित है। ज़ीनोफन ने सुकरात की बाबत अपने 'संस्मरण' लिखे। प्लेटो ने अपनी पुस्तकें संवादों के रूप में लिखीं, और उनमें प्रमुख वक्ता सुकरात को बनाया; स्वयं प्लेटो का नाम तो कहीं-कहीं आता है। प्लेटो सुकरात का अनन्य भक्त था। उसे जो कुछ कहना था, वह उसने सुकरात की जिह्वा से कहलवाया। इसका परिणाम यह है कि हम सुकरात और प्लेटो के विचारों को ऐसा मिला-जुला पाते हैं कि उन्हें अलग करना कठिन है। कहीं-कहीं ज़ीनोफन और प्लेटो के मत सुकरात से भिन्न भी हैं। इन दोनों के अतिरिक्त कुछ लोगों की सम्मति में एक तीसरा सुकरात—ऐतिहासिक सुकरात—भी है, जो भक्तों की आदर्श चरित्रता के असर से बचा हुआ है।

सुकरात के समय में एथेन्स में कुछ विचारक प्रकृतिवाद के प्रभाव में थे। वे प्राकृत घटनाओं को प्राकृत घटनाओं पर आधारित करते थे। आम लोग इन्हें देवताओं की क्रिया समझते थे। प्रकृतिवादी दार्शनिक आम लोगों के धार्मिक विचारों को अनिश्चित कर रहे थे; साफिस्ट उनके नैतिक विचारों पर आघात करते थे। सुकरात का काम धर्म और नीति दोनों को सुरक्षित करना था; परन्तु उसका कहने का ढंग ऐसा था कि बहुतेरे लोग उसे धर्म और नीति दोनों का घातक समझते

थे। एरिस्टोफेनीज़ ने अपने एक नाटक में, प्रकृतिवादी दार्शनिक और साफिस्ट दोनों के हास्यजनक चित्रों को मिलाकर, सुकरात के रूप में पेश किया है।

इन भेदों के होने पर भी, हमें सुकरात के जीवन और विचारों की बावत पर्याप्त जानकारी प्राप्त है। एक विशेष बात यह है कि ज़ीनोफन और प्लेटो दोनों ने वृद्ध सुकरात की बावत ही कहा है; उसके जीवन के पहले भाग के सम्बन्ध में बहुत कम बातें मालूम हैं।

2. सुकरात का जीवन

सुकरात (469–399 ई० पू०) एथेन्स में पैदा हुआ। उसका पिता मूर्तिकार था और माता दाई का काम करती थी। उसके पिता ने चाहा कि सुकरात भी मूर्तिकार का काम करे। उसने यह काम आरम्भ किया, परन्तु शीघ्र ही छोड़ दिया। तीन बार उसे एथेन्स की सेना में बाहर जाना पड़ा; इसके अतिरिक्त उसने सारा समय दर्शन को भेंट कर दिया। वह समझता था कि उसके लिए यही जीवन का कार्य निश्चित किया गया है। वह कहता है कि पिता के पेशे से उसने माता के पेशे को अधिक पसन्द किया और इसे ही अपनाया। दाई का काम बच्चे को जन्म देना नहीं, अपितु भावी माता को बच्चा जनने में सहायता देना है। सुकरात ने कोई लेख नहीं छोड़ा; उसकी शिक्षा मौखिक होती थी। और वह तो इसे शिक्षा समझता ही न था; वह युवकों को संवाद में लगा देता था; आप भी उसमें सम्मिलित हो जाता था, इस आशय से कि बातचीत में विषय के विविध पहलू सामने आ जायँगे, और अन्त में हर एक उसे नये प्रकाश में देखने लगेगा। इन संवादों में सुकरात का प्रमुख काम वृत्त, न्याय, संयम, ज्ञान आदि प्रत्ययों की जाँच करना था। वह अनजान जिज्ञासु की स्थिति में आरम्भ करता था और थोड़ी देर में दूसरों को पता लग जाता था कि उनके विचार भी अस्पष्ट हैं। इस शैली के चुनाव के सम्बन्ध में प्लेटो ने अपनी पुस्तक 'प्रत्युत्तर' में सुकरात के मुँह से निम्न शब्द कहलाये हैं—

"चेरिफ़ॉन डेल्फ़ाई में गया, और वहाँ आकाशवाणी से पूछा कि क्या हममें कोई पुरुष मुझसे अधिक बुद्धिमान् है। पुजारिन ने उत्तर दिया—'कोई नहीं'। जब मैंने इस उत्तर की बावत सुना, तो मैंने अपने आपसे पूछा—इस कथन से देवता का क्या अभिप्राय हो सकता है? मुझे तो कभी ख्याल नहीं आया कि मैं किसी छोटी या बड़ी बात में चतुर हूँ। देवता मुझे सबसे सयाना कहता है; इसमें उसका अभिप्राय क्या है?

देवता तो असत्य कह नहीं सकता। चिरकाल तक मैं देवता का अभिप्राय समझने का यत्न करता रहा। अन्त में मैंने निश्चय किया कि एक पुरुष के पास, जो बुद्धिमत्ता में प्रसिद्ध था, जाऊँ। वहाँ सम्भवतः मुझे देवता के कथन का निषेध मिल जायगा। जब मैंने उससे बातचीत की तो मुझे ख्याल आया कि यह पुरुष दूसरों की दृष्टि में, और उनसे भी अधिक अपनी दृष्टि में, बुद्धिमान् है, परन्तु वास्तव में बुद्धिमान नहीं। मैंने उसे बताने का यत्न किया कि वह अपने आपको बुद्धिमान् समझता था, परन्तु यह उसका भ्रम था। वह बहुत रुष्ट हुआ; और लोग जो बातचीत सुन रहे थे, वे भी रुष्ट हुए। मैं वहाँ से उठकर चला गया, और मुझे ख्याल आया—"इस पुरुष से तो मैं कुछ अधिक ही जानता हूँ। सम्भवतः हम दोनों में से किसी को भी सौन्दर्य या भद्र का ज्ञान नहीं; परन्तु वह न जानता हुआ भी समझता है कि वह जानता है; मैं नहीं जानता, परन्तु यह ख्याल भी तो नहीं करता कि मैं जानता हूँ। इस बात में मैं इस पुरुष से अधिक ज्ञानवान् हूँ कि जिन चीजों की बाबत मैं नहीं जानता, उनकी बाबत अपने आपको ज्ञानवान् नहीं समझता।"

सुकरात प्रातः घर से निकल पड़ता था और मंडी में या कहीं और, जहाँ मनुष्यों का जमघट होता था, पहुँच जाता था। वहाँ जो कोई भी उससे वार्ता करना चाहता था, सुकरात को उद्यत पाता था। कुछ लोग तो प्रतिदिन उसकी प्रतीक्षा में रहते थे। जिन युवकों के साथ सुकरात बातचीत करता था, उनमें छानबीन की प्रवृत्ति प्रस्फुटित हो उठती थी। यह अच्छा था, परन्तु उन्हें यह भी सूझने लगता था कि आम लोगों में ही नहीं, पढ़े-लिखों में भी अज्ञान की मात्रा बहुत है। वे भी सुकरात की जिरह का उदार प्रयोग करते थे। उनके इस व्यवहार ने सुकरात के बहुतेरे शत्रु खड़े कर दिये। सुकरात साफिस्टों से बहुत दूर था, परन्तु बहुतेरे उसे साफिस्ट के रूप में ही देखते थे। जिन देवताओं को एथेन्सवासी मानते थे, उनमें उसकी श्रद्धा न थी। वह समझता था कि कठिनाइयों में उसे एक दैवी शक्ति से सहायता मिलती है। इस शक्ति को वह 'आन्तरिक आवाज' कहता था। इसीलिए लोग कहते थे कि उसने अपने लिए नये देवता बना लिये हैं।

3. मुकदमा और मृत्यु

70 वर्ष की उम्र में सुकरात पर आरोप लगाया गया कि (1) वह राष्ट्र के देवताओं को नहीं मानता, (2) वह नये देवताओं में विश्वास करता है, (3) उसने एथेन्स

के युवकों का आचार बिगाड़ दिया है। जिस अदालत में मुकदमा पेश हुआ, वह अद्‌भुत अदालत थी। 501 एथेन्सवासी मुकदमा सुनने के लिए बैठे। तीन पुरुषों ने उसपर दोष लगाये, और प्रचलित प्रथा के अनुसार सुझाव दिया कि उसे मृत्यु-दण्ड दिया जाय। सुकरात ने अपनी सफाई पेश की। उसके लिए यह मार्ग खुला था कि एथेन्स छोड़कर अन्यत्र चला जाय, परन्तु उसने ऐसा करना उचित नहीं समझा। यह भी एक उपाय था कि आगे के लिए अपनी जवान बन्द रखने का वचन दे, और दण्ड से बच रहे। उसने इसे भी उचित नहीं समझा। बहुमत ने उसे दोषी ठहराया, और मृत्यु का दण्ड दिया।

सुकरात ने दण्ड की आज्ञा शान्ति से सुनी, और न्यायाधीशों से कहा—

'निर्णय करनेवालो! तुम्हें भी मृत्यु को साहस के साथ स्वीकार करना चाहिये, और समझना चाहिये कि एक भले पुरुष पर न जीवन में और न मृत्यु के बाद ही, कोई आपत्ति आ सकती है। देवता उसके भाग्य की ओर से उदासीन नहीं होते। जो दण्ड आज मुझे दिया गया है, वह इत्तिफाक का परिणाम नहीं, मेरा विश्वास है कि मेरे लिए अब मरना और क्लेश से मुक्त होना ही अच्छा था। यही कारण है कि मेरे मार्ग-प्रदर्शक 'चिह्न' ने मुझे बच निकलने की प्रेरणा नहीं की। मैं न आरोप लगानेवालों से रुष्ट हूँ, न दोषी ठहरानेवालों पर कुपित हूँ।...अब समय आ गया है कि हम लोग यहाँ से चल दें—मैं मरने के लिए, और तुम जीने के लिए; परन्तु यह परमात्मा ही जानता है कि जीवन और मृत्यु में कौन श्रेष्ठ है।' सुकरात को विष देकर समाप्त करने का निश्चय हुआ था। जिस दिन उसे विष दिया जाना था, प्रातः ही उसके कुछ शिष्य उससे मिलने कारागार में पहुँचे। उन्होंने सुकरात को गाढ़ी नींद में खुर्राटे लेते पाया। नियत समय पर कर्मचारी विष का प्याला लाया। सुकरात ने पूछा—'क्या मैं इसमें से थोड़ा सा देवता की वलि दे सकता हूँ?' कर्मचारी ने कहा—'यह तो तुम्हारे पीने के लिए ही पूरी मात्रा में तैयार किया गया है।' सुकरात ने विष पी लिया। थोड़ी देर में एथेन्स एक महापुरुष से वंचित हो गया। सुकरात की मृत्यु उतनी ही शानदार थी जितना शानदार उसका जीवन था।

4. सुकरात की शिक्षा

सुकरात मुख्य रूप में जिज्ञासु था। उसने अपनी आयु सत्य की खोज में लगा दी। जिज्ञासा के लिए लालसा और श्रद्धा पैदा करना उसका मुख्य काम था। साफिस्ट का

अर्थ बुद्धिमान् है। सुकरात ने अपने आपको इन लोगों से अलगाने के लिए अपने लिए 'फिलासोफर' अर्थात् ज्ञानप्रेमी का नाम चुना। यह नाम नम्रता का सूचक था। उसने किसी सम्प्रदाय की स्थापना नहीं की; वह तो चाहता था कि प्रत्येक व्यक्ति स्वयं सत्य की खोज करे। इसपर भी सुकरात का पद दर्शन के इतिहास में बहुत ऊँचा है।

सुकरात बहुधा नीति विषयक चर्चा किया करता था। नैतिक प्रत्ययों को स्पष्ट करने के लिए वह एक विशेष शैली का प्रयोग करता था। इस शैली ने विवेचन में एक नया मार्ग प्रस्तुत किया। हम यहाँ तर्क और नीति के सम्बन्ध में उसकी शिक्षा को देखेंगे।

तर्क

साफिस्ट सम्प्रदायों ने मनुष्य को दार्शनिक विवेचन का केन्द्र बनाया था। सुकरात इसमें उनसे सहमत था। वह नैतिक प्रश्नों को प्रमुख प्रश्न समझता था; परन्तु जहाँ साफिस्ट विचार सत्य को व्यक्ति की प्रतीति और भद्र को उसकी पसन्द में देखता था, वहाँ सुकरात ने इन्हें वास्तविकता की नींव पर स्थापित किया। ज्ञान के कई स्तर हैं। मैं एक घोड़े को देखता हूँ। उसका कद विशेष कद है; उसका रंग विशेष रंग है। उसकी विशेपताओं के कारण मैं उसे अन्य घोड़ों से अलग करता हूँ। मेरा ज्ञान इन्द्रिय-जन्य ज्ञान है; और यह ज्ञान किसी विशेष पदार्थ का बोध है। जिस घोड़े को मैंने देखा है, उसके न मौजूद होने पर भी उसका चित्र मेरी मानसिक दृष्टि में आ जाता है। किसी विशेष घोड़े को देखने या उसका मानसिक चित्र बनाने के अतिरिक्त मेरे लिए यह भी सम्भव है कि मैं घोड़े का चिन्तन करूँ। ऐसे चिन्तन में, किसी विशेष रंग का ध्यान नहीं करता, क्योंकि यह रंग सभी घोड़ों का रंग नहीं। मैं ऐसे विशेषणों का ध्यान करता हूँ, जो सभी घोड़ों में पाये जाते हैं, और सब के सब किसी अन्य पशु-जाति में नहीं मिलते। ऐसे चिन्तन का उद्देश्य घोड़े का प्रत्यय निश्चित करना है। ऐसे प्रत्यय को शब्दों में व्यक्त करना घोड़े का लक्षण करना है। सुकरात का प्रमुख काम प्रत्ययों का स्पष्टीकरण था। सदाचार क्या है? दूरदर्शिता क्या है? न्याय क्या है? इन विषयों पर ही वह कहता और सुनता रहता था। वह प्रत्यय या लक्षण का जन्मदाता है। लक्षण का ज्ञान कैसे प्राप्त होता है? इसका एक ही उपाय है—घोड़े के प्रत्यय को निश्चित करने के लिए हम अनेक घोड़ों को देखते हैं, और उनके

असमान गुणों को एक ओर रखकर, समान गुणों पर ध्यान केन्द्रित करते हैं। न्याय का लक्षण करने के लिए ऐसे विविध कर्मों का चिन्तन करते हैं, जिन्हें न्याययुक्त स्वीकार किया जाता है। इस क्रम को तर्कशास्त्र में आगमन कहते हैं। जैसा अरस्तू ने कहा था, 'सुकरात लक्षण और आगमन दोनों का जन्मदाता है, और इसलिए उसका स्थान चोटी के दार्शनिकों में है।'

नीति

सुकरात के विचारों में नीति का स्थान प्रमुख था। साफिस्ट विचार के अनुसार जो कुछ मेरे लिए सुखद है, वह मेरे लिए भद्र है; जो मेरे पड़ोसी के लिए सुखद है, वह उसके लिए भद्र है। इसके विरुद्ध सुकरात ने भद्र और अभद्र की नींव बुद्धि पर रखी। जो भद्र है, वह सबके लिए भद्र है; जो अभद्र है, वह सबके लिए अभद्र है। यहाँ व्यक्ति की पसन्द नापसन्द का कोई महत्त्व नहीं। सुकरात ने यही नहीं कहा कि सदाचार ज्ञान पर आधारित है, अपितु यह भी कि वृत्त ज्ञान ही है। इस धारणा के अन्तर्गत दो बातें आती हैं—

(1) जिस पुरुष को भद्र का ज्ञान न हो, वह भद्र कर ही नहीं सकता। न्याय वही कर सकता है, जिसे न्याय के स्वरूप का ज्ञान हो। (2) जिस पुरुष को भद्र का ज्ञान हो, उसके लिए सम्भव ही नहीं कि वह भद्र न करे। कोई मनुष्य जान-बूझकर बुरा काम नहीं करता। सुकरात के पहले विचार से सभी सहमत होंगे, परन्तु दूसरा विचार मानने में बहुतेरे लोगों को कठिनाई होती है। अरस्तू ने कहा कि सुकरात अपनी स्थिति देखकर इस परिणाम पर पहुँचा। उसके अपने जीवन में बुद्धि का शासन था; बुद्धि की मौजूदगी में आदत या उद्वेग उसे ठीक मार्ग से भटका नहीं सकते थे। परन्तु साधारण मनुष्यों की हालत में तो बुद्धि की स्थिति इतनी प्रबल नहीं होती। वे भद्र को देखते हुए भी उद्वेग, आदत या संगति के प्रभाव में, अभद्र करते हैं। सुकरात ने मानव प्रकृति में बुद्धि के अतिरिक्त अन्य अंशों की ओर पर्याप्त ध्यान नहीं दिया। बहुतेरे लोग अरस्तू की आलोचना को प्रबल समझते हैं, परन्तु सुकरात के पक्ष में भी कुछ बातें कही जा सकती हैं।

(1) जब कोई पुरुष रिश्वत लेता है, तो वास्तव में वह नहीं जानता कि रिश्वत लेना बुरा है। अन्य पुरुषों के साथ वह भी कह देता है कि यह बुरा काम है; परन्तु बुद्धि के प्रयोग से उसने इसका निश्चय नहीं किया। ज्ञान तो अलग रहा, शायद यह उसकी अपनी सम्मति भी नहीं।

(2) यदि वह जानता भी है कि रिश्वत लेना बुरा काम है, तो रिश्वत लेते समय इसके भला-बुरा होने की बाबत उसे ध्यान ही नहीं आता। वह आवश्यकता में या स्थिति के अन्य पहलुओं में इतना विलीन है कि उसे काम को नैतिक दृष्टि से देखने का अवकाश ही नहीं मिलता। वह बुद्धि के आदेश की अवहेलना नहीं करता; बुद्धि तो वहाँ उपस्थित ही नहीं रहती।

(3) उस मनुष्य को सामान्य धारणा के तौर पर यह ज्ञान तो है कि रिश्वत लेना बुरा है, परन्तु वह ख्याल करता है कि उसकी वर्तमान स्थिति ऐसी विशेष स्थिति है कि उसपर सामान्य नियम लागू नहीं होता। उसकी स्त्री बीमार पड़ी है; उसके बच्चों के पास पहनने के वस्त्र नहीं। अतः वह कहता है कि नियम मनुष्यों के लिए बनते हैं; मनुष्य नियमों के लिए नहीं बनते।

वृत्त के सम्बन्ध में सुकरात ने यह भी कहा कि वृत्त एक ही है। हम अक्सर वृत्तों का जिक्र करते हैं—सत्य-भाषण, न्याय, साहस, संयम, आदि। सुकरात कहता है कि ये विविध वृत्त नहीं; एक ही वृत्त के विविध रूप हैं। वास्तव में सदाचार सत्य ज्ञान ही है। जब हम किसी पुरुष को साहसी कहते हैं, तो हमारा अर्थ प्रायः यही होता है कि वह पुरुष आपत्ति आने पर यह निश्चय कर सकता है कि उसे कितनी शक्ति का और किस रूप में प्रयोग करना चाहिये। इस निश्चय के करने पर प्रयोग तो आप ही हो जाता है। इस निश्चय के अभाव में उसका काम वास्तव में साहस होता ही नहीं।

सुकरात ने सदाचार और ज्ञान को एकरूप बताया। इसका अर्थ यह है कि अन्य विद्याओं की तरह सदाचार भी पढ़ाया सिखाया जा सकता है। यह ठीक प्रतीत नहीं होता। व्यक्ति का आचार बनाने में कई कारण काम करते हैं। कुछ भाग उसके माता-पिता की देन होता है; कुछ वातावरण का प्रभाव होता है; इनसे अधिक महत्त्व उसके अपने यत्न का है। दूसरों की शिक्षा अर्थहीन नहीं; परन्तु आम अनुभव यही कहता है कि हम दूसरों से आचार सीखने की अपेक्षा ग्रहण करते हैं।

पश्चिमी दर्शन और पश्चिमी सभ्यता को सुकरात की सबसे बड़ी देन उसके जगद्विख्यात शिष्य प्लेटो के रूप में मिली।

तीसरा परिच्छेद

प्लेटो

1. जीवन की झलक

कवियों में जो गौरव का स्थान शेक्सपियर को प्राप्त है, वही दार्शनिकों में प्लेटो को प्राप्त है। वर्ड्स्वर्थ ने उसे यूनान का सबसे बड़ा बुद्धिमान् कहा। मैकाले ने इस प्रशंसा में यूनान की ओर संकेत करना अनावश्यक समझा; उसकी सम्मति में प्लेटो से बड़ा मेधावी पुरुष अभी तक पैदा ही नहीं हुआ। इमर्सन ने प्लेटो के प्रति अपनी श्रद्धा इन शब्दों में प्रकट की–'प्लेटो तत्त्व-ज्ञान है, और तत्त्व-ज्ञान प्लेटो है।'

प्लेटो (427–347 ई० पू०) एक अमीर घराने में एथेन्स में पैदा हुआ। कहते हैं, माता की ओर से प्रसिद्ध व्यवस्थापक सोलन का रक्त उसकी नाड़ियों में बहता था; पिता की ओर से वह एथेन्स के अन्तिम राजा काड्रस के वंश में से था। उसका पालन-पोषण अमीरों की तरह हुआ; उसका स्वभाव भी रईसों का स्वभाव था। उसका स्वास्थ्य बहुत अच्छा था और आकृति सुन्दर थी। व्यायाम में निपुण होने के कारण उसे कई इनाम मिले। सेना में भी उसने काम किया। किसी अच्छे घराने के युवक को जो शिक्षा उस समय मिल सकती थी, उसने प्राप्त की। इस शिक्षा में व्याकरण, संगीत और व्यायाम प्रमुख थे। उसका अध्यापक हिरैक्लिटस का अनुयायी था। सम्भवतः उसने प्लेटो को हिरैक्लिटस के सिद्धान्त की बाबत ज्ञान दिया होगा।

बीस वर्ष की उम्र में प्लेटो सुकरात के सम्पर्क में आया, और उसपर ऐसा मुग्ध हुआ कि अपने व्यक्तित्व को उसमें विलीन कर दिया, और तत्त्व-ज्ञान को जीवन का प्रिय विषय बना लिया।

प्लेटो की प्रकृति और रहन-सहन के आदमी के लिए यह चुनाव असाधारण था। राजनीति उसके लिए स्वाभाविक व्यवसाय होती, परन्तु हालत ने उसे उधर जाने की अनुमति नहीं दी। प्लेटो का यौवनकाल एथेन्स की गिरावट का समय था। स्पार्टा

उन्नति के शिखर पर था, और मैसेडोनिया उठ रहा था। पैलापोनियन युद्ध ने एथेन्स को राजनीतिक शक्ति के रूप में समाप्त कर दिया। प्रजातन्त्र राज्य के स्थान में शिष्ट जन राज्य फिर स्थापित हुआ। तीस क्रूर शासकों के हाथ में सारे अधिकार आ गये। उनमें दो प्लेटो के निकट सम्बन्धी थे और दोनों उसकी तरह सुकरात के शिष्य रह चुके थे। सुकरात के प्रति उनके व्यवहार ने प्लेटो के मन में विराग पैदा कर दिया। पीछे जब फिर प्रजातन्त्र राज्य स्थापित हुआ तो उसने सुकरात की हत्या से अपने आप-को सदा के लिए कलंकित कर लिया। ऐसी स्थिति में प्लेटो ने यही देखा कि उसके लिए राजनीति में कोई स्थान न था।

प्लेटो 20 वर्ष की अवस्था में सुकरात के सम्पर्क में आया और 8 वर्ष तक उसके साथ संयुक्त रहा। 399 ई० में सुकरात का देहान्त हुआ। इसके साथ प्लेटो के जीवन का दूसरा भाग आरम्भ होता है। वह विदेश-यात्रा के लिए एथेन्स से निकला, और अन्य स्थानों के अतिरिक्त, मेगारा, मिस्र, तथा इटली में उसने पर्याप्त समय गुजारा। कुछ लोग तो कहते हैं कि भारत में भी वह आया। मिस्र में उसे एथेन्स की हीनता का गहरा और दुःखद अनुभव हुआ। मेगारा में उसने अपने मित्र और सहपाठी यूक्लिड के प्रभाव में पार्मेनाइडिस के सिद्धान्त का अध्ययन किया। इटली में वह पाइथेगोरस के अनुयायियों के सम्पर्क में आया। इस सम्पर्क का प्रभाव उसके लेखों में स्पष्ट दिखाई देता है।

10 वर्ष की विदेश-यात्रा के बाद, प्लेटो एथेन्स वापस आया और वहाँ दर्शन शास्त्र के अध्यापन के लिए अपनी जगद्विख्यात पाठशाला, अकेडिमी, स्थापित की। यह काम जीवन के अन्त तक, लगभग 40 वर्ष तक, होता रहा। यह प्लेटो के जीवन का तीसरा भाग था।

प्लेटो ने तत्त्व-ज्ञान के अध्ययन और अध्यापन की प्रेरणा सुकरात से प्राप्त की थी। गुरु और शिष्य के रहन-सहन और शिक्षण-विधि में बहुत भेद था। सुकरात ने कभी अपने निजी कामों की ओर ध्यान नहीं दिया; इसलिए उसका जीवन एक दरिद्र नाग-रिक का जीवन था। उसके कपड़े मैले और पुराने होते थे; जब कभी कोई उसे कोट और जूता पहने देखता, तो आश्चर्य में इसका कारण पूछता। अपने मुकदमे के बाद जब उससे पूछा गया कि वह अपने लिए क्या दण्ड उचित समझता है, तो उसने कहा कि यदि दण्ड जुर्माने के रूप में हो, तो वह एक प्रचलित मुद्रा दे सकेगा। मृत्यु से पहले, अन्तिम शब्द जो उसने क्राइटो से कहे, ये थे—'क्राइटो! हमें एस्क्युलेपियस का एक मुर्गा देना है;

उसका मूल्य दे देना, भूलना नहीं ।' यह सुकरात की आर्थिक स्थिति थी । प्लेटो एथेन्स के धनी पुरुषों में था । सुकरात सामान्य जनता में से एक था, और साधारण मनुष्यों में अपना समय व्यतीत करता था । प्लेटो उच्च वर्ग का था और साधारण पुरुषों से अलग-अलग रहता था । यह भेद दोनों की शिक्षाप्रणाली में भी व्यक्त हुआ । सुकरात प्रतिदिन मंडी में या स्थानों पर जहाँ जमघट होता था, पहुँच जाता था, और जो कोई भी, जिस किसी विषय पर, उसके साथ बातचीत करना चाहता था, कर सकता था । प्लेटो ने निश्चय किया कि वह शिष्यों की तलाश में नहीं जायगा; जिसे सीखने की अभिलाषा होगी, उसके पास आ पहुँचेगा । सुकरात की शिक्षा न निश्चित शिष्यों के लिए थी, न निश्चित विषयों तक सीमित थी । प्लेटो ने अपने काम के लिए एक पाठशाला स्थापित की । इसका महत्त्वपूर्ण परिणाम यह हुआ कि जहाँ प्लेटो से पहले कुछ लोगों ने दार्शनिक विचार प्रस्तुत किये थे, वहाँ प्लेटो यूनान का प्रथम दर्शनकार था । प्लेटो के साथ, दार्शनिक विवेचन अध्ययन का एक विशेष विषय बन गया । दर्शन के इतिहास में, यह एक नये युग का आरम्भ था ।

2. प्लेटो के 'संवाद'

प्लेटो ने अपने लेखों को संवादों का रूप दिया । यौवन में उसने कुछ काव्य लिखे थे, परन्तु पीछे कविता को छोड़कर कविता से अधिक मधुर गद्य की वाक्यशैली अपनायी । उसका गद्य गद्य-काव्य ही है । प्लेटो ने कविता में लिखना तो छोड़ दिया, परन्तु कवि और दार्शनिक दोनों एक साथ उसकी आत्मा में निरन्तर स्थित रहे । ऐसा संयोग बहुत कम होता है । उसके लेख दार्शनिक दृष्टिकोण से तो उच्च कोटि के हैं ही, साहित्य में भी उनका स्तर बहुत ऊँचा है । इस प्रकार के लेख में एक कठिनाई भी होती है; दार्शनिक बिना किसी प्रकार की चेतावनी दिये, कवि बन जाता है, और कवि दार्शनिक में परिणत हो जाता है । प्लेटो ने अपने संवादों में रूपक, कल्पित कथा, और अलंकार का उदार प्रयोग किया है । इसका फल यह है कि पाठकों को अक्सर संदेह हो जाता है कि प्लेटो जो कुछ कह रहा है, विशुद्ध सत्य कह रहा है या हमें समझाने के लिए अलंकार का प्रयोग कर रहा है । यह पता नहीं लगता कि वह अपने मत का वर्णन कर रहा है, या हमारे साथ हँसी कर रहा है ।

प्लेटो ने अपने लेखों के लिए संवाद का रूप क्यों चुना ? संवाद साधारण व्याख्या की अपेक्षा अधिक मनोरंजक होता है; इसमें हम एक नहीं, एक से अधिक मनुष्यों की

संगति में होते हैं, और एक ही विषय को अपने दृष्टिकोणों से देख सकते हैं। कुछ मनोवैज्ञानिक तो कहते हैं कि व्यक्ति का चिन्तन भी संवाद ही होता है; वह आप ही कहता है और आप ही सुनता है। प्लेटो हमें सिखाना चाहता है, परन्तु हमारे अभिमान को ठेस नहीं लगाता। हम उसका लेख पढ़ते हुए यह ख्याल नहीं करते कि हम निचले स्तर पर हैं, और प्लेटो ऊँचे स्तर पर से हमें शिक्षा दे रहा है। हम इसी सुहावने स्वप्न में रहते हैं कि सुकरात अपने शिष्यों को बता रहा है और हम निकट बैठे सुन रहे हैं। स्वयं प्लेटो के लिए इस चुनाव का प्रमुख कारण शायद यह था कि वह इस तरह सुकरात के प्रति अपूर्व श्रद्धा व्यक्त कर सकता था। सभी संवादों में सुकरात प्रमुख वक्ता है; प्लेटो तो एक दो बार ही प्रस्तुत होता है। प्लेटो यह बताना चाहता है कि जो कुछ वह कहता है, सब सुकरात की ही देन है।

हम निश्चय से यह नहीं कह सकते कि प्लेटो ने अपने संवादों को लिखना कब आरम्भ किया। शायद सुकरात के जीवन-काल में उसने कुछ नहीं लिखा। 'एपालोजी' में सुकरात की सफाई का वर्णन है, जो उसने अपने विरुद्ध लगाये गये आरोपों को निर्मूल सिद्ध करने के लिए पेश की। 'क्राइटो' एक संवाद है जो मुकदमे और मृत्यु के बीच की अवधि में किसी दिन सुकरात और क्राइटो में हुआ। क्राइटो ने सुकरात से आग्रह किया कि वह बन्दीगृह से निकल जाय। सुकरात ने इसे स्वीकार नहीं किया। 'फीडो' में सुकरात के जीवन के अन्तिम दिन का विवरण है। उसने अपनी पत्नी और पुत्र को बन्दीगृह से घर को भेज दिया और विष पीने के नियत समय तक, फीडो और अन्य मित्रों के साथ आत्मा के स्वरूप और उसके अमरत्व की बाबत कथन करता रहा। जीवन का कैसा शानदार अन्त था!

प्लेटो के अन्य संवाद तीन श्रेणियों में बाँटे जाते हैं। पहली श्रेणी के संवाद सुकरात के सिद्धान्त की व्याख्या ही हैं। दूसरी श्रेणी के संवादों में प्लेटो का अपना सिद्धान्त निश्चित और परिपक्व होता है। यह समय प्लेटो के जीवन में रचनात्मक काल समझा जाता है। तीसरी श्रेणी में वे संवाद हैं जिनमें प्लेटो ने अपने सिद्धान्त को व्यवस्थित किया। प्लेटो की सारी पुस्तकों में 'रिपब्लिक' (गणतन्त्र राज्य) का स्थान प्रमुख है। अन्य संवादों में किसी विशेष विषय को विवेचन का विषय बनाया है; परन्तु 'रिपब्लिक' में हम समग्र प्लेटो के सम्पर्क में आते हैं। प्लेटो का अन्तिम और सबसे लम्बा संवाद 'राजनियम' एक तरह से 'रिपब्लिक' का परिशिष्ट ही है।

3. प्लेटो का मुख्य प्रिय विषय

एक चित्रकार ने प्लेटो और अरस्तू की मनोवृत्ति प्रकट करने के लिए दोनों को एक चित्र में दिखलाया है। प्लेटो की दोनों आँखें द्यौलोक की ओर उठी हैं; अरस्तू की एक आँख ऊपर की ओर उठी है और दूसरी नीचे पृथ्वी पर जमी है। चित्रकार का अभिप्राय यह है कि प्लेटो विशुद्ध तत्त्व-ज्ञान में निरत था; अरस्तू दार्शनिक और वैज्ञानिक एक साथ था। प्लेटो की बावत आम ख्याल यही है। बहुतेरे लोगों को ऐसा लगता है कि प्लेटो कुछ काल के लिए द्यौलोक से पृथ्वी पर उतरा, और जितनी देर यहाँ रहा, द्यौलोक की बावत ही चिन्तन करता रहा, और उसकी एक मात्र अभिलाषा यह थी कि फिर अपने स्थायी निवासस्थान में जा पहुँचे। पृथ्वी पर जब तक रहा, मनुष्यों को द्यौलोक की बावत बताना उसने अपना लक्ष्य समझा। कुछ लोग इस विचार से सहमत नहीं। उनके ख्याल में, प्लेटो का मुख्य प्रिय विषय तत्त्व-ज्ञान नहीं, अपितु समाज-सुधार था। उसने एथेन्स में प्रजातन्त्र राज्य की गिरावट देखी, तीस शासकों का शासन देखा, और प्रजातन्त्र राज्य के दुबारा स्थापित होने पर देखा कि सुकरात जैसे साधु पुरुष के लिए भी वहाँ कोई स्थान नहीं। स्वयं सुकरात का ख्याल तो यह था कि उसे जो कुछ करना था, वह कर चुका और उसके लिए चल देना ही अच्छा है, परन्तु प्लेटो के लिए सुकरात की मृत्यु एक बड़ा आघात था। उसने निश्चय किया कि समाज की स्थिति सुधारने में अपनी सारी शक्ति लगा दे। इसके लिए दो मार्ग ही खुले थे। एक राजनीति का और दूसरा जनता में ठीक विचारों का प्रसार। उसने पाठशाला और लेखों के द्वारा प्रचार का काम आरम्भ कर दिया। उसकी प्रमुख पुस्तक 'रिपब्लिक' आदर्श गणराज्य का चित्र प्रस्तुत करती है। उसके विचार में आदर्श राज्य में सबसे योग्य और श्रेष्ठ पुरुषों का शासन होना चाहिये। ऐसे पुरुषों की शिक्षा में तत्त्व-ज्ञान एक अनिवार्य भाग होना चाहिये। इस सम्बन्ध में प्लेटो ने तत्त्व-ज्ञान के स्वरूप को व्यक्त किया है। मुख्य प्रयोजन तो यह था कि आदर्श राज्य का चित्र लोगों के सम्मुख रखा जाय।

हम ज्ञान और कर्म का चिन्तन अलग-अलग करते हैं, परन्तु जीवन में ये दोनों संयुक्त हैं, हम देखते चलने के लिए हैं, और चलते हैं ताकि कुछ जान सकें। प्लेटो के लेखों में विवेचन के प्रमुख विषय ये हैं—

(1) तत्त्व-ज्ञान या सत्यासत्य मीमांसा,
(2) दृष्ट-जगत्-मीमांसा,
(3) नीति और राज-नीति

हम यहाँ इसी क्रम में प्लेटो की शिक्षा का अध्ययन करेंगे ।

4. सत्यासत्य मीमांसा, प्रत्ययों का सिद्धान्त

प्लेटो के दार्शनिक विचारों के बनाने में सुकरात का भाग सबसे अधिक था। सुकरात के सम्पर्क में आने से पहले उसने हिरैक्लिटस के सिद्धान्त की बावत कुछ ज्ञान प्राप्त कर लिया था। सुकरात की मृत्यु के बाद, दस वर्ष के लम्बे भ्रमण ने उसे पार्मेनाइडिस और पाइथेगोरस के सिद्धान्तों से अभिज्ञ कर दिया था। प्लेटो ने इन चारों के मतों से जो कुछ उपयोगी समझा, ले लिया और एक नया दार्शनिक सिद्धान्त तैयार किया।

पार्मेनाइडिस ने कहा था कि सत् वास्तव में एक, अभेद और नित्य है। दृष्ट जगत्, जिसमें भेद और परिवर्तन हर ओर दीखते हैं, असत् है। इसके विरुद्ध हिरैक्लिटस ने कहा कि वास्तव में दृष्ट, निरन्तर प्रवाह ही अस्तित्व रखता है; इसके अतिरिक्त सत् कल्पना मात्र है। सुकरात ने इन दोनों मतों का समन्वय किया था। उसने सामान्य और विशेष के भेद पर बल दिया। हम अगणित त्रिकोणों को पृथ्वी, कागज, या किसी अन्य पदार्थ पर खींचते हैं। इनमें कोई बड़ा होता है, कोई छोटा; और सभी जल्दी ही मिट जाते हैं। परन्तु त्रिकोण है क्या ? जब हम बुद्धि का प्रयोग करते हैं, तो त्रिकोणों के भेद के नीचे उनका स्थायी स्वरूप देखते हैं। यह त्रिकोण का लक्षण है। लक्षण किसी प्रत्यय का शाब्दिक वर्णन है। जिन त्रिकोणों को हम खींचते हैं, उनमें कितना ही भेद हो और कितनी ही अस्थिरता हो, त्रिकोण का प्रत्यय या लक्षण एक ही है और एक ही रहता है। इस तरह सुकरात ने एक और अनेक की समस्या के समाधान का द्वार खोल दिया। प्लेटो ने पार्मेनाइडिस के एक सत् को सुकरात के प्रत्यय के रूप में देखा, और हिरैक्लिटस के प्रवाह को प्रत्यय के प्रकटनों से मिला दिया।

जब हम प्रत्यय की बावत कहते हैं, तो बहुधा किसी चेतना के भाग का ख्याल करते हैं; उसे किसी चेतन के अन्दर देखते हैं। प्लेटो का मत इसके बिलकुल विपरीत है। उसके मतानुसार, प्रत्ययों का जगत् अमानवीय जगत् है; इसकी अपनी वस्तुगत सत्ता है। दृष्ट जगत् के पदार्थ इसकी नकल हैं। फिर त्रिकोण का चिन्तन करें। कोई त्रिकोण, जिसकी हम रचना करते हैं, त्रिकोण के प्रत्यय की पूर्ण नकल नहीं। हरएक विशेष पदार्थ में कोई-न-कोई अपूर्णता होती ही है। इसी अपूर्णता का भेद विशेष पदार्थों को एक

दूसरे से भिन्न करता है। सारे घोड़े घोड़े के प्रत्यय की अपूर्ण नकलें हैं; सारे मनुष्य मनुष्य के प्रत्यय की अधूरी नकलें हैं। कोई प्रत्यय पदार्थों पर आधारित नहीं; प्रत्यय तो उनकी रचना का आधार है। जो कुछ स्थूल पदार्थों की बाबत सत्य है, वही न्याय, भद्र, सौंदर्य आदि अमूर्त्त वस्तुओं की बावत भी ठीक है।

यहाँ प्रत्यय के दो प्रमुख गुणों की ओर संकेत किया गया है। प्रत्यय व्यक्ति का नहीं, अपितु श्रेणी का सूचक है: 'घोड़े' का, 'मनुष्य' का, 'त्रिकोण' का प्रत्यय है; इस या उस घोड़े, मनुष्य, या त्रिकोण का प्रत्यय नहीं। पीछे प्रत्यय और उसकी नकलों का भेद 'सामान्य' और 'विशेष' के भेद के रूप में प्रसिद्ध हुआ। प्रत्यय का दूसरा चिह्न उसकी पूर्णता है। प्रत्यय और आदर्श एक ही हैं।

दार्शनिक का काम विशेषों के दृष्ट जगत् की ओर से ध्यान हटाकर, प्रत्ययों की दुनिया का चिन्तन करना है। प्रत्ययों की दुनिया एक व्यवस्थित दुनिया है—रेत के बिखरे हुए दानों की तरह असंबद्ध नहीं। उनमें भी उत्तम और निकृष्ट, रचयिता और रचना का भेद है। सर्वश्रेष्ठ और सबका रचयिता 'भद्र' का प्रत्यय है; इसे ही साधारण भाषा में परमात्मा कहते हैं।

विशेष पदार्थों की दुनिया से हट कर, नित्य प्रत्ययों का चिन्तन करना कठिन काम है। प्लेटो ने सत् और असत् जगत् के भेद को 'गुफा' के सुन्दर अलंकार में प्रकट किया है। इसका संक्षिप्त वर्णन नीचे दिया जाता है।

कल्पना करो कि पृथ्वी की सतह के नीचे एक गुफा है। उसके ऊपर एक खुला मुहाना है, जिसमें प्रकाश दाखिल होकर सारी गुफा को प्रकाशित करता है। गुफा में जो मनुष्य हैं, वे जन्म से वहीं रह रहे हैं और शरीर के जकड़े होने के कारण पीछे मुड़ कर देख नहीं सकते; केवल सामने ही देख सकते हैं। उनके ऊपर और पीछे कुछ दूर अग्नि जल रही है। अग्नि और गुफा में रहनेवाले कैदियों के बीच में एक ऊँची दीवार है। सामने एक नीची दीवार है, जिसपर उन लोगों के चित्र पड़ते हैं जो ऊँची दीवार के साथ-साथ चल रहे हैं। उनमें कुछ बोलते हैं; कुछ चुप हैं। यह भी कल्पना करो कि गुफा में गूँज होती है। कैदी दीवार के साथ आने-जाने वालों को देखते नहीं, न देख सकते हैं। वे उन चित्रों को, जो नीची दीवार पर पड़ते हैं, देखते हैं; और भ्रम में उन्हें वास्तविक मनुष्य समझते हैं। गूँज सुनते हैं और उसे काल्पनिक मनुष्यों की आवाज समझते हैं। इन कैदियों की स्थिति शोचनीय है। वे असत् की दुनिया में रहते हैं और उसे सत् समझते हैं।

अब कल्पना करो कि उनमें से कोई कैदी किसी तरह गुफा से बाहर आ जाता है। जिस अँधेरे से वह निकल कर आया है, वह उसे कुछ समय के लिए नयी दुनिया में कुछ देखने के अयोग्य बना देता है, क्योंकि उसकी आँखें प्रकाश की अधिकता से चौंधिया जाती हैं। धीरे-धीरे वह देखने लगता है और उसे पता लगता है कि सत् की दुनिया असत् की दुनिया से कितनी भिन्न है। उसका हृदय अपने पुराने साथियों की हीन दशा का चिन्तन करके करुणा से भर आता है। यदि ऐसे पुरुष को फिर गुफा में जाना पड़े, तो उसकी अवस्था क्या होगी? स्थिति-परिवर्तन के कारण वह कुछ समय के लिए देख नहीं सकेगा। जो कुछ असत् की दुनिया या अँधेरी गुफा में रहनेवालों के लिए महत्त्वपूर्ण होगा, वह उसकी दृष्टि में अर्थहीन होगा। कैदियों की दृष्टि में उसका जीवन निष्फल होगा; उसकी दृष्टि में उनका सारा कार्य व्यर्थ होगा।

इस रूपक का अर्थ क्या है? साधारण मनुष्य गुफा के कैदी हैं, जो जीवन भर छाया को वास्तविक सत्ता समझते रहते हैं और अपने अज्ञान में ही सन्तुष्ट रहते हैं। तत्त्वविद् पुरुष को गुहा से बाहर निकलने का अवसर मिलता है। पहले तो प्रकाश की अधिकता के कारण उसकी आँखें चौंधिया जाती हैं और उसे कुछ दीखता ही नहीं। प्रकाश का अभाव और प्रकाश की अधिकता दोनों ही अन्धा कर देते हैं। दार्शनिक नयी दुनिया में अपने आपको स्थिर करने लगता है। पहले सूर्य के प्रकाश से अन्य प्रकाशित पदार्थों को देखता है; सूर्य को जल में देखता है और अन्त में स्वयं सूर्य को, जो सारे प्रकाश का स्रोत है, साक्षात् देखने के योग्य हो जाता है। यह सूर्य, जैसा पहले कह चुके हैं, भद्र का प्रत्यय या परमात्मा है।

ऊपर के विवरण से यह भी पता लग जाता है कि प्लेटो की दृष्टि में ज्ञान का स्वरूप क्या है। ज्ञान के तीन स्तर हैं। सबसे निचले स्तर पर विशेष पदार्थों का इन्द्रिय-जन्य ज्ञान है। ऐसे ज्ञान में सामान्यता का अंश नहीं होता। जो पदार्थ मुझे हरा दिखाई देता है, वही दूसरे को लाल दिखाई देता है, और तीसरे को रंग-विहीन दिखाई देता है। पदार्थों के रूप, उनके परिमाण आदि की बाबत भी ऐसा ही भेद होता है। प्लेटो के ख्याल में ऐसा बोध, ज्ञान कहलाने का पात्र ही नहीं, इसका पद व्यक्ति की सम्मति का है। इससे ऊपर के स्तर का ज्ञान रेखागणित में दिखाई देता है। हम एक त्रिकोण की हालत में सिद्ध करते हैं कि उसकी कोई दो भुजाएँ तीसरी से बड़ी हैं, और कहते हैं कि यह सभी त्रिकोणों की बाबत सत्य है। गणित के प्रमाणित सत्यों से भी ऊँचा स्तर

तत्त्व-ज्ञान का है, जिसमें हम सत् को साक्षात् देखते हैं। तत्त्व-ज्ञान ही वास्तव में ज्ञान कहलाने के योग्य है। इसमें सामान्य ही चिन्तन का विषय होता है।

5. दृष्ट जगत्-मीमांसा

दृष्ट जगत् सत् और असत् का संयोग है। इसमें सत् का अंश है, क्योंकि सारे पदार्थ प्रत्ययों की नकल हैं; असत् का अंश है, क्योंकि उनमें एकता और स्थिरता नहीं। जब हम एक वस्तु को किसी अन्य वस्तु की नकल कहते हैं, तो हमारा अभिप्राय क्या होता है? असल और नकल में असल पूर्व होता है और नकल पीछे बनती है; असल और नकल में समानता होती है; नकल की सामग्री असल की सामग्री से पृथक् है। सारे घोड़े घोड़े के प्रत्यय की नकल हैं; सारी पुस्तकें पुस्तक के प्रत्यय की नकल हैं। आइ-ओनिया के सम्प्रदाय के सम्मुख प्रश्न यह था कि दृष्ट जगत् की उत्पत्ति कैसे हुई। प्लेटो के लिए भी यह प्रश्न मौजूद है। यह मान भी लें कि सारे घोड़े घोड़े के प्रत्यय की नकलें हैं, तो भी यह प्रश्न तो बना रहता है कि ये नकलें कैसे बनीं। नकल अपने आपको बनाती नहीं, यह तो बनायी जाती है। इनकी सामग्री प्रत्ययों से भिन्न है। प्रत्यय में इन्हें बनाने की शक्ति नहीं, क्योंकि वह हर प्रकार के परिवर्तन से परे है। प्लेटो के विचार में सृष्टि-रचना एक स्रष्टा की क्रिया है। स्रष्टा प्रकृति को प्रत्ययों का रूप देता है। ऐसी क्रिया के पहले, प्रकृति आकाररहित अभेद होती है। प्लेटो की मूल प्रकृति सांख्य के अव्यक्त से मिलती है। सांख्य में अव्यक्त पुरुष की दृष्टि में व्यक्त बनता है; प्लेटो के विचार में यह स्रष्टा की क्रिया का फल है।

दृष्ट जगत् में प्राकृत पदार्थों के साथ चेतन जीव भी विद्यमान है। जिस तरह मानव शरीर में जीवात्मा क्रिया कर रहा है, उसी तरह सारे जगत् में भी विश्वात्मा क्रिया कर रहा है। मनुष्य की तरह, सारा संसार भी जीवित है। मैं अपने मानसिक जीवन में तीन अंश देखता हूँ : प्रथम तो भोग-प्रवृत्तियाँ हैं, जिनका निवास-स्थान कमर में है; इनके अतिरिक्त साहस और अन्य श्रेष्ठ उत्तेजन हैं, जिनका निवास-स्थान हृदय है। ये दोनों अंश मनुष्यों और पशु-पक्षियों में एक समान पाये जाते हैं। मनुष्य का विशेष गुण बुद्धि है। बुद्धि से ही मनुष्य प्रत्ययों का ज्ञान प्राप्त कर सकता है। तीनों अंशों में, केवल बुद्धि नित्य और अमर है; शेष दोनों अंश मर्त्य हैं। मनुष्य को प्रत्ययों का ज्ञान अनुभव से हो नहीं सकता, क्योंकि अनुभव दृष्ट जगत् तक सीमित है, और दृष्ट जगत् में कोई प्रत्यय अपने विशुद्ध रूप में विद्यमान नहीं। सौंदर्य को लें। जिन पदार्थों को हम सुन्दर

कहते हैं, उनमें भी थोड़ी-बहुत कुरूपता का अंश मिला ही होता है। सौंदर्य का प्रत्यय प्रत्ययों की दुनिया में ही विद्यमान है। जीवात्मा भी, प्राकृत शरीर से युक्त होने से पहले, प्रत्ययों की दुनिया का वासी था और वहाँ प्रत्ययों को साक्षात् देखता था। दृष्ट जगत् में रहते हुए, वह उनकी बाबत स्मरण कर सकता है। मनुष्य का सारा अनिवार्य ज्ञान वास्तव में स्मरण ही है। गणित का ज्ञान भी ऐसा ज्ञान है। पाइथेगोरस की तरह, प्लेटो भी पुनर्जन्म में विश्वास करता था। सदाचार से मनुष्य उत्तम जन्मों को प्राप्त करता हैं; कुकर्म उसे पशु योनि में भी ले जाते हैं।

6. नीति और राजनीति

जैसा हम कह चुके हैं, कुछ लोगों के ख्याल में प्लेटो का प्रमुख अनुराग विशुद्ध तत्त्वज्ञान के लिए नहीं, अपितु व्यावहारिक संशोधन के लिए था। इस संशोधन में दो बातें प्रमुख-थीं—समाज की व्यवस्था को सुधारना और व्यक्ति के जीवन को उन्नत करना। इन दोनों का आपस में घनिष्ठ सम्बन्ध है। नीति और राजनीति दोनों का प्रयोजन मानव का कल्याण है : नीति बताती है कि व्यक्ति भद्र की उत्पत्ति में अपने यत्न से क्या कर सकता है; राजनीति बताती है कि मनुष्यों का सामूहिक यत्न क्या कर सकता है। प्रतीत तो ऐसा होता है कि राजनीति नीति की एक शाखा है और नीति पर आधारित है। नीति पहले निश्चित करती है कि भद्र क्या है और फिर समाज या राष्ट्र (यूनान में इन दोनों में भेद नहीं किया जाता था) ऐसे साधनों का प्रयोग करता है, जिससे नीति के निश्चित किये उद्देश्य की पूर्ति हो सके। प्राचीन यूनान में राजनीति को प्रथम स्थान दिया गया था। यूनानी विचार के अनुसार श्रेष्ठ पुरुष अच्छे राष्ट्र का अच्छा नागरिक है। सदाचार के निश्चित करने के लिए दो बातों की आवश्यकता है—एक यह कि हमें अच्छे राष्ट्र के स्वरूप का ज्ञान हो और दूसरी यह कि हम ऐसे राष्ट्र में व्यक्ति के कर्त्तव्य का निश्चय कर सकें। प्लेटो ने अपनी प्रसिद्ध पुस्तक 'रिपब्लिक' में इन्हीं प्रश्नों को अपने विवेचन का विषय बनाया। पुस्तक के नाम से ही प्रकट होता है कि उसने आदर्श राष्ट्र के स्वरूप-निरूपण को अधिक महत्त्व दिया।

आदर्श राष्ट्र की नींव न्याय पर होनी चाहिए; जहाँ न्याय नहीं, वहाँ शेष सब कुछ होते हुए भी कुछ नहीं। आज कल भी सामाजिक न्याय प्रथम आवश्यकता समझा जाता है।

सामाजिक न्याय क्या है ?

प्लेटो अपनी पुस्तक के पहले अध्याय में ही यह प्रश्न हमारे सम्मुख ले आता है, और घूम-घामकर पुस्तक के अध्याय में फिर इसे विवेचन का विषय बनाता है। जिस प्रकार ज्ञान के सम्बन्ध में अपना मत प्रस्तुत करने के पहले वह कुछ अन्य मतों का खण्डन करता है, उसी तरह यहाँ भी पहले कुछ प्रचलित सिद्धान्तों की जाँच करता है। इन विचारों, में पहले विचार के अनुसार, न्याय दूसरों के साथ उचित और निष्कपट व्यवहार का नाम है। दूसरा ख्याल, जिसपर विस्तृत विचार हुआ है, साफिस्ट थ्रेसिमेकस का सिद्धान्त है। क्रुद्ध थ्रेसिमेकस कहता है—

'सुनो, मैं कहता हूँ कि शक्ति ही अधिकार हैं; और न्याय अधिक बलवान् का हित है। विविध प्रकार के राष्ट्र अपने हितों को ध्यान में रखकर राज-नियम बनाते हैं, और इन नियमों को, जिन्हें उन्होंने स्वार्थवश बनाया है, जनता को न्याय के रूप में देते हैं। जो कोई इन नियमों का उल्लंघन करता है, उन्हें अन्यायी कह कर दण्ड देते हैं।.... अन्याय के लिए दण्ड इसलिए दिया जाता है कि ऐसा न करने पर शासकों को हानि पहुँचती है; आप अन्याय करने में तो उन्हें कोई झिझक नहीं होती।'

प्लेटो के विचारानुसार, साफिस्ट सिद्धान्त सत्य की तरह भद्र या शुभ के वस्तुगत अस्तित्व से इन्कार करता है।

यदि जो कुछ किसी पुरुष को दीखता है, वह उसके लिए सत्य है, जो कुछ उसे भाता है, वह उसके लिए श्रेष्ठ है, तो सत्य और असत्य में, और शुभ और अशुभ में, कोई मौलिक भेद नहीं। मैं एक काम पसन्द करता हूँ; मेरा पड़ोसी उसे नापसन्द करता है। मैं अपने भाव की बाबत कहता हूँ; वह अपने भाव की बाबत कहता है। यहाँ मतभेद का प्रश्न ही नहीं। हमारी बुद्धि इस स्थिति को स्वीकार नहीं करती।

प्लेटो ने न्याय की बाबत अपना विचार एक सूत्र में व्यक्त किया है। वह कहता है—

'जो कुछ अपना है, उसे प्राप्त करना और उसका प्रयोग करना न्याय है।'

'जो कुछ अपना है', इन शब्दों में स्वीकार किया गया है कि मनुष्य समाज में रहते हैं। समाज की नींव क्या है ? व्यक्ति के लिए सामाजिक जीवन की आवश्यकता क्यों है ? मनुष्य-जीवन कायम रखने के लिए अनेक आवश्यकताओं को पूरा करना होता है।

खाने के लिए खाद्य पदार्थ चाहिये; सर्दी-गर्मी से बचने के लिए वस्त्र चाहिये; रक्षा के लिए घर और अन्य साधनों की आवश्यकता है। कोई मनुष्य अपनी सारी आवश्यकताएँ आप पूरी नहीं कर सकता; उसे दूसरों से सहायता लेनी होती है। परन्तु कोई पुरुष दिये बिना ले नहीं सकता। इस तरह सेवाओं का अदल-बदल अनिवार्य हो जाता है।

यह अदल-बदल अव्यवस्थित भी हो सकता है और व्यवस्थित भी। पहली अवस्था में स्वार्थ का राज्य होता है; हर एक अधिक-से-अधिक लेना और कम-से-कम देना चाहता है। ऐसी दशा में तो काम चल नहीं सकता। सामाजिक जीवन का सार व्यवस्था का स्थापन है। समाज नियम स्थापित करता है और माँग करता है कि नागरिक उन नियमों पर चलें। इन नियमों में व्यक्ति को बताया जाता है कि वह क्या ले सकता है और उसे क्या देना चाहिये। प्लेटो के विचार में सामाजिक जीवन का आधार श्रम-विभाजन पर है। जो पुरुष श्रम करता है, उसका फल उसकी सम्पत्ति है, और व्यवस्थित समाज में वह उस फल से वञ्चित नहीं किया जा सकता। प्लेटो के सूत्र के पहले भाग का यह सार है। किसी पुरुष की कमाई, जिसपर उसका अधिकार है, उसके श्रम के पीछे आती है। हमें देखना है कि श्रम-विभाजन किस नींव पर होना चाहिये। समाज में सब मनुष्य एक ही काम नहीं कर सकते; न ऐसा करना हितकर है। दूसरी ओर यह भी नहीं कह सकते कि प्रत्येक मनुष्य एक स्वतन्त्र मार्ग पर चलता है। श्रम-विभाजन का तत्त्व यह है कि समाज में कुछ वर्ग हों और वे समाज की प्रमुख आवश्यकताओं को पूरा कर सकें।

समाज के वर्गीकरण के लिए प्लेटो ने मानव प्रकृति को अपना पथप्रदर्शक बनाया। जैसा हम देख चुके हैं, प्लेटो के विचारानुसार जीवात्मा के दो भाग हैं—एक बुद्धि, जो उसका अमर अंश है, दूसरा उद्वेग और नैसर्गिक उत्तेजना। दूसरे भाग में भी उत्कृष्ट और निकृष्ट का भेद है। उत्कृष्ट भाग में साहस आदि भाव आते हैं; निकृष्ट भाग में पाशव उत्तेजन आते हैं। प्लेटो ने अनुभव किया कि समाज की बनावट में तीन वर्ग होने चाहिये। बुद्धि के अनुरूप संरक्षकों का वर्ग हो, जिसका उद्देश्य समाज में व्यवस्था बनाये रखना हो। समाज में दूसरा वर्ग सैनिकों का हो, जो संरक्षकों को अपना काम करने में सहायता दें। यह सहायक वर्ग मानव-प्रकृति के साहस अंश के अनुरूप है। मनुष्य का पाशव अंश अनेक उत्तेजनों का समूह है। ये उत्तेजन अग्नि की तरह सेवक तो अच्छे हैं, परन्तु स्वामी बहुत बुरे हैं। इनके लिए आवश्यक है कि बुद्धि के अनुशासन में रहें। समाज में आम लोग इन उत्तेजनों के अनुरूप हैं। इनका व्यवस्था में रहना इनके अपने हित में भी है।

इनका प्रमुख काम जीवन की आवश्यकताओं की चीजें उत्पन्न करना है। खेती और व्यापार इनका प्रमुख काम है। ये तीनों वर्ग हमारे ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य वर्णों के तुल्य हैं। इनके अतिरिक्त यूनान में दासों की बड़ी संख्या थी; ये नागरिकों की सम्पत्ति का भाग ही समझे जाते थे। प्लेटो जैसा दार्शनिक भी दासता को समाज की प्राकृतिक व्यवस्था का अंग समझता था!

प्लेटो अपने समय की स्थिति से बहुत असन्तुष्ट था। उस समय के प्रजातन्त्र शासन से उसके कोमल हृदय पर कड़ी चोट लगी। जिस प्रकार के शासन में सुकरात जैसे पुरुष को उसकी शिक्षा के लिए मृत्यु-दण्ड दिया जा सकता है, उसे जितनी जल्दी समाप्त कर सकें, कर देना चाहिये। वह अपने समय की स्थिति की बाबत कहता है—'आजकल प्रजातन्त्र का जोर है। पुत्र-पिता का कहना नहीं मानते; स्त्रियाँ पतियों का कहना नहीं मानतीं। और यदि शाम की सैर में तुम्हें सामने से गदहे आते दिखाई दें, तो तुम्हें उनके लिए मार्ग छोड़ना होगा, नहीं तो वे तुमपर आ चढ़ेंगे।'

इस स्थिति के सुधार के लिए प्लेटो ने कहा—

'मनुष्य के क्लेशों का अन्त उसी हालत में हो सकता है, जब दार्शनिक शासन करें या शासक दार्शनिक बन जायें।' संरक्षकों के लिए लम्बी और कड़ी शिक्षा की आवश्यकता है। तीस वर्ष की उम्र तक वे अन्य विद्याओं का अध्ययन करें; उसके बाद पाँच वर्ष दर्शन शास्त्र पढ़ें। इसके बाद वे जीवन के स्कूल में 15 वर्ष गुजारें और व्यावहारिक निपुणता प्राप्त करें। 50 वर्ष की उम्र में अनुभवी पुरुष शासक या संरक्षक का काम कर सकता है। दार्शनिक के लिए ज्ञान-ध्यान को छोड़कर शासन के झमेलों में पड़ना बड़ा त्याग है; इसलिए उनसे यह काम बारी-बारी लेना चाहिये।'

संरक्षक अपने आपको समाज-सेवा में पूर्ण रूप से विलीन कर दे। संरक्षकों के लिए मेरे तेरे का भेद रहना ही नहीं चाहिये। पारिवारिक जीवन और निजी सम्पत्ति इस भेद के प्रमुख कारण हैं। उनके लिए ये दोनों त्याज्य हैं। सारे संरक्षक एक साथ शिविर-जीवन बसर करें; एक साथ खायें, एक साथ रहें। राष्ट्र उनकी आवश्यकताओं का उचित प्रबन्ध करे, परन्तु इसके अतिरिक्त उनकी कोई निजी सम्पत्ति नहीं होनी चाहिये। उनका पारिवारिक जीवन भी राष्ट्रीय एकता का विरोधी है; इसलिए यह भी त्याज्य है। संरक्षकों की पत्नियाँ भी साझे में हों। राष्ट्र निश्चय करे कि कितने नये बच्चे पैदा करना है और उसके लिए योग्य पुरुषों और स्त्रियों को चुना जाये। जब बच्चा पैदा हो,

तो माता-पिता से अलग कर दिया जाये, ताकि माता-पिता और बच्चे एक दूसरे को पहिचान न सकें। माताएँ बच्चों को दूध पिलायें, परन्तु सब बच्चों को अपना बच्चा ही समझें।

दार्शनिकों का शासन और संरक्षकों में पत्नियों और सम्पत्ति का साझा प्लेटो की राजनीति में सबसे बड़े साहसी सुझाव हैं। उसने राष्ट्र की एकता को आदर्श स्वीकार किया, और फिर इसकी सिद्धि के लिए जो कुछ आवश्यक समझा, पूर्ण निडरता के साथ घोषित कर दिया। आम नागरिकों से संरक्षकों के त्याग की आशा नहीं की जा सकती। प्लेटो ने उन्हें निजी सम्पत्ति और पारिवारिक जीवन से वंचित नहीं किया।

'रिपब्लिक' के अतिरिक्त प्लेटो ने 'राजनियम' नाम के संवाद में भी अपने राजनीतिक विचार व्यक्त किये। यह संवाद सबसे बड़ा और अन्तिम संवाद है। जो कुछ इस पुस्तक में लिखा है, उससे अधिक महत्त्व की बात यह है कि यह पुस्तक लिखी गयी। 'रिपब्लिक' में प्लेटो ने आदर्श राष्ट्र का चित्र खींचा था। पुस्तक के अन्त के करीब उसने कहा—'ऐसा राष्ट्र कहीं है या नहीं, कहीं हो भी सकता है या नहीं, भला पुरुष तो ऐसे राष्ट्र के नागरिक का जीवन ही व्यतीत करना चाहेगा। बाहर के किसी राष्ट्र में दार्शनिक का शासन न हो सके, तो भी उसके अपने अन्दर तो एक राष्ट्र है जिसमें उसका शासन चलता है।' ऐसे राष्ट्र में शासक का निर्णय ही पर्याप्त नियम है। 'राजनियम' में प्लेटो ने एथेन्स की स्थिति को ध्यान में रखकर अपने राजनीतिक विचार प्रकट किये।

प्लेटो की नीति

प्लेटो की नैतिक शिक्षा को समझने के लिए हम देख सकते हैं कि उसने सुकरात के विचारों को कैसे आगे बढ़ाया। नीति में दो प्रमुख प्रश्न निःश्रेयस और सदाचार या वृत्त का स्वरूप हैं। सुकरात ने निःश्रेयस को ज्ञान के रूप में देखा और ज्ञान में नैतिक ज्ञान को ही प्रमुख स्थान दिया। यूनानियों में निःश्रेयस को सुख के रूप में भी देखा जाता था। सुख से उनका अभिप्राय क्षणिक तृप्ति नहीं, अपितु जीवन का सामंजस्य था। सुकरात ने नैतिक ज्ञान और इस सामंजस्य को मिला दिया था; प्लेटो ने इनमें भेद किया और ज्ञान के अन्य रूपों को भी मूल्यवान् बताया। प्लेटो के विचार में, निःश्रेयस या सर्वोच्च भद्र में निम्नलिखित अंश सम्मिलित हैं—

(1) दार्शनिक ज्ञान,

(2) विज्ञान,

(3) ललित कला,

(4) श्रेष्ठ तृप्ति, अर्थात् ऐसी तृप्ति जिसे बुद्धि निर्दोष समझे ।

सदाचार या वृत्त के सम्बन्ध में भी प्लेटो ने अपने दृष्टिकोण को विस्तृत किया। जैसा हम पहले कह चुके हैं, यूनानियों के लिए अच्छा आदमी अच्छे राष्ट्र का अच्छा नागरिक है। अच्छे राष्ट्र में संरक्षक, उनके सहायक सैनिक, और सम्पत्ति के उत्पादक होने चाहिये। ये वर्ग अपना निश्चित काम करें और दूसरों को अपना काम करने दें। ऐसी व्यापक स्वाधीनता ही सामाजिक न्याय है। प्लेटो ने व्यक्ति को समाज की नन्हीं प्रतिमा के रूप में ही देखा। जो गुण समाज के लिए आवश्यक हैं, वे ही व्यक्ति के लिए भी आवश्यक हैं। इस ख्याल को लेकर प्लेटो ने अपने चार मौलिक वृत्तों की सूची तैयार की। संरक्षकों का गुण बुद्धिमत्ता है; सैनिकों का गुण साहस है; वैश्यों का गुण संयम है। प्लेटो ने इन तीनों को तीन मौलिक वृत्त बताया। चौथा मौलिक वृत्त न्याय है। जिस तरह समाज में प्रत्येक वर्ग को अपना काम करना चाहिये, उसी तरह व्यक्ति में इन तीनों गुणों को भी अपने अधिकार के दायरे में ही विचरना चाहिये। व्यक्ति के जीवन में यही न्याय है।

नवीन काल में, जर्मनी के दार्शनिक शापनहावर ने इस सूची की कड़ी आलोचना की है। वह कहता है कि बुद्धिमत्ता जीवन का भूषण तो है परन्तु इसे नैतिक वृत्त का पद नहीं दे सकते। बहुतेरे बुद्धिमान् पुरुष बुद्धि का दुरुपयोग करते हैं। यही साहस की बाबत कह सकते हैं। संयम में कोई निश्चितता नहीं : जो पथ मेरे लिए संयम का पथ है, वह दूसरे के लिए संयम से इधर या उधर हो सकता है। न्याय की बाबत पहले भी मतभेद रहा है और अब भी है। शापनहावर ने वृत्त को संकुचित अर्थों में लिया; प्लेटो ने इसे जीवन की श्रेष्ठताओं के अर्थ में लिया था। प्लेटो के वृत्तों को, वर्त्तमान स्थिति की दृष्टि में, कुछ विस्तृत अर्थों में लें, तो अब भी यह मूल्यवान् सूची है।

■

चौथा परिच्छेद

अरस्तू

1. जीवन की झलक

अरस्तू (384–322 ई० पू०) मैसेडोनिया के एक नगर स्टेजीरा में पैदा हुआ। उसका पिता राजा फिलिप का चिकित्सक था। वह यूनानी था, परन्तु नौकरी के सिलसिले में मैसेडोनिया में जा बसा था। अन्य शिक्षा के साथ अरस्तू ने चिकित्सा का भी अध्ययन किया। एक बयान के अनुसार 17 वर्ष की उम्र में, और दूसरे बयान के अनुसार 30 वर्ष की उम्र में, वह एथेन्स में पहुँचा और प्लेटो की अकेडेमी में दाखिल हो गया। दोनों बयानों में जो भी ठीक हो, अरस्तू को प्लेटो के निकट सम्पर्क में रहने का पर्याप्त समय मिला। यह बात तो निर्विवाद ही है कि एथेन्स ने प्लेटो जैसा दूसरा शिक्षक और अरस्तू जैसा दूसरा शिष्य पैदा नहीं किया।

प्लेटो अरस्तू को 'पाठशाला का मस्तिष्क' और उसके निवास-स्थान को 'विद्यार्थी का निवास-स्थान' कहता था। उस समय पुस्तकें छपती तो थीं नहीं, अपनी सम्पन्न स्थिति और शौक के कारण, जो काम के हस्तलिखित लेख मिल सकते थे, वह उन्हें खरीद लेता था। उसमें निरीक्षण और खोज की रुचि बहुत प्रबल थी। इसका एक परिणाम यह हुआ कि प्लेटो के जीवन-काल में ही, गुरु और शिष्य के विचारों में भेद प्रकट होने लगा। भेद समानता की नींव पर हुआ करता है; दोनों के विचारों में समानता भी बहुत है। अरस्तू तो प्लेटो का शिष्य था ही; ध्यान से पढ़ने पर स्पष्ट दीखता है कि अन्तिम काल के संवादों में प्लेटो के विचार, अरस्तू के प्रभाव में, उसके पहले विचारों से कुछ भिन्न हो गये।

प्लेटो की मृत्यु होने पर अकेडेमी के लिए आचार्य की नियुक्ति एक महत्त्वपूर्ण प्रश्न थी। अरस्तू की योग्यता में तो कोई सन्देह ही नहीं हो सकता था; परन्तु वह विदेशी समझा जाता था। प्रबन्ध करनेवालों ने प्लेटो के भतीजे को उसका उत्तराधिकारी चुना। कहते हैं, अरस्तू को इससे बड़ी चोट लगी। यह न हुआ हो, तो भी अब उसके लिए

एथेन्स में बैठे रहने का कोई अर्थ न था। उसका एक पुराना सहपाठी हरमियस लघु एशिया (एशिया माइनर) में पर्याप्त इलाके का स्वामी बन गया था। उसने अरस्तू को बुलाया और वह हरमियस के पास जा पहुँचा। वहाँ उसने हरमियस की भतीजी के साथ विवाह किया और पर्याप्त मात्रा में स्त्री-धन प्राप्त किया। कुछ समय बाद, ईरान के राजा ने हरमियस पर आक्रमण किया और उसे पराजित करके मृत्युदण्ड दे दिया। ठीक उसी समय, मैसेडोनिया के राजा फिलिप ने अपने पुत्र सिकन्दर की शिक्षा के लिए अरस्तू को निमन्त्रित किया। अरस्तू वर्षों की अनुपस्थिति के बाद फिर मैसेडोनिया में पहुँचा। फिलिप को अपना राज्य विस्तृत करने का शौक था; सिकन्दर का शौक पिता के शौक से भी अधिक था। अरस्तू सिकन्दर के साथ चार वर्ष रहा। फिलिप की मृत्यु हो गयी और सिकन्दर ने राज्य-शासन सँभाला। अब उसके पास दर्शन पढ़ने का समय न था। अरस्तू 50 वर्ष का हो चुका था। एक बार फिर उसे अपने भविष्य के लिए निश्चय करना था।

अब तक वह राजनीति का मीठा-कड़ुआ स्वाद काफी ले चुका था। सभ्यता के सौभाग्य से, उसने एथेन्स में वापस जाने और विधिवत् अध्यापन-कार्य आरम्भ कर देने का निश्चय किया। यह निश्चय बाद में बहुत महत्त्वपूर्ण सिद्ध हुआ।

2. दर्शनाचार्य अरस्तू

ई० पू० 334 में अरस्तू एथेन्स पहुँचा। प्लेटो की अकेडेमी में तो उसके लिए स्थान न था; उसने अपना स्वतन्त्र विद्यालय लिसियम के नाम से स्थापित किया। यह एक कुञ्ज में स्थित था। अकेडेमी की तरह अरस्तू के लिसियम में भी विद्यार्थी भरती होने लगे। मध्याह्न से पहले अरस्तू शिष्यों को विधिवत् शिक्षा देता था; तीसरे पहर आम व्याख्यान होते थे, जिन्हें हर कोई सुन सकता था। अकेडेमी और लिसियम में एक भेद यह था कि अकेडेमी अब, अरस्तू के शब्दों में, 'गणित का विद्यालय' बन गयी थी।

कुंज के एक रास्ते पर चलते-चलते अरस्तू शिष्यों को शिक्षा देता था। सुकरात की शिक्षा का ढंग भी इसी प्रकार का था, परन्तु न तो उसका निश्चित शिक्षा-स्थान था, और न निश्चित शिष्य ही थे।

अरस्तू की शिक्षण-शैली के कारण आज तक उसका सम्प्रदाय 'विचरणशील सम्प्रदाय' के नाम से विख्यात है।

अध्यापन-कार्य के साथ अरस्तू ने पुस्तकों का लिखना भी आरम्भ कर दिया। उसकी अपनी व्यक्तिगत पसन्द और रुचि की सीमा क्या थी ? राजनीति, नीति, इतिहास, न्याय, मनोविज्ञान, कविता, नाटक, ज्योतिष, भौतिक विज्ञान, चिकित्सा, गणित, प्राणिविद्या—कोई विषय ऐसा न था, जो उसके अध्ययन-क्षेत्र के अन्दर न रहा हो और उसने इन सब विषयों पर लिखा। कोई उसकी पुस्तकों की संख्या 400 बताता है, कोई 600। उस समय की परिभाषा में अध्याय या खंड के लिए भी 'पुस्तक' शब्द का प्रयोग हो जाता था। इसपर भी, जो कुछ अरस्तू ने लिखा, उसकी मात्रा बहुत है। जो पुस्तकें उसकी रचना बतायी जाती हैं, उनमें से कुछ ऐसी भी हैं जिनकी प्रामाणिकता की बाबत सन्देह किया जाता है; परन्तु अधिकांश की बाबत ऐसा सन्देह करने का कोई कारण नहीं है।

3. अरस्तू की शिक्षा

प्लेटो दार्शनिक नहीं था; अरस्तू दार्शनिक भी था। प्लेटो दृष्ट जगत् को आभास मात्र मानता था। उसकी दृष्टि में हम जो कुछ इस जगत् की बाबत जानते हैं, वह ज्ञान कहलाने योग्य ही नहीं; उसकी कीमत वैयक्तिक सम्मति की ही है। प्लेटो ने विज्ञान को उसका उचित स्थान नहीं दिया। दूसरी ओर, अरस्तू की मानसिक बनावट में तत्त्व-ज्ञान की अपेक्षा विज्ञान का अंश कहीं अधिक था। उसने तत्त्व-ज्ञान में भी विज्ञान की विधि का प्रयोग करना चाहा और इस तरह तत्त्व-ज्ञान के साथ पूर्ण न्याय नहीं किया। प्लेटो की दोनों आँखें द्यौलोक पर लगी थीं; उसके लिए प्रत्ययों का बोध और यह बोध ही वास्तव में ज्ञान था। अरस्तू की एक आँख द्यौलोक पर लगी थी; परन्तु दूसरी आँख पृथ्वी पर जमी थी। वह दृष्ट जगत् को आभास नहीं समझता था; इसकी सत्ता में दृढ़ विश्वास करता था। उसकी दृष्टि में इस जगत् के प्रत्येक तथ्य की कीमत थी। जो महत्त्व तत्त्व-ज्ञान 'सामान्य' को देता है, वही महत्त्व विज्ञान 'विशेष' को को देता है। प्लेटो का ध्यान भेदरहित आदर्शों पर लगा था; अरस्तू परिवर्तनशील वास्तविकता पर मोहित था।

यह मौलिक भेद ध्यान में रखते हुए, हम देख सकेंगे कि किस तरह अरस्तू दार्शनिक विवेचन को प्लेटो से आगे ले गया। अरस्तू की गुरुभक्ति प्लेटो की गुरुभक्ति से भिन्न थी। प्लेटो ने अपने निजी विचारों को भी सुकरात के मुँह में डाला; अरस्तू ने प्लेटो के विचारों की आलोचना करके प्लेटो के प्रति अपनी श्रद्धा व्यक्त

की। 'मेरे मन में प्लेटो के लिए श्रद्धा है, परन्तु सत्य के लिए उससे भी अधिक श्रद्धा है', उसने लिखा।

अरस्तू ने विज्ञान पर बहुत कुछ लिखा, परन्तु अब उसका मूल्य ऐतिहासिक ही है। अब कोई विद्यार्थी भौतिक विज्ञान के अध्ययन के लिए अरस्तू को याद नहीं करता। जो करता है, केवल यह जानने के लिए करता है कि अरस्तू ने इसकी बावत क्या कहा। इसके दो कारण हैं—

(1) अरस्तू नक्षत्रों को दूरबीन के बिना देखता था; अल्प पदार्थों को खुर्दबीन के बिना देखता था; ज्वर की जाँच थर्मामीटर के बिना करता था और वायु के दबाव का निर्णय बैरोमीटर के बिना करता था। विज्ञान के अध्ययन के लिए जो साधन अब विद्यमान हैं, वे उसके समय में विद्यमान न थे।

(2) यूनानियों की सामाजिक व्यवस्था में हाथों से काम करना निकृष्ट समझा जाता था और उच्च वर्गों के लोग, जिनमें प्लेटो और अरस्तू दोनों थे, ऐसे काम से अलग ही रहते थे। खेती और व्यापार का काम करनेवालों के अतिरिक्त दासों की बड़ी संख्या भी मौजूद थी। दास यन्त्र से सस्ते थे; इसलिए यन्त्र बनाने का उत्साह ही वहाँ न था। विज्ञान का अस्तित्व ही यन्त्रों के प्रयोग और हाथ के काम पर है।

ज्ञान के जिन भागों में मनन का काम प्रमुख है, उनके सम्बन्ध में अरस्तू के विचार आज भी उतने ही आदर के पात्र हैं, जितने कभी पहले थे।

अरस्तू के विचारों को हम निम्नलिखित क्रम में देखेंगे—

(1) तत्त्व-ज्ञान,
(2) दृष्ट जगत्-विवेचन,
(3) राजनीति और नीति।

प्लेटो ने कहा था कि दृष्ट जगत् में प्रत्येक श्रेणी के सभी व्यक्ति एक प्रत्यय की नकल होते हैं। चूँकि उनमें कुछ-न-कुछ असल से भेद होता ही है, वे आपस में भी एक-दूसरे से भिन्न होते हैं। प्लेटो ने एक प्रकार का द्वैत स्थापित कर दिया—ऊपर प्रत्ययों की नित्य दुनिया है और नीचे विशेष पदार्थों की अनित्य दुनिया। अरस्तू

भी समझता था कि कोई वस्तु है जिसके कारण सारे घोड़े घोड़े हैं, सारे गदहे गदहे हैं, और सारे त्रिकोण त्रिकोण हैं, परन्तु वह प्लेटो का यह दावा स्वीकार नहीं कर सका कि किसी असल में अपनी नकलें बनाने की क्षमता है। उसने प्लेटो के प्रत्यय का स्थान पदार्थों के सार या तत्त्व को दिया। प्लेटो का प्रत्यय विशेष पदार्थों के बाहर था; अरस्तू का तत्त्व प्रत्येक पदार्थ के अन्दर है। सभी घोड़े घोड़ा श्रेणी में हैं, क्योंकि उन सब में, अपनी-अपनी विशेषताओं के साथ, सामान्य अंश भी विद्यमान है। यह सामान्य अंश उस सामान्य अंश से भिन्न है, जो सारे गदहों में पाया जाता है और उन्हें गदहा बनाता है। अरस्तू ने भी प्लेटो के द्वैत को कायम रखा; परन्तु दोनों अंशों के अन्तर को दूर कर दिया; पदार्थों का तत्त्व न बदलनेवाला अंश, उनसे पृथक्, उनके बाहर नहीं; उनके अन्दर है।

इन दोनों अंशों को अरस्तू ने 'सामग्री' और 'आकृति' का नाम दिया। हम जो कुछ देखते हैं, वह सामग्री और आकृति का संयोग है। हमारे अनुभव में ये दोनों सदा संयुक्त मिलते हैं। कोई पदार्थ चपटा है, कोई गोल है। चपटापन और गोलाई प्रकृति से अलग कहीं विद्यमान नहीं; दूसरी ओर, प्रकृति कहीं भी आकारविहीन नहीं मिलती। यह वर्त्तमान दशा है; परन्तु मूल प्रकृति आकारविहीन थी; उसके किसी भाग में कोई विलक्षणता न थी। प्रकृति में विभिन्नता का कारण आकृति की क्रिया है। आकृति से अरस्तू का अभिप्राय दृष्ट रूप नहीं, अपितु रूप देनेवाली शक्ति है। अरस्तू की सामग्री और आकृति नवीन विज्ञान के 'मैटर' और 'एनर्जी' से मिलते प्रतीत होते हैं, परन्तु इनमें भेद है। अरस्तू की 'सामग्री' विज्ञान के 'मैटर' की तरह निश्चित वस्तु नहीं; यह एक तरल प्रत्यय है। जो कुछ एक प्रकरण में आकृति है, वह दूसरे प्रकरण में सामग्री बन जाता है। नीम का बीज नीम का वृक्ष बन जाता है। बननेवाला बीज सामग्री है; परिवर्तन का परिणाम वृक्ष आकृति है। वृक्ष से हम मकान के द्वार बनाते हैं। इस प्रसंग में वृक्ष सामग्री है और द्वार आकृति है। वृक्ष से द्वार तो बढ़ई बनाता है; बीज से वृक्ष कौन बनाता है? अरस्तू के मत में सामग्री के अन्दर ही उसे विशेष आकार देने की शक्ति विद्यमान है।

4. कारण-कार्य सम्बन्ध

यह विचार स्वाभाविक ही कारण-कार्य के प्रत्यय को हमारे सम्मुख ले आता है। विज्ञान में ही नहीं, साधारण व्यवहार में भी हम कारण-कार्य सम्बन्ध का जिक्र

करते रहते हैं। इस सम्बन्ध के स्वरूप की बाबत बहुत मतभेद है। साधारण मनुष्य के लिए कारण एक कर्त्ता है, जो अपनी क्रिया से कोई विशेष फल, जिसे कार्य कहते हैं, पैदा करता है। विज्ञान में कारण और कार्य दोनों घटनाओं या अवस्थाओं के रूप में देखे जाते हैं। जान स्टुअर्ट मिल के विचारानुसार कारण उन तमाम स्थितियों का समूह है, जिनकी मौजूदगी में कार्य अवश्य व्यक्त हो जाता है, और जिनमें से किसी के भी मौजूद न होने की हालत में व्यक्त नहीं होता। मिल ने इस सम्बन्ध में किसी कर्त्ता की क्रिया को नहीं देखा, अपितु पहले पीछे व्यक्त होने के भेद को ही देखा। कारण कार्य को उत्पन्न नहीं करता, केवल इससे पहले व्यक्त होता है। अरस्तू ने कारण के स्वरूप को समझने के लिए पीछे की ओर ही नहीं, आगे की ओर भी देखा। उसका मत समझने के लिए हम एक उदाहरण लेते हैं। मैं यह लेख मेज पर लिख रहा हूँ। मेज लकड़ी की बनी है। कुर्सी, बेंच, छड़ी, दरवाजा आदि भी लकड़ी से बनते हैं। लकड़ी या किसी अन्य सामग्री के बिना इनमें से कोई वस्तु बन नहीं सकती। यह सामग्री इन पदार्थों का उपादान कारण है। परन्तु लकड़ी आप ही मेज नहीं बन जाती; इसके बनाने के लिए बढ़ई की भी आवश्यकता है। बढ़ई लकड़ी को काट-छाँटकर इसे मेज का रूप देता है। बढ़ई मेज का निमित्त कारण है। बढ़ई लकड़ी या अन्य सामग्री के बिना मेज नहीं बना सकता, कोई सामग्री बढ़ई के बिना मेज नहीं बन सकती। यहाँ तक सामान्य बुद्धि और अरस्तू एक साथ जाते हैं; आगे अरस्तू अकेला जाता है। बढ़ई मेज के बनाने में अस्त्रों और हाथों का प्रयोग करता है। अस्त्र मस्तिष्क के नेतृत्व में बनाये गये थे; और हाथ अब भी मस्तिष्क की आज्ञा पालन कर रहे हैं। क्यों लकड़ी का कुन्दा कुर्सी नहीं, अपितु मेज बनता है? क्रिया आरम्भ करने के पूर्व, बढ़ई के मन में मेज का चित्र या आकार था; कुर्सी का न था। उस आकार ने उसकी क्रिया के लिए एक विशेष दिशा निश्चित कर दी। यह मानसिक चित्र भी मेज का कारण है। इसे आकारात्मक कारण कहते हैं। इनके अतिरिक्त, हमें स्थूल मेज को भी सारी क्रिया का कारण समझना होता है, क्योंकि वास्तव में आरम्भ से अन्त तक सारी क्रिया इसी का फल है। इस कारण को लक्ष्यात्मक कारण का नाम दिया जाता है।

इस तरह अरस्तू के विवरण में चार प्रकार के कारणों का वर्णन है—

(1) उपादान कारण,

(2) निमित्त कारण,

(3) आकारात्मक कारण,

(4) लक्ष्यात्मक कारण।

तीसरे और चौथे कारणों में भेद बहुत थोड़ा है। आकारात्मक कारण मेज का ख्याल है; लक्ष्यात्मक कारण मेज है। एक कारण सूक्ष्म मानसी रूप में है; दूसरा स्थूल रूप में है। इन दोनों में चुनना हो तो चौथे कारण को छोड़ देना चाहिये। साधारण पुरुष कहेगा कि स्थूल मेज सारी क्रिया का कारण नहीं; यह तो उसका परिणाम है। अब दूसरे और तीसरे कारणों को लें। क्या इनमें भी कोई वास्तविक भेद है? शरीर के अंग भी अस्त्र ही हैं, ये सब प्राकृत होने के कारण सामग्री से मिलते-जुलते हैं। उपादान कारण से वास्तविक भेद तो मानसिक चित्र या आकृति का ही है। इस तरह अरस्तू के चारों कारण वास्तव में उपादान और आकारात्मक कारण ही हैं। इसी की व्याख्या अरस्तू ने ऊपर के विवरण में की है—दृष्ट जगत् के सारे पदार्थ सामग्री और आकृति के संयोग हैं। प्रत्येक कारण किसी दूसरे कारण का कार्य है; और यह दूसरा कारण किसी तीसरे कारण का कार्य है। यह क्रम दृष्ट जगत् में कहीं रुकता नहीं। अरस्तू ने परिवर्तन के लिए गति शब्द का प्रयोग किया है; उसके लिए गति केवल स्थान-परिवर्तन ही नहीं है; प्रत्येक प्रकार का परिवर्तन इसके अन्तर्गत आ जाता है। इस शब्द का प्रयोग करें, तो कह सकते हैं कि दृष्ट जगत् का प्रत्येक पदार्थ गति ग्रहण करता है और गति प्रदान भी करता है। इसमें प्रकृति का अंश है; इसलिए यह कारण और कार्य दोनों है। दृष्ट जगत् के बाहर एक सत्ता ऐसी है, जिसमें प्रकृति का लेश नहीं। यह सत्ता परमात्मा है, जो गति का प्रथम जन्मदाता है। वह कारण है, परन्तु किसी अन्य कारण का कार्य नहीं। वह सभी पदार्थों को प्रभावित करता है परन्तु किसी से प्रभावित नहीं होता, क्योंकि प्रभावित होना तो एक प्रकार का परिवर्तन है।

परमात्मा के प्रभाव की शैली क्या है?

जब कोई पदार्थ किसी अन्य स्रोत से गति प्राप्त करता है, तो इसके दो रूप होते हैं—या तो वह पीछे से धकेला जाता है या आगे से आकर्षित होता है। एक सुन्दर युवती बाजार से गुजर रही है; आँखें नीचे पृथिवी पर लगी हैं और अपने विचारों में डूबी है। उसे किसी दूसरे का ध्यान नहीं, परन्तु कई पथिक उसकी ओर आकर्षित हो रहे हैं। यही हाल सुन्दर चित्रों और दृश्यों का है। हम घण्टों तारों पर टकटकी लगाये रहते हैं। वे हमें आकर्षित करते हैं, परन्तु हमें प्रभावित करने में

वे अपनी क्रिया का प्रयोग नहीं करते। अरस्तू के विचारानुसार परमात्मा भी प्राकृत पदार्थों को धकेलता नहीं, प्रियतम की तरह प्रभावित करता है। जगत् पूर्णता की दिशा में बढ़ रहा है।

जीवात्मा की बाबत अरस्तू का विचार क्या है ?

अरस्तू ने देखा कि अनुभव में सामग्री और आकृति कहीं अलग नहीं मिलतीं; और अनुमान कर लिया कि ये दोनों अलग हो ही नहीं सकते। उसने जीवात्मा को आकृति के रूप में देखा, जो प्राकृत सामग्री को मनुष्य-शरीर का रूप देती है। जब यह संघटन टूट जाता है, तो जीवात्मा की स्वतन्त्र हस्ती भी नहीं रहती।

5. दृष्ट जगत्-विवेचन

जैसा पहले कह चुके हैं, आज कोई विज्ञान का विद्यार्थी विज्ञान के लिए अरस्तू की किसी पुस्तक का पाठ नहीं करता। विज्ञान में तथ्य की प्रधानता है, एक तथ्य किसी स्वीकृत सिद्धान्त को अमान्य बनाने के लिए काफी है। तथ्यों की खोज और जाँच परीक्षण और निरीक्षण से होती हैं, और वैज्ञानिक सदा इनका प्रयोग करता रहता है। दार्शनिक विवेचन की स्थिति भिन्न है। यहाँ दृष्ट अवस्था का समाधान प्रमुख है। इस समाधान में विचारकों में मतभेद होता है। किसी समाधान की बाबत पढ़ते हुए हम यही कह सकते हैं कि हम उसे स्वीकार करते हैं या नहीं करते; हम उसके सत्य-असत्य होने की बाबत दावे के साथ कुछ नहीं कह सकते।

अरस्तू से पहले, यूनान के विचारक प्राकृत जगत् के मूल तत्त्व या तत्त्वों की बाबत कल्पना करते रहे थे। द्यौलोक के पदार्थ पृथिवी से बहुत दूर ही नहीं, प्रतिष्ठा में भी पृथिवी से बहुत ऊँचे समझे जाते थे। प्लेटो की तरह अरस्तू भी तारों के देवत्व में विश्वास करता था। अरस्तू ने दृष्ट जगत् को दो भागों में बाँटा। पहले भाग में चन्द्रमा से नीचे जो कुछ है, आता है—अर्थात् पृथिवी और इससे युक्त वायु-मण्डल; दूसरे भाग में जो कुछ चन्द्रमा से ऊपर है, आता है। निचला भाग पृथिवी, जल, वायु और अग्नि—चार तत्त्वों का बना है। 'पृथिवी का स्वभाव विश्व के केन्द्र की ओर, सीधी रेखा में, नीचे गिरना है; अग्नि का धर्म, सीधी रेखा में, विश्व की परिधि की ओर उठना है। वायु और जल में ये दोनों धर्म सम्मिलित हैं, परन्तु वायु अग्नि से अधिक मिलता है और जल पृथ्वी से। इसके फलस्वरूप, वायु में

ऊपर जाने की और जल में नीचे जाने की प्रवृत्ति है। ये चारों तत्त्व मिश्रित हैं। डिमाक्राइटस ने सारे जगत् का मूल तत्त्व परमाणुओं को बताया था। अरस्तू इसे स्वीकार नहीं करता; उसके विचार में ये चारों तत्त्व चार विविध गुणों से बने हैं। ये गुण सर्दी, गर्मी, तरी और खुश्की हैं। पृथिवी में ठंडक और खुश्की पायी जाती है; जल में ठंडक और गीलापन; वायु में गर्मी और गीलापन; अग्नि में गर्मी और खुश्की। इन गुणों के वियोग और नये संयोग से पृथिवी आदि तत्त्व एक दूसरे में बदल भी सकते हैं।

विश्व के दूसरे भाग, द्यौलोक में ये चारों तत्त्व विद्यमान नहीं; वहाँ केवल पाँचवाँ तत्त्व आकाश ही विद्यमान है। चूँकि यह मिश्रित नहीं, इसमें कोई परिवर्तन नहीं होता। द्यौलोक के पदार्थों की गति निचले भाग के तत्त्वों की गति से भिन्न है। ये ऊपर नीचे नहीं जाते। तारों की गति चक्राकार में और निरन्तर होती है। यही उनकी उत्कृष्ट स्थिति के योग्य है।

विश्व के इस विभाजन में प्लेटो का प्रभाव स्पष्ट दिखाई देता है। एक और दिशा में भी यह प्रभाव दीखता है; प्लेटो ने अरस्तू के मन में व्यवस्था का शौक पैदा कर दिया। यह व्यवस्था ही विज्ञान का प्रमुख चिह्न है; विज्ञान व्यवस्थित ज्ञान का ही दूसरा नाम है। अरस्तू ने दृष्ट जगत् और मानव जीवन में व्यवस्था देखी। जगत् में जो कुछ दीखता है, वह न तो अभेद है और न निरा अनेकत्व ही है। हम इसे विविध स्तरों पर व्यवस्थित देखते हैं। अरस्तू ने इन भेदों को आकृति और सामग्री के सिद्धान्त के साथ जोड़ दिया। प्रत्येक पदार्थ में आकृति और सामग्री दोनों अंश विद्यमान हैं, परन्तु ये दोनों एक ही महत्त्व के नहीं होते। किसी में एक की प्रधानता होती है; किसी में दूसरे की। ज्यों-ज्यों हम नीचे से ऊपर की ओर जाते हैं, आकृति का प्रभाव बढ़ता जाता है। संघटन इसका दृष्ट चिह्न है। सबसे नीचे निर्जीव प्रकृति है। मिट्टी का एक ढेर पड़ा है। उसका भी आकार है; परन्तु कोई पशु उसपर चलता है या वर्षा होती है, और उसका आकार बदल जाता है। मिट्टी आदि प्राकृत पदार्थों में सामग्री प्रधान है और आकृति अप्रधान है। अब वृक्ष की ओर देखें। यह जीवित पदार्थ है। जीवन के पहले कुछ दिनों में ही इसकी आकृति निश्चित हो जाती है। वृक्ष पर पक्षी बैठते हैं; वर्षा का पानी भी पड़ता है; परन्तु इसकी आकृति बनी रहती है। इसके सारे भाग समग्र वृक्ष को कायम रखने के लिए काम करते हैं। यह अपनी खुराक का एक भाग जड़ों से प्राप्त करता है;

एक और भाग पत्तों के द्वारा वायुमण्डल से लेता है। नसों से होकर रस नीचे से ऊपर जा पहुँचता है। चेतन प्राणी का संघटन वृक्ष के संघटन से भी अधिक स्पष्ट है। चेतन प्राणी में ज्ञानेन्द्रियाँ और कर्मेन्द्रियाँ मौजूद हैं, और इनकी क्रिया को संघटित करने के लिए तन्तु-जाल मौजूद है। चेतन प्राणियों में सबसे ऊँचे स्तर पर मनुष्य है, जो बुद्धि की सहायता से अनेक प्रकार के हथियार बनाता है, और अन्य प्राणियों की क्रिया को अपनी क्रिया का भाग बना लेता है। जो पुरुष घोड़े पर सवार होकर कहीं जाता है, वह उस समय के लिए छह टाँगों का स्वामी हो जाता है, और अपनी दो टाँगों को थकाये बिना अपना काम कर लेता है।

6. राजनीति और नीति

आजकल हम समाज और राष्ट्र में भेद करते हैं। प्राचीन यूनानी ऐसा भेद नहीं करते थे; वहाँ जीवन के प्रत्येक भाग में राष्ट्र का दखल था। राजनीति और नीति दोनों का विषय मानव का उचित व्यवहार है। प्लेटो ने दोनों का एक साथ ही विचार किया था; अरस्तू ने, वैज्ञानिक प्रवृत्ति के प्रभाव में, तत्त्व-ज्ञान, राजनीति और नीति पर अलग पुस्तकें लिखीं।

प्लेटो ने आदर्श राष्ट्र का चित्र 'रिपब्लिक' में खींचा; वह आदर्शों की दुनिया में रहता था। अरस्तू वस्तुवादी था। जिस परिवर्तन के कारण प्लेटो ने दृष्ट जगत् को असत् कहा, वह अरस्तू की दृष्टि में विशेष महत्त्व रखता था। अरस्तू ने देखा कि मनुष्य जाति की स्थिति बदलती रहती है। उद्देश्य एक ही हो, तो भी साधन बदलते रहते हैं। राष्ट्र का काम नागरिकों की रक्षा करना, उनके जीवन को सुखी बनाना, और सदाचरण को सुगम करना है। हम यह नहीं कह सकते कि राष्ट्र का कोई विशेष रूप हर हालत में अच्छा है या बुरा है। प्रत्येक राष्ट्र की कीमत लगाने के लिए, उसकी विशेष स्थिति देखनी पड़ती है। अरस्तू राष्ट्र को दो नीवों पर क्रमबद्ध करता है—

(1) शासकों की संख्या पर,
(2) गुण-दोष पर।

पहली नींव पर राष्ट्र तीन प्रकार के हैं—

जहाँ एक मनुष्य का शासन है,

जहाँ अल्प संख्या का शासन है,
जहाँ बहु संख्या का शासन है ।

दूसरी नींव पर राष्ट्र अच्छे और बुरे दो प्रकार के हैं ।

दोनों नींवों को एक साथ लें, तो राष्ट्र के छह निम्नलिखित रूप मिलते हैं :

1. राजतन्त्र शासन
2. निरंकुश निर्दयी शासन
3. कुलीनवर्ग शासन
4. सशक्तवर्ग शासन
5. राष्ट्रमण्डल शासन
6. बहुमत शासन

हमें यहाँ 1, 3 और 5 की बाबत विचार करना है ।

प्लेटो के शिष्य, सिकन्दर के शिक्षक, राजकन्या के पति, अमीर तबीयत अरस्तू से यह आशा तो हो नहीं सकती कि वह प्रजातन्त्र राज्य को प्रशंसनीय समझे । ऐसे शासन ने एथेन्स की जो हालत कर दी थी, वह उसके सामने ही थी । राजतन्त्र व्यवस्था और कुलीनवर्ग शासन में, सिद्धान्त रूप से अरस्तू एक अच्छे मनुष्य के शासन को श्रेष्ठ समझता था; परन्तु ऐसा पुरुष मिल भी जाय, तो निरंकुश शक्ति उसे पतित कर देती है । शक्ति और सदाचार में अकसर मित्रता नहीं होती । व्यवहार की दृष्टि से, अरस्तू एक के स्थान में कुछ भले पुरुषों के हाथ में शक्ति देने के पक्ष में था । इतिहास में कुलीनवर्ग-शासन ने कई रूप ग्रहण किये हैं । अरस्तू के ध्यान में योग्य पुरुषों की श्रेणी थी । होता बहुधा यही है कि शक्ति घूम-घामकर धनियों के हाथ में जा पहुँचती है । जब इन लोगों का व्यवहार असह्य हो जाता है, तो क्रान्ति होती है और प्रजातन्त्र राज्य स्थापित हो जाता है ।

एक लेखक के अनुसार, प्राचीन यूनान की सबसे बड़ी देन तीन शब्दों में व्यक्त की जा सकती है—'सीमाहीनता से बचो ।' 'मध्य-मार्ग' अरस्तू के व्यावहारिक विवेचन में केन्द्रीय प्रत्यय था । एक शासक के राज्य और बहुमत के राज्य से उसने कुछ पुरुषों के राज्य को अच्छा समझा । राष्ट्र में किसी वर्ग का बहुत धनवान् होना या बहुत दरिद्र होना राज्य के लिए हानिकारक होता है । मध्यवर्ग राष्ट्र में रीढ़ के सदृश होता है । इसका हित राष्ट्र को स्थिर बनाये रखने में होता है । कोई परिवर्तन

केवल इसलिये नहीं करना चाहिए कि उसमें कुछ लाभ दीखता है; परिवर्तन से जो मानसिक अस्थिरता और अनियमता हो जाती है, वह लाभ की अपेक्षा अधिक हानि कर देती है।

किसी राष्ट्र को न बहुत बड़ा होना चाहिये, न बहुत छोटा। छोटा राष्ट्र अपनी रक्षा नहीं कर सकता; बहुत बड़े राष्ट्र में प्रवन्ध बिगड़ जाता है। अच्छे राष्ट्र के लिए अरस्तू ने 10,000 नागरिकों की सीमा निश्चित की है। जैसा हम देख चुके हैं, प्राचीन यूनान में नगर-राष्ट्र की प्रथा थी।

अरस्तू ने प्लेटो के आदर्श राष्ट्र की आलोचना की है। प्लेटो ने कहा था कि आदर्श राष्ट्र में संरक्षकों को बैरकों का संयुक्त जीवन बसर करना चाहिए; न कोई निजी सम्पत्ति हो, न पारिवारिक जीवन हो। अरस्तू ने इस व्यवस्था को सिद्धान्त और व्यवहार दोनों की दृष्टि से अनुचित ठहराया है। उसके प्रमुख हेतु ये हैं—

(1) जिन लोगों पर शिविर-जीवन थोपा जाता है, उन्हें अपने पद के लिए बहुत बड़ी कीमत देनी पड़ती है। प्रत्येक मनुष्य अपने लिए स्वाधीनता और एकान्त चाहता है; इसी में उसका वास्तविक कल्याण है। मनुष्यों के व्यक्तित्व को दबा देना उनके साथ अन्याय करना है।

(2) सम्पत्ति में मेरे-तेरे का भेद मिटा देने से राष्ट्र का काम सुधरता नहीं, बिगड़ जाता है। 'जो कुछ सबका काम है, वह व्यवहार में किसी का भी काम नहीं होता'। अहंभाव मानव का अंश है; इसका दुरुपयोग तो रोकना चाहिए, पर इसे उखाड़ कर बाहर फेंका नहीं जा सकता। सम्पत्ति व्यक्ति का विस्तार ही है।

(3) पारिवारिक जीवन को मिटाने का सुझाव देते हुए प्लेटो ने मनुष्य को केवल प्राणिविद्या की दृष्टि से देखा। यदि उद्देश्य निश्चित संख्या में बच्चों का पैदा करना ही है, तो प्लेटो की व्यवस्था चल सकती है; परन्तु सन्तान की उत्पत्ति समाज की संख्या को बनाये रखने के लिए ही तो नहीं होती। प्रेम स्त्री और पुरुष को दो से एक बनाता है; यह एकता बच्चे में स्पष्ट रूप में व्यक्त होती है। प्रेम परिवार को जन्म देता है; सन्तान इसे स्थायी बनाती है। प्लेटो ने इस प्राकृतिक प्रेम को महत्त्व नहीं दिया; माता को दूध पिलानेवाली दाई बना दिया है।

नीति

सुकरात ने सदाचार या वृत्त को ज्ञान के रूप देखा था। प्लेटो ने वृत्त के स्वरूप की व्याख्या करने के स्थान में प्रमुख वृत्तों की सूची तैयार करना अपना ध्येय बनाया।

अरस्तू ने इन दोनों से अलग मार्ग चुना। उसे प्रतीत हुआ कि जीवन में अनेक स्थितियाँ प्रकट होती हैं, और हर एक स्थिति में उपयोगी व्यवहार करना होता है। वृत्तों की कोई अन्तिम और निश्चित सूची बनायी नहीं जा सकती। हम यही कर सकते हैं कि उचित व्यवहार के किसी व्यापक नियम को ध्यान में रखें। अरस्तू ने इस नियम को 'मध्य-मार्ग' में देखा—'सीमाहीनता से बचो'। वृत्तों की सूची बनाना तो अरस्तू का काम न था; उसने अपना अभिप्राय प्रकट करने के लिए कुछ उदाहरण दिये हैं। आपत्ति में भयभीत होकर निष्क्रिय हो जाना कायरता है; आपत्ति में बिना सोचे समझे कूद पड़ना धृष्टता है; उपयुक्त मात्रा में, और उपयुक्त ढंग से, शक्ति का प्रयोग करना साहस है। कायरता और धृष्टता दोनों बुराइयाँ हैं, साहस वृत्त है।

धन के व्यय करने में कंजूस एक सीमा पर जाता है; अपव्ययी दूसरी सीमा पर जा पहुँचता है। उदार पुरुष मध्यमार्ग को चुनता है। दूसरों के सम्बन्ध में, दास-वृत्ति का पुरुष एक ओर लुढ़कता है; अभिमानी पुरुष दूसरी ओर लुढ़कता है। सभ्य पुरुष अपने व्यक्तित्व का सम्मान करता है और दूसरों के व्यक्तित्व का भी अपमान नहीं करता।

अरस्तू हमें एक भ्रम में पड़ने से बचाना चाहता है। आचरण-मध्य गणित के मध्य से भिन्न है। 5 और 10 का मध्य दोनों के योग का आधा है। जिस मनुष्य को गणित का कुछ भी ज्ञान है, वह इस मध्य को जान सकता है। आचरण के सम्बन्ध में मध्य का जानना इतना सुगम नहीं। कायरता और धृष्टता का योग कैसे करें? आचरण में मध्य का निश्चय करना व्यावहारिक बुद्धि का मनुष्य ही कर सकता है। दूसरों को धन की सहायता देना सुगम है; परन्तु उचित पुरुष को, उचित समय पर उचित मात्रा में, उचित ढंग से सहायता देना बहुत कठिन है।

यहाँ अरस्तू सुकरात के निकट पहुँच जाता है। सुकरात ने वृत्त को ज्ञान में विलीन कर दिया था; अरस्तू व्यावहारिक बुद्धि को अनिवार्य बताता है। अरस्तू ज्ञान के साथ क्रिया को भी महत्त्व देता है। उसके विचार में वृत्त अभ्यास का फल है। 'गाते गाते ही मनुष्य रागी बनता है।' इसी तरह, अच्छा आचार भले कर्मों के लगातार करने से ही बनता है।

अरस्तू ने भद्र और अभद्र, शुभ और अशुभ, के भेद को जाति-भेद नहीं अपितु अधिक और न्यून का भेद बना दिया। यह उसके सिद्धान्त में त्रुटि है। प्लेटो ने मौलिक

वृत्तों में बुद्धिमत्ता, साहस, संयम और न्याय का जिक्र किया है। अरस्तू ने अपने उदाहरणों में साहस और संयम पर अपने नियम को लागू किया है; बुद्धिमत्ता और न्याय पर लागू नहीं किया। बुद्धिमत्ता वृत्त है। इसकी न्यूनता त्रुटि है; परन्तु इसकी अधिकता कैसे त्रुटि है ? न्याय में उचित मात्रा से आगे जाना क्या है ?

7. अन्तिम दिन और मृत्यु

सुकरात जीवन की संध्या तक अपने भक्तों और शिष्यों से घिरा रहा। प्लेटो की मृत्यु एक शिष्य के घर में हुई, जिसके विवाह की दावत में सम्मिलित होने के लिए वह गया था। दोनों अपनी स्थिति से पूर्णतया सन्तुष्ट थे। अरस्तू के जीवन का अन्तिम भाग कई कारणों से क्लेशित था। सिकन्दर ने अपने राज्य को विस्तृत करने का निश्चय किया था। उसकी दृष्टि यूनान पर पड़ी। एथेन्स अपनी स्वाधीनता खोकर मैसेडोनिया के दल के शासन में आ गया। अरस्तू की स्थिति कठिन हो गयी। वह यूनानी न था; एथेन्स में आने से पहले उसकी वृत्ति बहुत कुछ बन चुकी थी। सिकन्दर के साथ उसका विशेष सम्बन्ध था और सिकन्दर ने, नागरिकों की इच्छा के विरुद्ध, नगर के केन्द्र में उसकी प्रतिमा खड़ी करा दी थी। अरस्तू यह भी समझता था कि यूनान का भला इसी में है कि नगर-राष्ट्र समाप्त हो जाये और सारा देश एक शासन में आ जाये।

एथेन्सवासी खोयी हुई स्वाधीनता वापस पाने के लिए तड़प रहे थे। अरस्तू अपना समय शत्रुओं में व्यतीत कर रहा था। इतने में अचानक सिकन्दर की मृत्यु हो गयी। एथेन्स में क्रान्ति हुई और मैसेडोनिया-दल का अन्त हो गया। एक पुरोहित ने अरस्तू पर आरोप लगाया कि वह प्रार्थना और बलिदान को निष्फल बताता है। अरस्तू एथेन्स से निकल गया, क्योंकि वह 'एथेन्स को, दूसरी बार, दर्शन के विरुद्ध अपराध करने का अवसर देने के लिये तैयार न था।'

एथेन्स छोड़ने के कुछ समय बाद, 322 ई० पू० में अरस्तू का देहान्त हो गया। कोई कहता है, यह किसी रोग का परिणाम था; कोई कहता है कि जीवन से बेजार होकर उसने विष पीकर अपना अन्त कर लिया। कुछ भी हो, अरस्तू के साथ ही एथेन्स का गौरव भी समाप्त हो गया।

पाँचवाँ परिच्छेद

अरस्तू के बाद

एपिक्युरस और स्टोइक सम्प्रदाय

1. सुकरात के अनुयायी

सुकरात ने एथेन्स को दार्शनिक विवेचन का केन्द्र बनाया, जैसा कि हम देख चुके हैं। सुकरात की शिक्षा के सम्बन्ध में तीन बातें विशेष महत्त्व की थीं—

(1) उसने पदार्थों की विभिन्नता और उनके परिवर्तन के मुकाबिले प्रत्यय या लक्षण की निश्चितता और नित्यता को देखा।

(2) उसने लक्षण को निश्चित करने की विधि पर अपने विचार प्रकट किये, और इस तरह आगमन को जन्म दिया।

(3) उसने मनुष्य को अपने विचार का केन्द्र बनाया। जिन विषयों का प्रत्यय स्पष्ट करने में वह लगा रहा, वे सदाचार और सदाचरण से सम्बन्ध रखते थे।

प्रत्यय की नित्यता ने प्लेटो का ध्यान अपनी ओर आकर्षित किया और उसने अपना 'प्रत्ययों का सिद्धान्त' प्रतिपादित किया। अरस्तू ने प्रत्ययों की नित्यता को नहीं, अपितु उनके निश्चित करने की विधि को महत्त्व दिया। इसके फलस्वरूप उसने न्यायशास्त्र की रचना की। सुकरात का अपना प्रिय विषय नैतिक था। कुछ विचारकों ने इसकी ओर विशेष ध्यान दिया, और मानव जीवन के आदर्श को अपने विवेचन का विषय बनाया। इन लोगों में कोई प्लेटो और अरस्तू की कोटि का न था। ये एक दूसरे के साथ इस बात मे भी सहमत न हो सके कि सुकरात की नैतिक शिक्षा क्या थी। सुकरात जिज्ञासु था; वह वृत्त की बाबत संवाद करता रहा, परन्तु इतना भी नहीं किया कि स्पष्ट शब्दों में वृत्त का लक्षण कर दे। उसके अनुयायियों के लिए

इसके सिवाय चारा न था कि सुकरात के जीवन को देखें और निश्चय करें कि जीवन का आदर्श क्या है। उसका जीवन एक पहेली था। उसका जीवन तपस्वी का जीवन था; परन्तु वह एक यूनानी भी था और कभी-कभी दूसरों के साथ रात भर शराब पीने में गुजार देता था। इसके परिणामस्वरूप, सुकरात के अनुयायी दो दलों में बँट गये। इन्हें 'सिनिक' और 'सिरेनेइक' कहते थे। सिनिक अतीव निरोधवादी थे; सिरेनेइक अतीव भोगवादी थे। सिनिक विचार के अनुसार, सुख की अनुभूति से पागल होना अच्छा है; पहली अवस्था पतन है; दूसरी आपत्ति है। सिरेनेइक कहते थे कि प्रत्येक के लिए वर्तमान क्षण का भोग ही अन्तिम लक्ष्य है। यही भेद अरस्तू के पीछे स्टोइक और एपिक्युरियन विचारों के रूप में व्यक्त हुआ। सुकरात की चलायी हुई विचारधारा का मध्य और प्रमुख भाग प्लेटो और अरस्तू की शिक्षा के रूप में चलता रहा है; दायें बायें की दो उपधाराएँ एपिक्युरियन और स्टोइक विचारों के रूप में चलती रही हैं।

2. एपिक्युरस और उसका मत

एपिक्युरस (342-270 ई० पू०) सेमास में पैदा हुआ। उसका पिता अध्यापक था; माता जादू टोने की सहायता से अशिक्षित पुरुष-स्त्रियों को डराती और लूटती थी। एपिक्युरस के पिता ने बाल्यकाल में ही उसके मन में शासकों के अत्याचार के विरुद्ध घृणा पैदा कर दी। एपिक्युरस ने अनुभव किया कि मनुष्यों के दुःख के दो बड़े कारण हैं—(1) मनुष्यों का आपसी व्यवहार, (2) अंधविश्वास। इस अनुभव से उसके कोमल हृदय पर चोट लगी।

बचपन में ही उसे दार्शनिक विचार से एक प्रकार का लगाव हो गया। कहते हैं, अभी वह 12 वर्ष का था, जब उसके अध्यापक ने कहा कि सृष्टि का आरम्भ अव्यवस्था से हुआ। एपिक्युरस ने पूछा—'अव्यवस्था कहाँ से आयी?' अध्यापक ने कहा—'मैं नहीं जानता, न कोई और जानता है'। एपिक्युरस के मन में यह भेद जानने की इच्छा पैदा हो गयी। इस तरह एपिक्युरस के लिए दो प्रश्न खड़े हो गये—

(1) सृष्टि की उत्पत्ति कैसे हुई?
(2) मनुष्य जीवन का कल्याण कैसे हो सकता है?

एपिक्युरस इन विषयों पर सोचता रहा; जो ज्ञान प्राप्त कर सकता था, वह भी

करता रहा। एथेन्स की प्रतिष्ठा से आकर्षित होकर 36 वर्ष की अवस्था में वहाँ पहुँचा, और एक वाटिका लेकर उसमें अपनी पाठशाला स्थापित कर दी। सुकरात की तरह उसने भी लोगों के जीवन-स्तर को उठाना अपना ध्येय बनाया। इन दोनों के दृष्टिकोणों में एक बड़ा भेद था। सुकरात की दृष्टि में अज्ञान जीवन का सबसे बड़ा क्लेश था; एपिक्युरस इस क्लेश को भाव से सम्बद्ध करता था। वह ख्याल करता था कि दार्शनिक का प्रमुख काम मनुष्यों को दुःख से विमुक्त करना है।

हम मनुष्यों के दुःख के दो प्रमुख कारणों की ओर संकेत कर चुके हैं। वातावरण का प्रतिकूल होना भी दुःख का कारण होता है। मनुष्य असीम वातावरण में अपने आपको तुच्छ, अति तुच्छ, बिन्दु पाता है। बाहर की शक्तियों के मुकाबिले उसे अपनी शक्ति शून्य-सी प्रतोत होती है। आरम्भ में वातावरण का ज्ञान बहुत कम होता है। जो आपत्ति आती है, उसके लिए देवी-देवताओं की अप्रसन्नता उत्तरदायी ठहरायी जाती है। यह अप्रसन्नता वर्तमान जीवन को तो कड़वा बनाती ही है; इसके बाद भी हमारा पीछा नहीं छोड़ती। साधारण मनुष्यों के लिए मृत्यु का भय इसी में है कि यह 'उन्हें पकाने की कढ़ाई से निकाल कर जलती आग में' डाल देगी।

एपिक्युरस ने लोगों को मृत्यु और परलोक के भय से मुक्त करने का निश्चय किया। इसके लिए उसने डिमाक्राइटस् के सिद्धान्त का आश्रय लिया। उसने कहा कि दृष्ट जगत् परमाणुओं से बना है; इसके बनाने में किसी चेतन शक्ति का हाथ नहीं। देवी-देवता तो आप परमाणुओं से बने हैं, यद्यपि उनकी बनावट के परमाणु अग्नि के अति सूक्ष्म परमाणु हैं। जीवात्मा भी ऐसे ही परमाणुओं का संघात है। मृत्यु होने पर स्थूल परमाणु वातावरण में जा मिलते हैं; आत्मा के परमाणु, विश्व-अग्नि में जा मिलते हैं। इस जीवन के बाद कुछ रहता ही नहीं; नरक के दण्डों की बाबत कहना और सोचना व्यर्थ है।

यह तो परलोक की बाबत हुआ। अब दूसरा प्रश्न यह है कि इस लोक में, अप्रसन्न देवी-देवतायों से जो क्लेश आते हैं, उनसे कैसे बचें? एपिक्युरस देवी-देवताओं में विश्वास करता था; उनकी पूजा करना उसका दैनिक नियम था। परन्तु उसका ख्याल था कि देवी-देवता द्यौलोक में अपना समय पूर्ण आनन्द में व्यतीत करते हैं; उन्हें पृथिवी पर रहनेवाले प्राणियों के भाग्य में कोई दिलचस्पी नहीं। वे ऐसे तुच्छ झमेलों में उलझने से बहुत ऊपर हैं। उनके सम्बन्ध में हमारा कर्त्तव्य यही है कि हम

उनके गुणों का चिन्तन करें, और जहाँ तक बन पड़े, अपने जीवन में उनके गुणों को प्रविष्ट करें।

संसार में जो कुछ हो रहा है, प्राकृत नियम के अधीन हो रहा है; इसमें किसी चेतन सत्ता का प्रयोजन दिखाई नहीं देता। वर्तमान स्थिति प्रारम्भिक स्थिति नहीं; यह तो परमाणुओं के अनेक सङ्घातों के बाद होनेवाला एक सङ्घात है। हाँ, मनुष्य के जीवन में स्वाधीनता विद्यमान है; वह स्वाधीनता के उचित प्रयोग से अपने आपको सुखी बना सकता है।

मनुष्य का जीवन अल्प है; जन्म के साथ इसका आरम्भ होता है, मृत्यु के साथ इसका अन्त हो जाता है। बुद्धिमत्ता की माँग यही है कि जो कुछ इसमें से निकाल सकते हैं, निकाल लें। तृप्ति या सुख जीवन में अकेली मूल्य की वस्तु है। आजकल 'एपिक्युरियन' शब्द का अर्थ ऐसा मनुष्य है, जो 'खाओ, पिओ और मौज करो' को अपना लक्ष्य बनाता है। इतिहास ने सबसे बड़ा निर्दय मखौल एपिक्युरस के साथ किया है। आरम्भ में उसने क्षणिक तृप्ति को महत्त्व दिया हो, तो भी पीछे उसने दुःख की निवृत्ति को ही आदर्श समझा। भाव की प्रधानता एक त्रुटि है। किसी प्रकार की स्थिति में विचलित न होना, हर हालत में 'सन्तुलन बनाये रखना भले पुरुष का चिह्न है। दार्शनिक का काम आप ऐसा स्वभाव वनाना और दूसरों को ऐसा स्वभाव वनाने में सहायता देना है।

जब हमारी इच्छा पूरी नहीं होती, तो हमें दुःख होता है। हमें सोचना चाहिए कि क्या हमारी इच्छा इस योग्य भी है कि वह पूरी हो। हमारी इच्छाओं में कुछ ऐसी होती हैं जो प्राकृत हैं, और इनका पूरा होना आवश्यक है। कुछ इच्छाएँ प्राकृत तो होती हैं, परन्तु इनका पूरा होना आवश्यक नहीं होता। कुछ इच्छाएँ न प्राकृत होती हैं और न ही उनका पूरा करना आवश्यक होता है। जिन इच्छाओं के पूरा न होने से कोई शारीरिक दुःख नहीं होता, वे अनावश्यक हैं। यदि उनके पूरा करने में, बहुत परिश्रम करने पर, सुख अनुभव होता है, तो यह निर्मूल कल्पना का फल है। अपनी आवश्यकताओं को कम करो; इससे मनको शान्ति प्राप्त होगी। साधारण रोटी और पानी एपिक्युरस की तृप्ति के लिए पर्याप्त थे; उसका मद दार्शनिक विचार का मद ही था।

जिस पुरुष का अपना व्यवहार बुद्धि के अनुकूल और न्याययुक्त है, वह क्लेशों

से बच सकता है । न्याय का कोई तात्त्विक अस्तित्व नहीं; जो कुछ मनुष्यों ने सामाजिक व्यवहार में उचित ठहरा लिया है, वह न्याय है; जो कुछ सामाजिक हित के प्रतिकूल ठहराया गया है, वह अन्याय है । दूसरों के हित में कुछ कर सकते हो तो करो; नहीं कर सकते तो झमेलों से अलग रहो । ऐसी अवस्था में जो सामन्जस्य प्राप्त होता है, वह दूसरों के आक्रमण से बचने का साधन है । शारीरिक दुःखों में, जो दुःख तीव्र है, वह देर तक रहता नहीं; जो देर तक रहता है, वह तीव्र नहीं होता । कैसी अच्छी व्यवस्था है !

सुकरात की तरह एपिक्युरस भी समझता था कि कोई मनुष्य जान बूझ कर अभद्र के पीछे नहीं भागता ।

यहाँ तक जो कुछ कहा गया है, उससे प्रतीत होता है कि स्वाधीन, संयुक्त जीवन एपिक्युरस का आदर्श था; परन्तु सुखी जीवन के लिए वह सादगी, बुद्धिमत्ता और न्याय के साथ मित्रता को भी आवश्यक समझता था । अरस्तू ने भी मित्रता को वृत्तों में गिना है ।

72 वर्ष की उम्र में एपिक्युरस को एक असाध्य रोग ने आ पकड़ा । उसने अपने एक मित्र को लिखा—'मेरा रोग असाध्य है, मेरा दुःख असह्य है; परन्तु इस दुःख से अधिक वह सुख है जो मैं तुम्हारी बातों को याद करके अनुभव कर रहा हूँ ।'

एपिक्युरस ने बहुत-सी पुस्तकें लिखीं; परन्तु अब जो कुछ विद्यमान हैं, वे कुछ पत्र, कुछ लेखों के अल्पांश, और कुछ 'विचार' हैं । एपिक्युरस के सिद्धान्त का सबसे प्रसिद्ध व्याख्यान लुक्रिश्यस (99–55 ई० पू०) के एक काव्य में मिलता है ।

3. स्टोइक सिद्धान्त

एपिक्युरस का सिद्धान्त केवल एपिक्युरस का सिद्धान्त था । स्टोइक सिद्धान्त की बाबत ऐसा नहीं कह सकते । सम्प्रदाय की स्थापना साइप्रस के ज़ीनो (342–280 ई० पू०) ने की । यह एक अजीब योग है कि ज़ीनो और एपिक्युरस एक साथ पैदा हुए, एक साथ मरे, और करीबन एक साथ ही दोनों ने बाहर से आकर एथेन्स में काम करना आरम्भ किया ।

ज़ीनो ने अपनी शिक्षा कुछ सिनिक शिक्षकों से प्राप्त की । उसके पीछे, क्लियन-

थीस और क्रिसिप्पस ने उसका काम जारी रखा। यह नहीं कह सकते कि इनमें से प्रत्येक ने सिद्धान्त को निश्चित रूप देने में क्या भाग लिया। कुछ समय के बाद यह सिद्धान्त रोम में पहुँचा, और एपिक्टिटस, सेनेका, और मार्कस आरेलियस जैसे मननशील लेखकों ने इसे एक निश्चित और विख्यात रूप दे दिया। एपिक्युरस का मत यूनान में विकसित हुआ; स्टोइक सिद्धान्त ने अपने विकास के लिए रोम में उपयोगी वातावरण पाया। यह एक संयोग ही था या इसका कुछ कारण भी हो सकता है ?

दर्शन जाति के जीवन का केन्द्रीय भाग होता है; यह जीवन के अन्य भागों से अलग थलग, शून्य में, न जन्मता है, न विकसित होता है। सुकरात, प्लेटो और अरस्तू अपने समय के एथेन्स के प्रतिनिधि नागरिक न थे; वे ऐसे जुगुनुओं की तरह थे, जो अँधेरे वन में चमकते हैं। उस समय की अव्यवस्था का बौद्धिक प्रदर्शन साफ़िस्ट करते थे। अरस्तू के समय में तो स्वाधीनता भी जाती रही। जब बाहर हर ओर खंड-हरों के ढेर ही दीखते हों, तो मनुष्यों की दृष्टि अन्दर की ओर फिरती है; वे वहाँ अपने दुःखों का इलाज ढूँढ़ना चाहते हैं। जो लोग निचले स्तर पर रहते हैं, वे क्षणिक तृप्ति की शरण लेते हैं; जो लोग ऊँचे स्तर पर होते हैं, वे ज्ञान-ध्यान की ओर झुकते हैं। यूनान की गिरावट में भोगवाद ही लोगों को आकर्षित कर सकता था। स्टोइक आदर्श ऊँचे शिखर पर स्थित था; वहाँ पहुँचने की उनमें हिम्मत न थी। रोम उन्नत अवस्था में था; वहाँ लोग आगे बढ़ने को उत्सुक थे। जिस त्याग और तपस्या की स्टोइक सिद्धान्त माँग करता था, वे उसके योग्य थे। स्टोइक सिद्धान्त रोम में फल-फूल सकता था।

स्टोइक सिद्धान्त के दो प्रमुख व्याख्याता एपिक्टिटस और मार्कस आरेलियस (121–180) थे। एपिक्टिटस दास था; आरेलियस सम्राट् था। आपत्ति ही नहीं, विवेचन भी असाधारण साथी बना देता है। एपिक्टिटस के स्वामी ने अपने मनोरंजन के लिए उसकी टाँग को शिकंजे में कसा और उसे घुमाने लगा। जब एपिक्टिटस को बहुत पीड़ा हुई, तो उसने कहा—'मालिक ! शिकंजे को अधिक घुमाओगे, तो टाँग टूट जायगी।' मालिक ने उसे और घुमाया और टाँग टूट गयो। एपिक्टिटस ने कहा—'मालिक ! मैंने कहा तो था कि टाँग टूट जायगी।'

जैसी हम आशा कर सकते हैं, एपिक्टिटस की शिक्षा प्रायः नैतिक थी; और उसमें व्यक्ति प्रधान था। आरेलियस में तात्विक पहलू प्रमुख है, और व्यक्ति की अपेक्षा समाज प्रधान है। एक पढ़े-लिखे सम्राट् के लिए यह स्वाभाविक ही था।

प्लेटो ने कहा था कि मनुष्यों के क्लेश तभी दूर हो सकते हैं, जब दार्शनिक शासन करें या शासक दार्शनिक बन जायें।

किसी दार्शनिक को शासक बनाने की सम्भावना उसे दिखाई नहीं दी; उसने दो बार शासकों को दार्शनिक बनाने का यत्न किया, परन्तु इसमें सफल नहीं हुआ। जो कुछ यूनान या उसके आसपास नहीं हो सका, वह पर्याप्त समय बीतने पर रोम में साक्षात् दिखाई दिया। आरेलियस दार्शनिक-सम्राट् था। कुछ लोग इसे स्वीकार नहीं करते और कहते हैं कि वह दार्शनिक-सम्राट् नहीं था; केवल दार्शनिक और सम्राट् था। दोनों आरेलियस एक शरीर में वास करते थे; इससे अधिक उनका सम्बन्ध न था। आरेलियस के शासन में कोई बात ऐसी न थी जो प्लेटो के आदर्श के अनुकूल रही हो। हमारा सम्बन्ध यहाँ दार्शनिक आरेलियस से है।

स्टोइक सिद्धान्त में नीति प्रमुख है, परन्तु न्याय और भौतिक विवेचन के लिए भी स्थान है। प्लेटो ने कहा था कि इन्द्रियजन्य ज्ञान तो आभास मात्र है; वास्तविक ज्ञान प्रत्ययों की देन है। स्टोइक विचार के अनुसार हमारे सारे ज्ञान का मूल इन्द्रिय-जन्य बोध है। प्रत्ययों का कोई वस्तुगत अस्तित्व नहीं; वे केवल हमारी मानसिक रचना हैं, जो विशेष पदार्थों को देखने पर प्रकट होती हैं। चूँकि सारा ज्ञान इन्द्रियजन्य है, सत्य और असत्य में भेद यही है कि कभी हमारा ज्ञान बाह्य स्थिति के अनुकूल होता है; कभी उसके अनुकूल नहीं होता। यह कथन समस्या को एक पग पीछे धकेल देता है। स्वप्न में हमें प्रतीत होता है कि हम बाह्य पदार्थों के स्पष्ट सम्पर्क में हैं; जागने पर पता लगता है कि हम तो अपनी कल्पनाओं से खेल रहे थे। स्वप्न और जागरण में भेद क्या है? स्टोइक विचार के अनुसार, बाह्य प्रभाव जिस तीव्रता और जोर से हमारे मन पर चोट लगाते हैं, वे कल्पना की हालत में मौजूद नहीं होते। इस तरह, सत्य और असत्य के भेद को वैयक्तिक भावना का विषय बना दिया गया।

दृष्ट जगत् के सम्बन्ध में उन्होंने कहा कि जो कुछ भी है, प्राकृत है। प्रकृति से अलग किसी चेतन की स्वतन्त्र सत्ता नहीं। उनका ख्याल था कि प्लेटो और अरस्तू का द्वैतवाद मान्य नहीं, और चूँकि प्रकृति को चेतना का रूप सिद्ध नहीं कर सकते, चेतना को प्रकृति की क्रिया का फल समझना चाहिए। इसके अतिरिक्त, अनुभव बताता है कि शरीर और मन एक-दूसरे पर प्रभाव डालते हैं। मैं लिखना चाहता हूँ और मेरे शरीर के कुछ अंग हिलने लगते हैं; मेरे पाँव पर पत्थर आ पड़ता है और मुझे

पीड़ा होती है। दो असमान पदार्थों में ऐसा सम्बन्ध या सम्पर्क हो नहीं सकता; इसलिए प्रकृति और चेतना में चुनाव पड़ता है और प्रकृति का पक्ष बलिष्ठ है।

जीवात्मा और परमात्मा भी प्राकृत हैं, वे दोनों अग्नि-रूप हैं। परमात्मा सारे विश्व में व्याप्त है; इसी तरह जीवात्मा सारे शरीर में मौजूद है। परमात्मा बुद्धि-स्वरूप है। इसका परिणाम यह है कि संसार में नियम का राज्य है, और वह व्यापक है। मनुष्य भी पूर्णतया इस शासन के अधीन है; अन्य शब्दों में, वह भी स्वाधीन नहीं। यहाँ स्टोइक सिद्धान्त एपिक्युरस के सिद्धान्त से भिन्न है : एपिक्युरस मानव स्वाधीनता में विश्वास करता था। जैसा हम अभी देखेंगे, इस भेद ने आम दृष्टिकोण में बड़ा भेद पैदा कर दिया।

सृष्टि और प्रलय का चक्कर जारी रहता है; प्रत्येक सृष्टि किसी अन्य सृष्टि को पूर्ण रूप में दुहराती है।

अब हम स्टोइक नीति की ओर आते हैं।

हमने ऊपर कहा है कि स्टोइक विचारक सारे विश्व में एक ही नियम का शासन देखते थे और वह नियम बुद्धि का नियम था। बाहर संसार में जो कुछ हो रहा है, नियमानुसार हो रहा है। मनुष्य के लिए भी नियम यही है—'नेचर या नियम के अनुसार विचरो'। जो बुद्धि बाहर काम कर रही है, वही मनुष्य के अन्दर भी काम कर रही है। इसलिए 'नेचर के अनुकूल चलो' और 'बुद्धि के अनुकूल चलो' एक ही आदेश हैं।

जीवन में जो घटनाएँ होती हैं, उनके सम्बन्ध में क्या मनोवृत्ति बनायें? एपिक्युरस ने कहा था कि कोई घटना अपने आपमें अच्छी या बुरी नहीं; हमारी सम्मति उन्हें अच्छा-बुरा बनाती है। क्या किसी पुरुष ने मेरा अपमान किया है? यह तो मेरे समझने की बात है। यदि मैं समझूँ कि अपमान हुआ है, तो हुआ है; यदि समझूँ कि नहीं हुआ, तो नहीं हुआ। मेरी घड़ी किसी ने उठा ली है। क्या इससे मेरी हानि हुई है? यह भी समझने का प्रश्न है। यदि मैं समझ लूँ कि मुझे घड़ी की आवश्यकता ही नहीं, तो जो कुछ मैंने खोया है, उसकी कोई कीमत ही नहीं। हानि कहाँ हुई है? तुम स्वाधीन हो; अपनी स्वाधीनता का उचित प्रयोग करके विश्वास करो कि तुम्हारे लिए कोई घटना अभद्र हो ही नहीं सकती। सुकरात के शब्दों में, 'भले पुरुष पर कोई आपत्ति आ ही नहीं सकती।'

स्टोइक विचारक स्वाधीनता में विश्वास नहीं करते थे। वे भद्र और अभद्र दोनों के अस्तित्व से नहीं, केवल अभद्र के अस्तित्व से इनकार करते थे। संसार में बुद्धि का पूर्ण शासन है; इसलिए जो कुछ होता है, ठीक ही होता है। उसे खुशी से स्वीकार करो; वृथा अपने आपको दुःखी न करो।

4. सिनिक और स्टोइक विचार

जैसा हम कह चुके हैं, स्टोइक विचारकों ने सिनिक विचार को जारी रखा; परन्तु इसमें कुछ परिवर्तन भी कर दिया। दोनों में प्रमुख भेद ये हैं—

(1) सिनिक विचार के अनुसार नैतिक भद्र ही मूल्यवान् है; अन्य सारी वस्तुएँ मूल्य से शून्य हैं और इसलिए एक ही स्तर पर हैं। स्टोइक विचारकों ने भद्र और अभद्र के सम्बन्ध में मौलिक नियम को अपनाये रखा, परन्तु अन्य पदार्थों में भी भेद किया। भले पुरुष के लिए स्वास्थ्य बीमारी से अच्छा है। (2) सिनिक विचार के अनुसार वृत्त एक ही है। प्रत्येक मनुष्य या नेक है या बुरा है; नेकी और बुराई दोनों एक साथ नहीं हो सकतीं। इस सम्बन्ध में स्टोइक विचारकों के सामने दो कठिनाइयाँ उपस्थित हुईं। लोग उनसे पूछते थे कि ऐसी हालत में भद्र पुरुष को कहाँ देख सकते हैं। वे यही कहते थे—'सम्भवतः सुकरात और देवजानस ऐसे पुरुष हुए हैं।' लोग उनसे यह भी पूछते थे कि वे आप किस श्रेणी में हैं। न वे अपने आपको त्रुटि से मुक्त कह सकते थे, न अपने आपको दूसरों के स्तर पर रखने के लिए तैयार थे। अन्त में विवश होकर, उन्होंने वृत्त और पतन के कई दर्जों को स्वीकार किया। (3) स्टोइक विचारकों ने अनुभव किया कि भाव मानव प्रकृति का आवश्यक अंश है, और इसे भी गौण मूल्य दिया।

इन विचारों को रखते हुए स्टोइक विचारक मनुष्यों में भले बुरे का भेद तो करते थे, परन्तु अन्य भेदों को, जिन्होंने मनुष्यों को अनेक वर्गों में बाँट रखा है, कोई महत्त्व न देते थे। उनकी दृष्टि में सब मनुष्य भूमण्डल के नागरिक हैं—स्वामी और दास, गोरे और काले, धनी और निर्धन सभी बराबर हैं। मानव की बन्धुता का ख्याल उनकी बहुमूल्य देन है।

एपिक्टिटस और आरेलियस के कुछ कथन

इस विवरण के बाद हम एपिक्टिटस और आरेलियस के कुछ कथन नीचे देते हैं, ताकि वे अपने शब्दों में भी अपने कुछ विचार कह सकें।

एपिक्टिटस के कथन

एपिक्टिटस ने आप कुछ नहीं लिखा, परन्तु उसके कथन दो पुस्तकों के रूप में मिलते हैं—'प्रवचन' और 'छोटी पुस्तक'। 'छोटी पुस्तक' 53 सूक्तियों का संग्रह है। कुछ सूक्तियाँ ये हैं—

11. 'किसी वस्तु की बावत यह न कहो—'मैंने इसे खो दिया है', अपितु कहो—'मैंने इसे लौटा दिया है'। तुम्हारा बालक जाता रहा है? तुमने उसे वापस किया है। तुम्हारी पत्नी की मृत्यु हो गयी है? तुमने उसे वापस किया है। तुम्हारी भूमि तुमसे छीन ली गयी है? क्या यह भी वापस नहीं की गयी? तुम कहते हो—'छीनने वाला दुष्ट है।' इसमें क्या भेद पड़ता है कि दाता अपनी देन को वापस लेने के लिए किस पुरुष को साधन बनाता है? जितने काल के लिए वह तुम्हें देता है, इसका ध्यान रखो; परन्तु अपनी सम्पत्ति समझकर नहीं। जैसे यात्री सराय की बावत भावना रखते हैं, तुम भी इन वस्तुओं की बावत वैसी भावना ही रखो।'

15. 'जीवन में तुम्हारा व्यवहार ऐसा होना चाहिये, जैसा किसी भोज में होता है। थाली घूमती हुई तुम्हारे सामने आती है; हाथ बढ़ाओ और शिष्टता से उसमें से कुछ ले लो। वह तुम्हारे पास से गुजर जाती है, तो उसे रोको नहीं। अभी तुम तक पहुँची नहीं, तो व्याकुल न हो; अपनी बारी आने तक प्रतीक्षा करो। यदि तुम बच्चों, पत्नी, पद, धन की बाबत ऐसा व्यवहार करोगे, तो एक दिन देवताओं के साथ भोज में बैठने के पात्र बनोगे। परन्तु यदि इन्हें भोगते हुए, तुम इन्हें निर्मूल समझ सको, तो देवताओं के भोज में ही शामिल न होगे, उनके शासन में भी तुम्हारा भाग होगा।'

17. 'तुम्हारी स्थिति नाटक के पात्र की है; नाटक का रचने वाला इसकी विधि को निश्चित करता है। यदि वह इसे अल्प बनाना चाहता है, तो यह अल्प होगा; यदि इसे लम्बा बनाना चाहता है, तो लम्बा होगा। यदि उसकी इच्छा यह है कि तुम एक दरिद्र का पार्ट करो, तो इसे अपनी सारी योग्यता के साथ करो; ऐसा ही करो, यदि तुम्हारा भाग लँगड़े मनुष्य, न्यायाधीश, या साधारण मनुष्य का है। तुम्हारा काम नियत भाग का करना और अच्छी तरह करना है; भागों की नियुक्ति तो किसी अन्य का काम है।'

51. 'जब कभी तुम्हें दुःखद या सुखद, प्रतापी या अप्रतापी स्थिति का सामना करना पड़े, तो स्मरण रखो कि संघर्ष की घड़ी आ पहुँची है; मुकाबला अभी होना है और तुम इसे टाल नहीं सकते। एक दिन में और एक क्रिया से निश्चित हो जायगा कि जो उन्नति तुम कर चुके हो, वह कायम रहती है या विनष्ट हो जाती है। इस तरह सुकरात ने अपने आपको प्रवीण किया—सारी स्थितियों में बुद्धि और केवल बुद्धि की परवाह की। और यदि तुम अभी सुकरात नहीं बने, तो ऐसे मनुष्य का व्यवहार करो, जो सुकरात बनने की अभिलाषा करता है।'

मार्कस आरेलियस के कथन

मार्कस आरेलियस के 'विचार' स्टोइक सिद्धान्त का बहुत अच्छा विवरण प्रस्तुत करते हैं। कुछ 'विचार' नीचे दिये जाते हैं।

2 (9) 'सदा समग्र के स्वरूप और अपने स्वरूप को ध्यान में रखो; इन दोनों के सम्बन्ध को भी ध्यान में रखो। यह भी याद रखो कि जिस समग्र का तुम भाग हो, उसके अनुकूल व्यवहार करने से कोई अन्य मनुष्य तुम्हें रोक नहीं सकता।'

2 (16) 'आत्महिंसा के अनेक रूप हैं : प्रथम तो जब आत्मा विश्व पर फोड़ा बन जाती है, वह अपनी हिंसा करती है। जब कोई मनुष्य किसी घटना से बड़बड़ाता है, तो अपने आपको विश्व से, जिसमें शेष सब वस्तुएँ भी सम्मिलित हैं, अलग कर लेता है। दूसरे प्रकार की आत्महिंसा में मनुष्य किसी दूसरे को हानि पहुँचाना चाहता है। क्रोध में ऐसा ही होता है। आत्म-हिंसा का तीसरा रूप किसी उद्वेग के प्रभाव में होना है। चौथे प्रकार की आत्म-हिंसा वचन या कर्म में मिथ्यावादी या कपटी होना है। बिना प्रयोजन और बिना सोचे विचारे काम करना पाँचवें प्रकार की आत्म-हिंसा है।'

3 (5) 'जो कुछ करो, खुशी से करो; सर्वहित को ध्यान में रखकर करो; सोच विचार के बाद और शान्त अवस्था में करो। अपने विचारों को अलंकृत करने की चेष्टा न करो; न बहुत बोलो, न बहुत कामों में दखल दो। तुम्हारी आत्मा एक जीते-जागते, साहसी पुरुष की पथप्रदर्शक हो—ऐसे पुरुष की जो अच्छी आयु भोगे; परन्तु एक रोमन, एक शासक की तरह, हर समय बुलावा

आने पर अपना पद छोड़ने के लिए तैयार हो। मनुष्य को आप सीधा खड़ा होना चाहिये, न कि यह कि दूसरे उसे सहारा देकर सीधा खड़ा रखें।'

4 (3) 'लोग निर्जन स्थानों में जाते हैं—ग्रामों में, समुद्र के किनारे, और पर्वतों पर; और तुम भी ऐसे स्थानों में जाना चाहते हो। परन्तु यह तो साधारण मनुष्यों का चिह्न है; तुम तो जब चाहो, अपने अन्दर पहुँच सकते हो। जो सुख और शान्ति अपनी आत्मा में प्राप्त हो सकती हैं, वे और कहीं प्राप्त नहीं हो सकती; विशेष करके जब मनुष्य की आत्मा में शान्ति देने वाले विचार मौजूद हों। मैं कहता हूँ— 'शान्ति का अर्थ मन को व्यवस्थित रखना ही है'।

'दो बातें याद रखो—एक यह कि बाह्य पदार्थ आत्मा को प्रभावित नहीं कर सकते; दृढ़ रहो; दूसरी यह कि संसार के सारे पदार्थ, जिन्हें तुम देखते हो, चलायमान हैं। कितनी बार तुम इन्हें बदलता देख चुके हो। ब्रह्मांड परिवर्तन है, जीवन सन्मति है।'

4 (40) 'सदा विश्व को जीवित प्राणी के रूप में देखो, जिसका तक तत्त्व और एक आत्मा है। यह भी देखो कि जो कुछ होता है, उस एक प्राणी का ही बोध है; सारे पदार्थ एक गति में चलते हैं, और प्रत्येक वस्तु की स्थिति में सभी पदार्थों का सहयोग हुआ है। सूत के निरन्तर कतने और जाल की बनावट का भी ध्यान करो।'

■

दूसरा भाग

मध्य काल का दर्शन

छठा परिच्छेद

टामस एक्विनस

1. जीवन की झलक

यूनान और रोम के दार्शनिक विचारों के बाद एक लम्बे काल के लिए दर्शन की स्थिति स्थगित-जीवन की स्थिति रही। 13 वीं शताब्दी में अरबों और यहूदियों ने अरस्तू की पुस्तकों का अनुवाद शिक्षित पश्चिम के सम्मुख प्रस्तुत किया। ईसाई धर्म का प्रचार अनेक देशों में हो चुका था और चर्च एक बड़ी शक्ति बन गया था। अरस्तू के विचारों की बाबत आम ख्याल यह था कि वे जगत् के प्राकृतिक समाधान की पुष्टि करते हैं, और इस तरह ईसाइयत के लिए एक खतरा है। जब पेरिस विश्वविद्यालय की स्थापना हुई, तो निश्चय किया गया कि वहाँ अरस्तू का न्याय पढ़ाया जाये, नीति के पढ़ाने में कोई आपत्ति नहीं, परन्तु उसके तत्त्व-ज्ञान और भौतिक विज्ञान निषिद्ध माने गये।

टामस एक्विनस (1224-1274) ने अरस्तू का अध्ययन किया और अनुभव किया कि उसका प्रभाव रुक नहीं सकेगा। उसने अरस्तू की ईसाइयत का चित्र बनाना चाहा, और अपने व्याख्यानों और लेखों में यह सिद्ध करने का यत्न किया कि अरस्तू ईसाई सिद्धान्त की पुष्टि नहीं करता, तो विरोध भी नहीं करता। एक्विनस ने ईसाई सिद्धान्त को प्रमाणित करने का यत्न किया, और इसके लिए अरस्तू से जितनी सहायता मिल सकती थी, ली।

दार्शनिक दृष्टि से यह एक त्रुटि थी। दर्शन का तत्त्व ही यह है कि बुद्धि को पूरी स्वाधीनता दी जाये और बिना किसी रोक के इसे सत्य की खोज में आगे बढ़ने दिया जाये। एक्विनस पादरी था; उसने ईसाई सिद्धान्त को सर्वांश में स्वीकार किया। उसने अरस्तू को भी लगभग सर्वांश में स्वीकार किया और इन दोनों की एकरूपता

स्थापित करना अपना लक्ष्य बनाया। उसने दर्शन को ब्रह्मविद्या की दासी बनाया। यही हाल मध्यकाल के अन्य विचारकों का था।

एक्विनस इटली के एक काउण्ट का पुत्र था। काउण्ट के छह पुत्र कुल की मर्य्यादा के अनुसार सेना में भरती हुए, परन्तु सातवाँ, टामस, इसके लिए तैयार न हुआ। एसिसी के सेंट फ्रैन्सिस के जीवन ने उसे बहुत प्रभावित किया। फ्रैन्सिस एक धनी परिवार में पैदा हुआ था, परन्तु उसने अपने लिए संन्यासी का जीवन चुना। टामस ने फ्रैन्सिस का अनुसरण करने का निश्चय किया। उसने नेपल्स में शिक्षा प्राप्त की। इसके बाद माता-पिता को अपने निश्चय की बाबत बताया। जैसी आशा की जा सकती थी, उन्होंने इसे पसन्द नहीं किया, और उसपर सैनिक बनने के लिए दबाव डाला। टामस ने चुपके से घर छोड़ दिया, और संन्यासी मण्डली में शामिल हो गया। उसके भाइयों ने उसका पीछा किया और वे उसे पकड़ कर वापस लाये। कुछ काल के लिए वह अटारी की एक कोठरी में बन्द कर दिया गया। वह वहाँ से निकल कर फ्रांस के प्रसिद्ध शिक्षक एलबर्ट के पास पहुँचा, और उससे ब्रह्मविद्या की शिक्षा प्राप्त की।

32 वर्ष की उम्र में वह ब्रह्मविद्या का प्रोफेसर नियुक्त हुआ। अध्यापन के साथ प्रचार और लेखक का काम भी करने लगा। उसकी प्रमुख पुस्तक 'ब्रह्मविद्या का सारांश' है। उसका प्रमुख काम नास्तिकों और धर्मनिन्दकों की जुबान बन्द करना था। वह मनन में मस्त रहता था; कभी-कभी तो उसे यह भी ध्यान नहीं रहता था कि वह कहाँ है। कहते हैं, एक बार पेरिस के राजभवन में भोज हुआ। निमन्त्रित पुरुषों में एक्विनस भी था। जब राजा बहुत जोश में कुछ कह रहा था, जनसमूह में एक पुरुष ने जोर से मेज पर हाथ मारा, और कहा—'बस इससे नास्तिक समाप्त हो जायँगे।' क्रुद्ध राजा ने विघ्न करने वाले की ओर देखा। यह एक्विनस ही था। उसने उठकर कहा—'महाराज! मैं अपने विचारों में मस्त था, और भूल ही गया था कि राजभवन के भोज में बैठा हूँ। नास्तिकों के विरुद्ध कुछ तर्क मेरे मन में प्रस्तुत हुए और वे प्रकट हो गये।' राजा मुस्कुरा पड़ा और कहा—'मेरा लेखक तुम्हारी युक्तियों को लेखबद्ध कर लेगा, ताकि इन्हें भी न भूल जाओ।'

व्याख्यान देते समय, एक्विनस का सिर ऊपर की ओर उठा होता था, और आँखें बन्द हो जाती थी।

2. एक्विनस का मत

दृष्ट जगत्

अरस्तू ने सांसारिक पदार्थों के समाधान में सामग्री और आकृति का भेद किया था। आकृति से उसका अभिप्राय वह शक्ति थी जो प्रकृति को निश्चित रूप देती हैं। एक्विनस ने इस भेद को तात्त्विक रूप में स्वीकार किया। ईसाई पादरी होने के कारण वह यह नहीं मानता था कि मूल प्रकृति अनादि हैं, और प्रथम गति के वाद जो कुछ परिवर्तन इसमें हुआ है, उसका कारण इसके अन्दर मौजूद है। उसका ख्याल था कि परमात्मा ने जगत् को अभाव से उत्पन्न किया, और उत्पत्ति के बाद पदार्थों की स्थिरता भी परमात्मा की क्रिया पर निर्भर है। उसने अरस्तू की सामग्री और आकृति का स्थान 'सम्भावना' और 'क्रिया' को दिया। प्रारम्भिक अवस्था में प्रकृति 'सम्भावना' ही है; परमात्मा में सम्भावना और वास्तविकता अभेद हैं, क्योंकि वह तो हर प्रकार के परिवर्तन से ऊपर है। मेरे ज्ञान में उन्नति होती है; परमात्मा के लिए नये ज्ञान की सम्भावना ही नहीं। वह सब कुछ जानता है; उसके लिए नये-पुराने का भेद कुछ अर्थ ही नहीं रखता।

सारे सीमित पदार्थों में सम्भावना और क्रिया मिली हुई हैं। इनका भेद इसलिए है कि सारी सम्भावना एक रूप की नहीं। चेतन प्राणियों के शरीर भिन्न-भिन्न हैं। प्रत्येक शरीर अपने अन्दर वास करने वाले जीव को अपनी विशेषताओं से विशिष्ट कर देता है। इस तरह हम किसी वस्तु की वाबत जान सकते हैं कि वह है, और क्या है।

हम जगत् के पदार्थों को जान सकते हैं, क्योंकि हम बुद्धिमान् हैं, और जगत् में भी एक ऐसी सत्ता का शासन है। बाह्य जगत् में नियम का राज्य होने के कारण ही हम उसे समझ सकते हैं। नियम के राज्य का अर्थ यही है कि परिवर्तन के साथ स्थिरता भी विद्यमान है।

ब्रह्मविद्या

ब्रह्मविद्या के सम्बन्ध में एक्विनस ने जो विचार प्रकट किये हैं, उनमें से दो विषयों की बावत हम यहाँ कहेंगे—

ईश्वर की सत्ता में प्रमाण,
ईश्वरीय शासन।

ईश्वर की सत्ता

एक्विनस की सम्मति में दार्शनिक विवेचन अनुभव पर आधारित है। क्या हमारे अनुभव में कोई ऐसे तथ्य आते हैं, जिनपर मनन करने से हमें ईश्वर की सत्ता का अनुमान करने को बाध्य होना पड़ता है ? एक्विनस ने इस प्रकार के पाँच तथ्यों को देखा, और उनकी नींव पर पाँच युक्तियों से ईश्वर की सत्ता को सिद्ध करना चाहा। वे युक्तियाँ ये हैं—

(1) 'यह निश्चित है, और इन्द्रियजन्य अनुभव से स्पष्ट है, कि इस जगत् में कुछ पदार्थ गतिशील किये जाते हैं।'

(2) 'हम प्राकृत पदार्थों में निमित्त कारणों का क्रम देखते हैं।'

(3) 'हम देखते हैं कि सांसारिक पदार्थों में कुछ में भाव या अभाव, होने या न होने, की क्षमता है, क्योंकि हम देखते हैं कि कुछ पदार्थ प्रकट होते हैं और अदृष्ट हो जाते हैं।'

(4) 'हम देखते हैं कि पदार्थों में भद्र, सत्य, और श्रेष्ठता आदि का भेद है; कुछ पदार्थों में अन्य पदार्थों की अपेक्षा ये गुण अधिक पाये जाते हैं।'

(5) 'हम देखते हैं कि कुछ पदार्थ, जो अचेतन हैं, किसी प्रयोजन के लिए काम करते हैं। यह बात इस तथ्य से स्पष्ट है कि वे सदा या बहुधा एक तरह ही क्रिया करते हैं, इस उद्देश्य से कि श्रेष्ठतम अवस्था को प्राप्त कर सकें।'

इस कोरे विवरण से तो हमारा ज्ञान बहुत नहीं बढ़ता। एक्विनस की व्याख्या कुछ प्रकाश देती है, परन्तु हमें अरस्तू की शिक्षा को निरन्तर दृष्टि में रखना होता है।

पहले तथ्य में एक्विनस गति का वर्णन करता है, परन्तु अरस्तू की तरह उसका अभिप्राय हर प्रकार के परिवर्तन से है। हम देखते हैं कि पदार्थों में परिवर्तन होता है, जल अधिक सर्दी से जम जाता है; गर्मी से भाप बन जाता है। परिवर्तन को देखकर हमें अवश्य परिवर्तन से ऊपर स्थायी सत्ता का ध्यान आता है, जो परिवर्तन का आधार है।

यहाँ हम अरस्तू के सिद्धान्त को देखते हैं कि सृष्टि का आरम्भ गति से होता है, और यह गति गतिदाता की देन है, जो स्वयं गति प्राप्त नहीं करता।

अपनी युक्तियों में एक्विनस इस युक्ति को स्पष्टतम युक्ति कहता है।

दूसरे तथ्य में एक्विनस पदार्थों के गति प्राप्त करने की ओर नहीं, अपितु उनमें से कुछ के गति प्रदान करने की ओर संकेत करता है। यह तथ्य पहले तथ्य की पूर्ति करता है। पहला तथ्य हमें पंक्ति या क्रम ही देता है; एक घटना होती है, उसके बाद दूसरी होती है। कई विचारक कहते हैं कि अनुभव इस क्रम से अधिक कुछ नहीं दिखाता। हम 'क' के बाद सदा 'ख' को आता देखते हैं, और भ्रम में समझने लगते हैं कि 'क' ने 'ख' को जन्म दिया है। कारण का प्रत्यय कल्पना मात्र है। एक्विनस इसे स्वीकार नहीं करता। उसके विचारानुसार, अनुभव यही नहीं बताता कि परिवर्तन होता है, अपितु यह भी कि कुछ पदार्थ अन्य पदार्थों में परिवर्तन करते हैं। 'क' 'ख' का कारण है, 'ख' 'ग' का कारण है, 'ग' 'घ' का कारण है। यह क्रम जगत् में कहीं समाप्त नहीं होता, प्रत्येक कारण आप भी किसी कारण का कार्य है। जगत् के जो कारण आप भी कार्य हैं, हमारा ध्यान अनिवार्य रूप से ऐसे कारण की ओर फेरते हैं, जो आदि कारण है और स्वयं किसी कारण का कार्य नहीं।

तीसरी युक्ति में एक्विनस सरल परिवर्तन का नहीं, अपितु उत्पत्ति और विनाश का जिक्र करता है। कुछ पदार्थ उत्पन्न होते हैं और फिर विनष्ट हो जाते हैं। यह तो स्पष्ट ही है कि ऐसे पदार्थों का अस्तित्व अनिवार्य नहीं; उनमें होने और न होने दोनों प्रकार की क्षमता है। अनन्त काल में, प्रत्येक पदार्थ के लिए अस्तित्व का खो देना सम्भव है; अर्थात् व्यापक अभाव की सम्भावना है। ऐसा व्यापक अभाव पहले भी हुआ होगा। उस अभाव से वर्तमान भाव कैसे प्रकट हो गया? एक्विनस के विचार में, अभाव से भाव की उत्पत्ति हो नहीं सकती; और वर्तमान भाव में तो सन्देह हो ही नहीं सकता। हम ऐसे अनित्य और सापेक्ष पदार्थों के साथ नित्य निरपेक्ष सत्ता को मानने में भी विवश हैं।

यहाँ तक घटनाओं के आगे-पीछे आने और पदार्थों के परिवर्तन का जिक्र हुआ है। यह विवेचन विज्ञान का क्षेत्र है। परन्तु हम जगत् में गुण-दोष का भेद भी देखते हैं। इन भेदों की बाबत विचार करना नियामक विद्याओं का काम है। इन विद्याओं में न्याय, सौन्दर्यविद्या और नीति प्रमुख हैं। न्याय सत्य और असत्य में भेद करता है; सौन्दर्यशास्त्र सौन्दर्य और कुरूपता में भेद करता है; नीति भद्र और अभद्र में भेद करती है। ये भेद कैसे किये जाते हैं? तर्क, सत्य, पूर्ण सत्य, को परख की कसौटी

बनाता है; सौन्दर्यशास्त्र निर्दोष सौन्दर्य को यह कसौटी बनाता है; नीति के लिए 'पूर्णता' कसौटी है। एक्विनस कहता है कि श्रेष्ठता का भेद श्रेष्ठतम के अस्तित्व पर निर्भर है। हम देखते हैं कि जो पदार्थ श्रेष्ठ होने का दावा करता है, वह श्रेष्ठतम—श्रेष्ठता की पराकाष्ठा—से कितना निकट है। पूर्ण स्वास्थ्य अनुभव में तो दिखाई नहीं देता। जब हम किसी पुरुष के स्वास्थ्य की बाबत कहते हैं, तो वास्तव में यही कहते हैं कि उसकी अवस्था पूर्ण स्वास्थ्य से कितनी दूर है। गुण-दोष का भेद अन्तिम आदर्श की ओर संकेत करता है।

यहाँ मूल्य के प्रत्यय को आस्तिकता की पुष्टि में प्रयुक्त किया गया है।

पाँचवें और अन्तिम हेतु में फिर अरस्तू का प्रभाव दिखाई देता है। अरस्तू का ख्याल था कि आदि गतिदाता पदार्थों को पीछे से धकेलता नहीं, आगे से आकर्षित करता है; जगत् में सब कुछ पूर्णता की ओर चल रहा है। एक्विनस अरस्तू के प्रयोजन-वाद को स्वीकार करता है। जड़ पदार्थों की हालत में यह प्रयोजन अचेतन है। सारे पदार्थ नियमानुसार चलते हैं; उनकी गति सम्मिलित और सहकारी है। नियम के लिए नियन्ता की आवश्यकता है, व्यवस्था व्यवस्थापक की ही क्रिया होती है।

एक्विनस के पाँचों हेतुओं का सार यह है कि—

परिवर्त्तन अन्तिम परिवर्तक और कारण की ओर संकेत करता है;

अनित्य और अस्थिर की नींव नित्य और स्थिर सत्ता पर होती है;

श्रेष्ठ-अश्रेष्ठ का भेद श्रेष्ठतम के अस्तित्व को स्वीकार करने पर ही सार्थक भेद प्रतीत होता है, और

जगत्-प्रवाह में नियम और सहकारिता दिखाई देती है; ये नियम के नियामक की ओर संकेत करती हैं।

ईश्वरीय शासन

ब्योरे की बातों को छोड़ कर, व्यापक शासन की बाबत एक्विनस निम्न प्रश्नों पर विचार करता है—

(1) क्या जगत् पर किसी सत्ता का शासन है?

(2) इस शासन का प्रयोजन क्या है?

(3) क्या जगत् का शासक एक ही है ?
(4) इस शासन का परिणाम क्या है ?
(5) क्या सारे पदार्थ ईश्वरीय शासन के अधीन हैं ?
(6) क्या सभी पदार्थों पर ईश्वर प्रत्यक्ष रूप में शासन करता है ?
(7) क्या ईश्वरीय क्षेत्र के वाहर भी कुछ हो सकता है ?
(8) क्या कोई वस्तु ईश्वरीय शासन का विरोध कर सकती है ?

इन प्रश्नों के सम्बन्ध में एक्विनस एक ही शैली का प्रयोग करता है। आरम्भ में तीन आक्षेपों का वर्णन करता है; इसके बाद बाइविल या किसी सन्त के संक्षिप्त उद्धरण देता है; फिर अपना मत बयान करता है; और अन्त में आक्षेपों का उत्तर देता है।

ऊपर किये गये प्रश्नों की बाबत एक्विनस का मत है—

(1) संसार में व्यवस्था विद्यमान है; इसकी रचना केवल संयोग का परिणाम नहीं हो सकती। चेतन सत्ता के लिए ही प्रयोजन की सम्भावना होती है।

(2) प्रकृतिवाद का यह दावा ठीक नहीं कि जगत् का प्रयोजन इसके अन्दर है, वाहर नहीं। प्रत्येक पदार्थ का प्रयोजन उसका अपना भद्र या कल्याण है। यह भद्र व्यापक भद्र में सम्मिलित होता है। इसलिए जगत् का प्रयोजन इसके अन्दर नहीं; बाह्य सत्ता की ओर से निश्चित हुआ है।

(3) अस्तित्व में एकता निहित है। प्रत्येक पदार्थ अपनी एकता कायम रखना चाहता है। शासन का अर्थ भी यही है कि शासित पदार्थों को एकता और सामञ्जस्य में रखा जाय। शासन की एकता के लिए शासक की एकता आवश्यक है।

(4) ईश्वरीय शासन के फल को तीन पहलुओं से देख सकते हैं—

अन्तिम उद्देश्य तो एक ही है—सारे पदार्थों का पूर्णता की ओर चलना।

जहाँ तक चेतन प्राणियों का सम्बन्ध है, उद्देश्य के दो भाग हैं—एक यह कि प्राणी स्वयं ईश्वर की पवित्रता को अपने अन्दर प्रविष्ट करें; दूसरा यह कि दूसरों के कल्याण के लिए यत्न करें। विविध पदार्थों के सम्बन्ध में शासन का फल इतना विविध है कि उसका वर्णन सम्भव ही नहीं।

(5) सभी वस्तुओं की रचना परमात्मा ने की है; उसी ने उनकी क्रिया का नियम बनाया है। इसलिए कोई भी वस्तु ईश्वरीय शासन के बाहर नहीं।

(6) शासन में दो बातों का ध्यान रखना होता है—एक, शासन का व्यापक रूप; दूसरा, शासन के साधन। शासन तो सारा ईश्वर का ही है। परन्तु ईश्वर अन्य प्राणियों को भी साधन के तौर पर वर्त्त लेता है। अच्छा अध्यापक शिष्यों को पढ़ाता ही नहीं, उन्हें और लोगों को पढ़ाने के योग्य भी बनाता है। इसी तरह ईश्वर अन्य कारणों को भी कुछ करने का अवसर देता है।

एक्विनस फरिश्तों के अस्तित्व में विश्वास करता था; उनके लिए भी कुछ काम चाहिए।

(7) प्रतीत तो ऐसा होता है कि कुछ घटनाएँ अकस्मात् किसी कारण के बिना हो जाती हैं। परन्तु यह हमारे ज्ञान के सीमित होने का फल है। कारण हमारी दृष्टि से ओझल होता है; इसका अभाव नहीं होता।

कुछ लोग कहते हैं कि अभद्र या बुराई ईश्वरीय व्यवस्था का भाग नहीं। अभद्र का कोई भावात्मक अस्तित्व नहीं, यह तो भद्र का लोप या अभाव है। हम व्यापक दृष्टिकोण से देखें, तो पता लगेगा कि जो कुछ है, भद्र की ओर चल रहा है, और ईश्वरीय शासन के अन्तर्गत ही है।

(8) ऐसा प्रतीत होता है कि पापी मनुष्य ईश्वरीय शासन के विरुद्ध विद्रोह करता है; परन्तु यह ठीक नहीं। यदि पाप का दण्ड न मिले, तो समझा जा सकता है, कि ईश्वरीय शासन का उल्लंघन हुआ है। परन्तु पाप के लिए दण्ड मिलता ही है; और ऐसा होने पर व्यवस्था की प्रतिष्ठा स्थापित हो जाती है।

3. जीवात्मा का स्वरूप

जैसा हम देख चुके हैं, एक्विनस ईसाई सिद्धान्त में विश्वास करता था और अरस्तू के प्रभाव में भी था। जीवात्मा की बाबत उसका सिद्धान्त समझने के लिए, इन दोनों मतों की ओर ध्यान देना उचित है।

अरस्तू ने कहा था कि जीवात्मा की स्थिति मानव शरीर में आकृति की स्थिति है। आकृति और सामग्री एक साथ रहते हैं; इसलिए मृत्यु होने पर जीवात्मा वैयक्तिक

स्थिति में कायम नहीं रहता। ईसाई विचार के अनुसार, परमात्मा ने आदम के शरीर में श्वास फूँका और वह श्वास जीवात्मा है। यह बात स्पष्ट नहीं कि परमात्मा यह क्रिया प्रत्येक मनुष्य के सम्बन्ध में करता है, या अब हम शरीर के साथ, जीवात्मा को भी माता-पिता से ग्रहण करते हैं। पीछे की बाबत सन्देह है, परन्तु आगे की बाबत तो निश्चय से कहा जाता है कि प्रत्येक जीवन को उसके कर्मों का फल मिलेगा, और मृत्यु के साथ सब कुछ समाप्त हो नहीं जायगा। एक्विनस जीवात्मा को शरीर से अलग करता है, परन्तु यह भी कहता है कि जीवन के संयोग में समग्र मनुष्य एक द्रव्य हैं। दुःख-सुख की अनुभूति न केवल जीव को होती है, न केवल शरीर को, अपितु समग्र मनुष्य को होती है। यह अवस्था जीवन में विद्यमान है; परन्तु हम जीवात्मा की प्रक्रियाओं में भेद करते हैं। प्राचीन यूनानियों ने जीव को विस्तृत अर्थों में लिया था; जहाँ कहीं जीवन है, वहाँ जीव मौजूद है। एक्विनस के मतानुसार जीवात्मा निराकार है; इस निराकारता के कारण वह इसे अमर भी समझता है। अरस्तू ने आत्मा के बुद्धियुक्त अंश को ही अमर कहा था; एक्विनस के लिए समग्र जीव अमर है। मानव जीवन में जीव शरीर से युक्त एक ही द्रव्य होता है और इसका ज्ञान प्राकृतिक इन्द्रियों की क्रिया पर निर्भर होता है; परन्तु निराकार होने के कारण यह शरीर से अलग भी रह सकता है।

4. नीति

एक्विनस के नैतिक विचारों में भी ईसाइयत और अरस्तू का प्रभाव दिखाई देता है।

अरस्तू के अनुसार नैतिक आचरण दो चरम स्थितियों के मध्य का व्यवहार है। मानव जीवन में बुद्धि की प्रधानता है तो भी भाव का स्थान भी मान्य है। संयम में बुद्धि और भाव दोनों मिलते हैं। ईसाई धर्म में प्रेम का पद इतना ऊँचा है कि एक्विनस भाव का तिरस्कार कर ही नहीं सकता था।

किसी कर्म की कीमत जानने के लिए हमें उसके बाह्य और आन्तरिक दोनों पक्षों को देखना होता है। इस कर्म का दृष्ट फल क्या है? और यह किस भाव से किया गया है? एक पुरुष चोरी करता है, या रिश्वत लेता है, ताकि प्राप्त धन से मन्दिर बनवा दे, या उसे किसी अन्य भले काम में खर्च करे। एक और मनुष्य अपने पड़ोसी को

विष देना चाहता है, परन्तु जो कुछ उसे देता है, वह वास्तव में विष नहीं, अपितु औषध है, जो उसके पुराने रोग को दूर कर देती है । पहली हालत में भाव अच्छा है, कर्म का फल बुरा है दूसरी हालत में भाव बुरा है, फल अच्छा है । इन कार्यों पर हमारा नैतिक निर्णय कैसे होना चाहिए ?

एक्विनस के विचारानुसार किसी काम के अच्छा होने के लिए आवश्यक है कि कर्त्ता का भाव पवित्र हो, और क्रिया का फल भी अच्छा हो । इन दोनों में एक का अभाव भी कार्य को बुरा बना देता है । इस तरह किसी कर्म के अच्छा होने के लिए दो शर्तों का पूरा होना आवश्यक है—भाव अच्छा हो और फल भी अच्छा हो । कर्म के बुरा होने के लिए एक शर्त का पूरा होना ही पर्याप्त है—भाव बुरा हो या कर्मफल हानिकारक हो ।

अरस्तू ने तुष्टि या सुख को जीवन का उद्देश्य बताया था । एक्विनस यहीं ठहर नहीं सकता था । उसके लिए ईश्वर का साक्षात् दर्शन अन्तिम लक्ष्य था । वह यह भी विश्वास करता था कि इस तथ्य का ज्ञान दार्शनिक मनन से प्राप्त नहीं हो सकता; यह ईश्वर की कृपा का फल है । यह मान लेने पर कि ईश्वर का दर्शन ही परम आनन्द है, प्रश्न होता है कि इस लक्ष्य तक पहुँचने के उपाय क्या हैं । एक्विनस कहता है कि यहाँ भी बुद्धि काम नहीं देती । इन उपायों का ज्ञान भी सीधा परमात्मा से ही प्राप्त होता है । यहाँ दार्शनिक एक्विनस चुप हो जाता है; जो कुछ कहता है, पादरी एक्विनस ही कहता है ।

■

तीसरा भाग

नवीन काल का दर्शन

सातवाँ परिच्छेद

सामान्य विवरण

1. दार्शनिक पुनर्जाग्रति और उसके कारण

जैसा हम कह चुके हैं, आम तौर पर पश्चिमी दर्शन का इतिहास तीन भागों में विभक्त किया जाता है। कुछ लोग कहते हैं कि मध्यकाल के विचार हमें यूनान और रोम के विवेचन से आधुनिक विवेचन तक पहुँचाते हैं; इस अन्तर से अधिक मध्यकालीन दर्शन का कोई महत्त्व नहीं। इतनी शताब्दियों तक, जहाँ जीवन के अन्य अंगों में गति होती रही, दार्शनिक विवेचन में निश्चलता कैसे आ गयी ? कुछ लोग ईसाइयत के प्रभाव को इसके लिए उत्तरदायी बताते हैं। कैथोलिक व्यवस्था के अधीन विचार की स्वाधीनता लुप्त सी हो गयी। जहाँ इसका प्रयोग हुआ, वहाँ स्वीकृत सिद्धान्त को अरस्तू के मत के अनुकूल सिद्ध करना ध्येय बन गया। यह स्थिति चिरकाल तक कायम रही; इसकी समाप्ति के साथ नवीन काल का आरम्भ होता है।

नवीन स्थिति के आगमन के तीन प्रमुख कारण थे—

(1) विज्ञान का उत्थान,

(2) नयी दुनिया (अमेरिका) का आविष्कार,

(3) धार्मिक और दार्शनिक दृष्टिकोण में क्रान्ति।

बहुत दिनों तक पृथिवी ब्रह्माण्ड का केन्द्र समझी जाती थी; सूर्य, चन्द्र और तारे इसके गिर्द घूमते थे : कोपर्निकस (1473–1543) ने इसके विरुद्ध कहा कि हमारे मण्डल का केन्द्र सूर्य है और पृथ्वी, अनेक अन्य नक्षत्रों की तरह, उसके गिर्द घूमती है। उसने यह भी कहा कि तारों के दरमियान जो अन्तर है, उसकी कल्पना करना भी कठिन है। इस विचार ने ब्रह्माण्ड का विस्तार बहुत बढ़ा दिया। इतने बड़े ब्रह्माण्ड का वासी होने के कारण मनुष्य का गौरव उसकी अपनी दृष्टि में बढ़ गया।

ब्रूनो (1548–1600) ने कोपर्निकस के दृष्टिकोण को अपनाया और उसके पूरे परिणामों को व्यक्त किया। उसने कहा कि हमारी पृथिवी की तरह असंख्य तारों पर प्राणी बसते हैं। ब्रूनो को अपने विचारों के कारण अग्नि में डालकर समाप्त कर दिया गया। जब उसे दण्ड पढ़ कर सुनाया गया, तो उसने न्यायाधीशों से कहा—'मुझे तुम्हारा निर्णय सुनते हुए इतना भय नहीं होता, जितना तुम्हें सुनाते हुए होता है।'

अरस्तू ने ब्रह्माण्ड को दो भागों में बाँटा था—चन्द्रमा के नीचे और चन्द्रमा के ऊपर। चन्द्रमा के नीचे जो कुछ है, निकृष्ट भाग है; हम इस भाग के अन्तर्गत हैं। इस भाग में भी उसने सामग्री और आकृति में भेद किया था और सामग्री अर्थात् प्रकृति को अधम पद दिया था। कोपर्निकस और ब्रूनो ने प्रकृति के महत्त्व पर जोर दिया, और प्राकृत जगत् में ऊँच-नीच का भेद अस्वीकार किया।

वैज्ञानिक खोज ने विचारकों के लिए एक नयी, विस्तृत दुनिया प्रस्तुत कर दी।

स्वयं पृथिवी का एक बड़ा भाग भी यूरोप के लिए अदृष्ट था। अमेरिका का आविष्कार हुआ, और यूरोप की आबादी का अच्छा भाग अपनी स्थिति सुधारने के लिए वहाँ पहुँचा। जो लोग वहाँ पहुँचे, वे यौवन की शक्ति से भरपूर और हर प्रकार की कठिनाइयों का मुकाबला करने के योग्य थे। वहाँ निस्सीम भूमि उनकी प्रतीक्षा कर रही थी। उनका जीवन निरन्तर गति और अस्थिरता का जीवन था। एब्राहम लिंकन को ऐसी स्थिति में 9-10 वर्षों में केवल 10 मास किसी प्रारम्भिक स्कूल में पढ़ने का अवसर मिला। इन लोगों के आत्मविश्वास का पता प्रसिद्ध कवि वाल्ट-ह्विटमैन के एक कथन से लगता है। पिछली शती में जब कि संयुक्त-राज्यों की आबादी दो करोड़ थी, उसने कहा, 'जब हमारी जनसंख्या दस करोड़ होगी, तो हम सारी दुनिया पर छा जायेंगे।' इतने बड़े महाद्वीप का आविष्कार एक बहुत बड़ी घटना थी; और लोगों की विचारशैली पर इसका प्रभाव पड़ना ही था।

स्वयं यूरोप में इस आविष्कार का एक बड़ा परिणाम हुआ। यूरोप और एशिया का व्यापार इटली के रास्ते हुआ करता था, और इस व्यापार ने भूमध्यसागर को विशेष महत्त्व का क्षेत्र बना दिया था। अमेरिका का पता लग जाने से आकर्षण-केन्द्र भूमध्य-सागर के स्थान में अतलान्तिक समुद्र हो गया। यूनान तो पहले ही समाप्त हो चुका था; अब इटली भी पीछे रह गया; और फ्रांस, स्पेन, तथा इंग्लैण्ड आगे आ गये। कुछ समय के लिए ये ही देश दार्शनिक विवेचन के केन्द्र भी बन गये।

दार्शनिक नव-जाग्रति का तीसरा कारण आन्तरिक था । कुछ विचारकों ने परम्परा के जुए को उतार फेंकने का निश्चय किया । इस सम्बन्ध में इंग्लैंड के दो विचारकों, फ्रैन्सिस बेकन और टामस हाब्स, के नाम विशेष महत्त्व के हैं । ये दोनों एक दूसरे से परिचित थे; और कुछ काल के लिए हाब्स ने बेकन के साथ मन्त्री की हैसियत से काम भी किया था । इसपर भी दोनों का दृष्टिकोण भिन्न था, और दार्शनिक पुनर्जाग्रति में उनका अंशदान भी एकरूप न था । बेकन ने दर्शन के संशोधन को अपना लक्ष्य बनाया; हाब्स का विशेष अनुराग राजनीति पर था ।

प्रोटेस्टैंट सम्प्रदाय के उत्थान ने धार्मिक विचारों में क्रान्ति पैदा कर दी ।

2. नवीन दर्शन की प्रमुख धाराएँ

बेकन की शिक्षा का सार यह था—

'अन्दर के पट बन्द कर, बाहर के पट खोल ।'

प्राचीन काल में दर्शन में मनन की प्रधानता थी; परीक्षण का स्थान गौण था, और निरीक्षण का तो अभाव सा ही था । मध्यकाल में दर्शन का काम वादविवाद ही हो गया । बेकन ने कहा—'विवाद छोड़ो; प्राकृत जगत् को जानने का यत्न करो ।' उसने दर्शन को उसके समग्र रूप में नहीं देखा; अपनी दृष्टि को विज्ञान के फ़लसफ़े तक सीमित रखा । इसमें भी उसने उपयोगिता को विशुद्ध ज्ञान से अधिक महत्त्व दिया । एक और त्रुटि यह थी कि वह गणित में निपुण न था, और इसलिए उसने इसके महत्त्व का अनुभव नहीं किया । अब तो समझा जाता है कि विज्ञान की कोई शाखा उसी हद तक विज्ञान है, जिस हद तक वह गणित-सम्मत है ।

बेकन ने विचारों को उत्तेजना देने या उभाड़ने का काम किया, परन्तु किसी विशेष सिद्धान्त का प्रारम्भ नहीं किया ।

यह श्रेय फ्रांस के विचारक रैने डेकार्ट को प्राप्त हुआ । वह सर्वसम्मति से नवीन दर्शन का पिता समझा जाता है । उसने दार्शनिक विवेचन के लिए गणित को नमूना बनाया और इसमें गणित की निश्चितता लाने का यत्न किया । विवेचन के बाद वह इस परिणाम पर पहुँचा कि पुरुष और प्रकृति दो भिन्न और स्वतन्त्र द्रव्य हैं । उसके विवेचन को दो प्रमुख गणितज्ञों ने जारी रखा । ये स्पिनोज़ा और लाइबनिज़ थे ।

इन्होंने भी कड़े मनन का प्रयोग किया, परन्तु द्रव्य के स्वरूप की बाबत दोनों ने डेकार्ट का मत अस्वीकार किया। वे दोनों अद्वैतवाद के समर्थक थे। स्पिनोज़ा ने जीव और प्रकृति दोनों को द्रव्यत्व से वंचित करके, उन्हें अकेले द्रव्य के गुणों का पद दिया। लाइबनिज़ ने इसके विरुद्ध सारी सत्ता को चेतनों में ही देखा। जहाँ तक जातिभेद का सम्बन्ध है, वह अद्वैतवादी था; जहाँ संख्या का प्रश्न उठा, वह अनेकवादी था।

डेकार्ट की शिक्षा का प्रभाव इंग्लैंड के विचारक जॉन लॉक पर भी पड़ा। डेकार्ट ने पुस्तकों और प्राचीन दार्शनिकों को एक ओर रखकर, अपने मनन पर भरोसा किया था। लॉक ने अपने विवेचन को मनोविज्ञान पर आधारित किया। उसकी विख्यात पुस्तक 'मानवी बुद्धि पर निबन्ध' ने नवीन दर्शन में अनुभववाद की नींव रखी। उसकी मौलिक धारणा यह थी कि हमारा सारा ज्ञान हमें बाहर से प्राप्त होता है। इस तरह, उसने अपने लिए डेकार्ट, स्पिनोज़ा और लाइबनिज़ के मार्ग से भिन्न मार्ग चुना। उनके लिए, मनन सब कुछ था; लॉक के लिए इन्द्रियजन्य ज्ञान सारे ज्ञान की आधारशिला था। लॉक के विचारों को जार्ज बर्क्ले और डेविड ह्यूम ने जारी रखा। संयोग से लॉक इंग्लैंड में पैदा हुआ, बर्क्ले आयरलैंड का और ह्यूम स्काटलैंड का वासी था। इस तरह, अनुभववाद के सिद्धान्त में, तीनों प्रदेशों का अंशदान सम्मिलित था।

ह्यूम अनुभववाद को उसकी तार्किक सीमा तक ले गया, और इस परिणाम पर पहुँचा कि सत्ता में द्रव्य का कोई अस्तित्व नहीं; जो कुछ है, प्रकटन मात्र ही है। हम कहते हैं—'नारंगी गोल है, पीली है, स्वादिष्ट है; पर गोलाई, पीलापन, स्वाद आदि गुणों के समूह का नाम ही नारंगी है। यह नाम इस विशेष गुण-समूह को हम देते हैं।' हम देते हैं। हम क्या हैं? ह्यूम ने कहा कि जीव भी अवस्थाओं का समूह ही है; अनुभवों से अलग कुछ नहीं। प्रतीत ऐसा होता है कि घटनाओं में कारण-कार्य का सम्बन्ध है; परन्तु तथ्य यह है कि उनमें पहले-पीछे आने का भेद है; कारण की शक्ति की मिथ्या कल्पना हम अपने विरोध-रहित अनुभव के कारण करते हैं।

डेकार्ट, स्पिनोज़ा, और लाइबनिज़ ने द्रव्य के प्रत्यय को अपने सिद्धान्त की आधारशिला बनाया था; विज्ञान की नींव कारण-कार्य सम्बन्ध पर है। ह्यूम ने इन दोनों को दर्शन और विज्ञान के नीचे से खींच लिया, और उन्हें वायुमण्डल में छोड़ दिया।

विवेकवाद और अनुभववाद दोनों अपनी तार्किक सीमा तक पहुँच चुके थे; उन दोनों के लिए अपने मार्गों पर आगे बढ़ने का अवकाश ही न था। इस शोचनीय

स्थिति में इम्मैनुयल कांट का आगमन हुआ। डेकार्ट फ्रांस का नागरिक था; स्पिनोज़ा और लाइबनिज़, हॉलैंड और जर्मनी के वासी थे। बेकन, हाब्स और तीनों अनुभववादी ब्रिटेन के योगदान थे। कांट के आगमन के साथ, दार्शनिक विवेचन का आकर्षण केन्द्र जर्मनी में जा पहुँचा। जर्मनी की बारी बहुत पीछे आयी, परन्तु जब आयी, तो उसकी दीप्ति ने सभी आँखों को चौंधिया दिया। कांट ने जर्मनी को गौरव की जिन ऊँचाइयों तक पहुँचा दिया, उन्हीं पर हेगल ने उसे कायम रखा। उनके पीछे विशुद्ध दर्शन बहुत कुछ उन्हें समझने और समझाने में ही लगा रहा है। शतियों के बाद, कांट और हेगल ने प्लेटो और अरस्तू की याद ताजा कर दी।

कांट के महत्त्व का रहस्य क्या है ?

उसने एक साथ विवेकवाद और अनुभववाद के बलिष्ठ और कमजोर पहलुओं को भाँप लिया। दोनों सिद्धान्तों में सत्य का अंश था, परन्तु इसके साथ असत्य का अंश भी मिला था, और वे दोनों अपनी त्रुटि और दूसरे पक्ष की यथार्थता को देख नहीं सके थे। कांट ने दोनों मतों का समन्वय कर दिया।

बेकन ने मनुष्यों को तीन श्रेणियों में बाँटा था : कुछ लोगों का मन चींटी की तरह सामग्री एकत्र करने में लगा रहता है; कुछ लोग मकड़ी की तरह सामग्री को अपने अन्दर से उगलते हैं, और उससे जाला बुनते हैं। तीसरी श्रेणी के मन, मधु-मक्खी की तरह, अनेक फूलों से सामग्री इकट्ठा करते हैं, और उसे अपनी क्रिया से मधु बना देते हैं। अनुभववाद के अनुसार, मनुष्य का मन चींटी के समान है; विवेकवाद के अनुसार, यह मकड़ी से मिलता है। कांट ने इसे मधु-मक्खी के रूप में देखा। ज्ञान की सामग्री हमें बाहर से प्राप्त होती है, परन्तु उस सामग्री को ज्ञान बनाने के लिए मानसिक क्रिया की आवश्यकता होती है। कांट ने अपने सिद्धान्त को 'आलोचनवाद' का नाम दिया। इसे उद्गतिवाद भी कहते हैं, क्योंकि यह अनुभववाद और विवेकवाद दोनों से ऊपर उठता है।

3. कुछ उप-धाराएँ

नवीन दर्शन में विवेकवाद, अनुभववाद और आलोचनवाद, ये तीन प्रमुख धाराएँ हैं। इनके अतिरिक्त कुछ उप-धाराएँ भी हैं, जिनकी ओर संकेत करना आवश्यक है।

जर्मनी में कांट और हेगल दोनों ने बुद्धि को मानव प्रकृति में प्रधान अंश बताया था। वहीं यह गौरव का स्थान शापनहावर और नीत्शे ने संकल्प को दिया। शापनहावर के विचारानुसार सृष्टि में जो कुछ हो रहा है, विवेकहीन, अन्धे संकल्प का खेल है; नीत्शे के अनुसार जीवन का उद्देश्य शक्ति-सम्पन्न होना है। फ्रांस में डेकार्ट के बाद दो नाम विशेष महत्त्व के बताये जाते हैं—आगस्ट काम्ट और हेनरी बर्गसाँ। काम्ट ने तो कहा कि मनुष्य जाति के उत्थान में धर्म और दर्शन का युग बीत चुका है; अब विज्ञान का युग है। जो पुरुष दर्शन का स्थान समाधि-स्थान में समझता हो, उसके सिद्धान्त को दार्शनिक सिद्धान्त कहना ऐसा ही है जैसा अन्धकार को प्रकाश का एक रूप कहना है। इंग्लैंड में स्काटलैण्ड के सम्प्रदाय ने रीड के नेतृत्व में सामान्य बुद्धि को महत्त्व का स्थान दिया; परन्तु अब उनके विचारों की कीमत ऐतिहासिक ही है। उन्नीसवीं शती में इंग्लैंड का प्रसिद्ध दार्शनिक हर्बर्ट स्पेन्सर हुआ। उसने विकासवाद को विवेचन में प्रमुख प्रत्यय बना दिया।

यूरोप से बाहर, अमेरिका में 'व्यवहारवाद' का प्रादुर्भाव हुआ। इसके सम्बन्ध में विलियम जेम्स का नाम प्रसिद्ध है, परन्तु जेम्स मनोवैज्ञानिक था, दार्शनिक न था। अमेरिका का प्रमुख दार्शनिक पीअर्स है। इनके अतिरिक्त सेंटायना और ड्युई के नाम भी महत्त्व के नाम हैं।

इस संक्षिप्त विवरण के बाद, अब हम आधुनिक काल के इन विचारकों के विचारों का कुछ विस्तारपूर्वक अध्ययन करेंगे।

आठवाँ परिच्छेद

बेकन और हाब्स

1. फ्रैन्सिस बेकन

1. चरित की झलक

फ्रैन्सिस बेकन (1561-1626) जब पैदा हुआ, तो 'चाँदी का नहीं, सोने का चम्मच उसके मुँह में मौजूद था।' शेक्सपियर ने कहा है कि कुछ लोग बड़े पैदा होते हैं; कुछ अपनी हिम्मत से बड़े बन जाते हैं; और कुछ ऐसे होते हैं, जिनपर बड़ाई थोप दी जाती है। बेकन निश्चय तीसरी श्रेणी में न था; उसका स्थान पहली दो श्रेणियों के बड़े आदमियों में था।

उसका पिता, सर निकोलस बेकन महारानी एलिज़ाबेथ के शासन के प्रथम 20 वर्षों तक 'बड़ी मोहर का रक्षक' था। उसकी माता, लेडी एन्न कुक, महारानी के कोषाध्यक्ष सर विलियम सीसिल की साली थी। मैकाले कहता है कि पुत्र की प्रसिद्धि ने पिता की प्रसिद्धि को मन्द कर दिया; लेकिन निकोलस बेकन साधारण पुरुष न था। एन्न कुक एक विदुषी स्त्री थी; भाषाओं और ब्रह्मविद्या का उसे अच्छा ज्ञान था। ऐसे माता-पिता की सन्तान होने के साथ, फ्रैंसिस भाग्य से एलिज़ाबेथ के समय में पैदा हुआ। यह समय इंग्लैंड के यौवन का काल था, जब प्रत्येक उज्ज्वल मस्तिष्क वाले पुरुष के लिए अपूर्व अवसर विद्यमान थे।

बेकन का लड़कपन बहुत आराम में गुजरा। 13 वर्ष की अवस्था में वह केम्ब्रिज विश्वविद्यालय में पहुँचा और तीन वर्ष वहाँ रहा। विश्वविद्यालय में अरस्तू का शासन था। आरम्भ से ही बेकन के मन में अरस्तू के लिए अश्रद्धा पैदा हो गयी, और उसने एक लेख में अपने विचारों को व्यक्त किया। अध्यापकों के लिए भी, जो दर्शन को अरस्तू की व्याख्या ही समझते थे, कोई श्रद्धा न रही। बेकन ने विश्वविद्यालय इस

ख्याल से छोड़ा कि वहाँ जो शिक्षा दी जाती है, वह निर्मूल्य है; अध्यापक और विद्यार्थी अपना समय व्यर्थ खोते हैं। इस ख्याल ने उसके मन में दर्शनशास्त्र के सुधार के लिए प्रबल आकांक्षा उत्पन्न कर दी।

16 वर्ष की उम्र में ही उसे किसी पद पर नियुक्त करके फ्रांस भेजा गया। उसकी प्रकृति में पिता की अपेक्षा माता का प्रभाव अधिक था; और यदि यह प्रकृति ही उसके जीवनकार्य का निश्चय करती, तो वह अपने आपको दर्शन और विज्ञान की भेंट कर देता। परन्तु पिता की राजनीतिक उमंगें उसे दूसरी ओर खींचती थीं, और ये उसकी अपनी उमंगें भी बन गयीं। इन उमंगों ने प्राकृत रुचि पर विजय प्राप्त की।

फ्रांस में उसके काम की प्रशंसा हुई, परन्तु दुर्भाग्य से यह स्थिति देर तक कायम न रही।

1579 में सर निकोलस की मृत्यु हो गयी, और फ्रैंसिस को इंग्लैंड वापस आना पड़ा। अब उसकी कठिनाइयों का प्रारम्भ हुआ, और एक या दूसरे रूप में इनका सिलसिला उसके मृत्यु-काल तक जारी रहा। सबसे बड़ी आपत्ति यह हुई कि उसके पिता ने अपनी सारी सम्पत्ति, किन्हीं कारणों से, अन्य छह पुत्रों के नाम लिख दी थी। वह फ्रैन्सिस के लिए भी उचित प्रबन्ध करना चाहता था, परन्तु मृत्यु ने उसे ऐसा करने का अवकाश नहीं दिया। 18 वर्ष के युवक फ्रैंसिस ने अपने आपको पूर्ण दरिद्रता में पाया। दिमाग में अनेक विचार थे; रहन-सहन में रुपये-पैसे का कभी ध्यान नहीं आया था; अब साधारण निर्वाह के लिए भी कुछ न था। सम्बन्धी और कुल के मित्र पर्याप्त संख्या में थे; परन्तु उन सबकी दृष्टि में तो फ्रैंसिस सर निकोलस का पुत्र था। निकोलस की मृत्यु के बाद उसकी कीमत क्या थी? नवाब का कुत्ता मरा और लोगों ने शोक में दूकानें बन्द कर दीं; नवाब मरा, तो किसी को मृत शरीर के साथ जाने की फुरसत न थी।

बेकन ने कानून का अध्ययन किया और वकालत को अपना पेशा बनाया। उसके बाद वह जो कुछ बना, इसी चुनाव के फलस्वरूप बना। एलिज़ाबेथ के समय में उसे कुछ नहीं मिला, परन्तु उसके बाद प्रथम जेम्स के समय में भाग्य ने उदारता से उसे अपने ध्यान में रखा। सन् 1618 में, जब उसकी उम्र 57 वर्ष की थी, वह लार्ड चान्सलर नियुक्त हुआ। प्लेटो के दार्शनिक-शासक के आदर्श ने लार्ड बेकन का स्थूल रूप धारण किया।

एक अंग्रेज लेखक ने कहा है कि मनुष्यों में बेकन सब से सयाना और सबसे नीच था। इस विवरण की अत्युक्ति स्पष्ट है। यह तो सत्य ही है कि बेकन अपने समय के चोटी के बुद्धिमानों में था। राजनीति में इतना विलीन होते हुए भी जो कुछ उसने लिखा, वह अपनी मात्रा और विचित्रता में अरस्तू की याद दिलाता है। जब वह लोक-सभा में गया, तो उसके वक्तव्य असाधारण महत्त्व के होते थे। प्रत्येक शब्द चुना हुआ होता था; किसी सदस्य को खाँसने या इधर-उधर देखने का अवकाश नहीं मिलता था, और श्रोता डरते थे कि वक्तव्य शीघ्र समाप्त न हो जाय। जीवन के अन्तिम काल में जो 'निवन्ध' उसने लिखे, वे आप ही अपनी मिसाल हैं। बेकन की बुद्धिमत्ता में तो किसी को सन्देह नहीं; उसके चरित्र की बाबत इतने कठोर शब्द क्यों बर्ते जाते हैं ?

बुद्धि के अतिरिक्त मानव प्रकृति में दो अन्य अंश, भाव और संकल्प हैं। कुछ लोग बेकन की गिरावट को मलीन हृदय का फल बताते हैं; कुछ उसके कमजोर संकल्प को उत्तरदायी बनाते हैं। दूसरे विचार के अनुसार उसका हृदय तो साधारण मनुष्य का हृदय था, परन्तु वह निर्वल-संकल्प होने के कारण बड़े प्रलोभनों का मुकाबला करने में असमर्थ था।

जिस अमीरी में वह पला था, उसने उसे अतिव्ययी बना दिया। जब उसकी आय बहुत बढ़ गयी, तो भी उसका खर्च आय से अधिक ही रहा। यह कमी पूरी करने के लिए उसे नीच-से-नीच काम करने में संकोच न था। वह अपने से बड़ों की मिथ्या प्रशंसा में लगा रहा। अपना ऋण न चुका सकने के कारण दो बार कारावास में पहुँचा, दूसरी बार विवाह के दो वर्ष बाद, जब कि वह 47 वर्ष का था। जब ऊँचे-से-ऊँचे पद पर था, तो रिश्वत लेता था। उसपर मुकद्दमा चला; और उसने सब कुछ मान लिया। उसे कैद की सजा हुई और भारी जुर्माना भी हुआ; परन्तु दोनों मुआफ हो गये। जीवन के अन्तिम पाँच वर्ष अपकीर्ति में कटे। वह लोक सभा में जाने या किसी पद पर नियुक्त होने के अयोग्य ठहराया गया।

2. ज्ञान का पुनर्निर्माण

बेकन ने ज्ञान के पुनर्निर्माण को अपना लक्ष्य बनाया। ज्ञान में भी विज्ञान से अधिक तत्त्व-ज्ञान उसे प्रिय था, यद्यपि वह तत्त्व-ज्ञान में विज्ञान की वृत्ति भर देना

चाहता था । 1592 में 'ज्ञान की प्रशंसा' नाम की पुस्तक में उसने लिखा—'मन मनुष्य है और ज्ञान मन है; इसलिए मनुष्य वही है जो कुछ वह जानता है । क्या इन्द्रियों के सुखों से भाव के सुख बड़े नहीं ? और क्या बुद्धि के सुख भाव के सुखों से बड़े नहीं ? सुखों में क्या वही सुख यथार्थ और प्राकृत सुख नहीं, जिसमें तृप्ति की कोई हद नहीं ? क्या ज्ञान के बिना कोई अन्य वस्तु भी मन को सभी व्याकुलताओं से विमुक्त कर सकती है ? कितनी ही चीजें जिनकी हम कल्पना करते हैं, वास्तव में अस्तित्व नहीं रखतीं; अनेक वस्तुओं को हम उनके वास्तविक मूल्य से अधिक मूल्यवान् समझते हैं । हमारी निर्मूल कल्पनाएँ और चीजों की कीमत की बाबत हमारे अनुचित निर्णय—ये ही भ्रम की घटाएँ हैं, जो व्याकुलता के तूफानों का रूप धारण कर लेती हैं । मनुष्य के लिए अपूर्व तुष्टि तो पदार्थों के यथार्थ रूप जानने में ही है ।'

बेकन ने अपनी पुस्तकें अधिकतर लैटिन में लिखीं; जो अंग्रेजी में लिखीं, उनमें से कुछ का अनुवाद लैटिन में किया या करवाया । पहली बड़ी पुस्तक 'विद्या की वृद्धि' 1605 में, जब वह 44 वर्ष का था, प्रकाशित हुई । इस पुस्तक का उद्देश्य विज्ञान की विविध शाखाओं को उनके उचित स्थानों पर रखना, उनकी त्रुटियों, आवश्यकताओं और सम्भावनाओं की जाँच करना और उन नयी समस्याओं की ओर संकेत करना था, जो प्रकाश प्राप्त करने की प्रतीक्षा कर रही थीं । 'मेरा अभिप्राय ज्ञान-प्रदेश का चक्कर लगाना और यह देखना है कि इसके कौन से भाग बंजर पड़े हैं, जिनकी ओर मनुष्य के श्रम ने ध्यान नहीं दिया । मेरी इच्छा है कि ऐसे छोड़े हुए इलाकों की देख-भाल करके उनकी उन्नति के लिए अधिकारियों और अन्य मनुष्यों की शक्तियों को लगा दूँ ।'

बेकन समझता था कि अनेक विशेषज्ञों के सहयोग के बिना विज्ञान की उन्नति हो नहीं सकती । इस विचार को प्रबल रूप में जनता के सम्मुख रखना उसने अपना लक्ष्य बनाया । ज्ञान के पुनर्निर्माण में यह उसका बहुमूल्य योगदान था ।

इस पुस्तक में बेकन ने प्राकृत विज्ञान तक ही अपने आपको सीमित नहीं रखा; उसने मानव जीवन की सफलता को भी विवेचन का विषय बनाया । जीवन की सफलता के लिए पहली आवश्यकता तो अपने आपको और दूसरों को समझना है । अपने आपको समझने का प्रमुख लाभ यही है कि हम दूसरों को समझने के योग्य हो जाते हैं । दूसरों को हम उनके स्वभाव या उनके प्रयोजनों से जान सकते हैं; साधा-

रण मनुष्यों के विषय में उनके स्वभाव को देखना चाहिए; गम्भीर पुरुषों के सम्बन्ध में उनके प्रयोजनों को देखना आवश्यक होता है। सफलता के लिए तीन बातों की विशेष कीमत है—

(1) बहुत से मनुष्यों को अपना मित्र बनाओ।

(2) दूसरों के साथ व्यवहार में न अधिक बोलो, न चुप ही रहो। बीच का मार्ग अपनाओ।

(3) अपने आपको इतना मीठा न बनाओ कि हानि से बच न सको। मधुमक्खी की तरह शहद देने के साथ, कभी-कभी डंक का प्रयोग करने के लिए भी तैयार रहो।

बेकन ने जब यह लेख लिखा, वह सफलता के जीने पर चढ़ रहा था। उसे मालूम न था कि कभी-कभी किस्मत शिखर पर बैठे हुए को भी नीचे पटक देती है। सन् 1620 में, जब वह गौरव के शिखर पर था, बेकन ने अपनी प्रमुख दार्शनिक पुस्तक, 'नवीन विचारयन्त्र' लिखी। मनुष्य जो कुछ अपने अंगों को प्रयोग करके कर सकता है, वह तो थोड़े महत्त्व का है; उसके बड़े-बड़े काम यन्त्रों की सहायता से ही होते हैं। प्राचीन और मध्य काल में विचारक, यन्त्र की सहायता के बिना बुद्धि का प्रयोग करते रहे हैं, और इसलिए प्रगति बहुत धीमी रही है। दार्शनिक विवेचन पीसे हुए को फिर पीसता रहा है; जो समस्याएँ प्लेटो और अरस्तू को व्याकुल करती थीं, वही 2000 वर्षों के बीत जाने पर भी विचारकों को व्याकुल कर रही हैं। पुरानी शैली निरे मनन पर निर्भर थी; आवश्यकता वास्तविकता को देखने और उसका समाधान करने की है। नयी शैली के प्रयोग ने मानव-जीवन के रंग-रूप को ही बदल दिया है। इस सम्बन्ध में बेकन तीन आविष्कारों की ओर विशेष रूप में संकेत करता है—मुद्रण (छपाई), बारूद और चुम्बक। मुद्रण ने ज्ञान के विस्तार में अपूर्व सहायता दी है; बारूद ने युद्ध का रूप बदल दिया है; और चुम्बक के प्रयोग ने व्यापार के लिए सारी दुनिया को एक बना दिया है। नेचर की बाबत कल्पना करना छोड़ो; उसे देखो, और जो कुछ देखते हो, उसका समाधान करो।

'नवीन विचारयन्त्र' की कुछ प्रारम्भिक सूक्तियाँ, बेकन का मत स्पष्ट करती हैं—

1. 'मनुष्य भूमण्डल (नेचर) का सेवक और व्याख्याता होने की स्थिति में उतना ही

कर सकता और समझ सकता है, जितना उसने भूमण्डल की गति को देखा है, या इसपर सोचा है; इसके परे वह न कुछ जानता है, न कुछ कर सकता है।'

3. 'मनुष्य का ज्ञान और उसकी क्रिया संयुक्त होती हैं; क्योंकि जहाँ कारण का ज्ञान न हो, वहाँ कार्य उत्पन्न हो नहीं सकता। नेचर (प्रकृति) पर शासन करने के लिए उसकी आज्ञा को मानना होता है; जो कुछ विचार में कारण होता है, वही व्यवहार में नियम होता है।'

4. 'मनुष्य अपनी क्रिया में इतना ही कर सकता है कि प्राकृत पदार्थों का प्रयोग या वियोग करे; शेष सब कुछ तो प्रकृति अन्दर से ही कर लेती है।'

11. 'विज्ञान की सारी त्रुटियों का मूल कारण यह है कि हम मन की शक्तियों की झूठी प्रशंसा तो करते रहते हैं, परन्तु इसे उपयोगी सहायता से वंचित रखते हैं।'

जिस उपयोगी सहायता पर बेकन इतना बल देता है, उसे तर्क में 'आगम' का नाम दिया जाता है। इसमें निरीक्षण का स्थान प्रमुख है।

3. 'प्रतिमाएँ' या मौलिक भ्रान्तियाँ

बेकन के विचार में, वैज्ञानिक उन्नति में सबसे बड़ी बाधा यह है कि मनुष्य मिथ्या विचारों या भ्रान्तियों के साथ आरम्भ करता है। आरम्भ करने से पहले इन भ्रान्तियों से विमुक्त होना आवश्यक है। ये भ्रान्तियाँ चार हैं—

(1) जाति-सम्बन्धी भ्रान्ति

(2) गुफा-सम्बन्धी भ्रान्ति

(3) बाजारी भ्रान्ति

(4) नाटचशाला की भ्रान्ति

पहले प्रकार की भ्रान्तियाँ वे हैं, जो लगभग सब मनुष्यों में एक समान पायी जाती हैं : हम सब सीमित अनुभव की नींव पर उतावली में सामान्य नियम देखने लगते हैं; पहले उदाहरणों, भावात्मक उदाहरणों, प्रभावशाली उदाहरणों, सुखद उदाहरणों को विशेष महत्त्व देते हैं। दूसरे प्रकार की भ्रान्तियाँ व्यक्ति की रुचि के साथ सम्बद्ध हैं, किसी को संयोग में अनुराग है, किसी को विश्लेषण में प्रीति है। तीसरे प्रकार की भ्रान्तियाँ भाषा के साथ सम्बन्ध रखती हैं। भाषा का प्रयोग व्यवहार

चलाने के लिए होता है; परन्तु शब्द कई बार हमारे दास नहीं रहते, हमारे स्वामी बन जाते हैं। चौथे प्रकार की भ्रान्तियाँ वे मिथ्या विचार हैं, जो प्रसिद्ध विचारकों के होने के कारण, अन्ध श्रद्धा से स्वीकार कर लिये जाते हैं। शतियों तक अरस्तू ने विचारकों को स्वाधीन चिन्तन के अयोग्य बना दिया।

बेकन के कथन का सार यह है कि व्यक्ति पूर्ण निष्पक्षता से आरम्भ करे; विविध स्थितियों में अनेक उदाहरणों को देखे; निरीक्षण का प्रयोग करे। इसके बाद जो कुछ सूझे, उसे प्रतिज्ञा की स्थिति में स्वीकार करे; प्रतिज्ञा से अनुमान करे और देखे कि जिन नतीजों पर वह पहुँचा है, वे तथ्य की कसौटी पर पूरे उतरते हैं या नहीं।

2. टामस हाब्स

1. बेकन और हाब्स

आज कल दर्शन का क्षेत्र संकुचित है। जैसा हम देखते आये हैं, पहले तत्त्व-ज्ञान के अतिरिक्त, धर्म, विज्ञान, नीति और राजनीति के विषय भी इसके अन्तर्गत आते थे। बेकन का विशेष अनुराग वैज्ञानिक दर्शन पर था। हाब्स कुछ समय के लिए बेकन के साथ काम करता रहा, परन्तु बेकन के दृष्टिकोण ने उसे प्रभावित नहीं किया; हाँ, बेकन के जीवन ने उसकी विचारधारा पर प्रभाव डाला। पिता की मृत्यु के बाद बेकन ने अपने आपको निराश्रय पाया और अपनी हिम्मत से सफलता की सीढ़ी पर चढ़ने का निश्चय किया। वह इसके सबसे ऊँचे डंडे पर जा पहुँचा; ऊपर से किसी के खींचने पर नहीं, अपने यत्न से नीचे आ पहुँचा। हाब्स में यह आत्म-विश्वास न था; उसके जीवन में, परिश्रम की अपेक्षा दूसरों का सहारा लेना अधिक प्रधान चिह्न बन गया। प्राचीन यूनान में ज्ञान और विवेचन प्रायः संयम के स्रोत समझे जाते थे; बेकन का शायद सबसे प्रसिद्ध कथन यह है—'ज्ञान शक्ति है'। बेकन ने अपने लिए शक्ति प्राप्त करने का यत्न किया; हाब्स ने कहा कि मनुष्य की प्रकृति में शक्ति की इच्छा मौलिक अंश है; परन्तु सभ्यता ने यह अनावश्यक बना दिया है कि प्रत्येक मनुष्य इसके लिए संघर्ष में कूदे। आवश्यकता इस बात की है कि नागरिकों का जीवन सुरक्षित हो। इस परिणाम को हासिल करने का सबसे अच्छा उपाय यह है कि निस्सीम शक्ति किसी व्यक्ति या समूह के हाथों में दे दी जाय। यह ख्याल हाब्स के राजनीतिक दर्शन में मौलिक धारणा है।

2. जीवन चरित

टामस हाब्स (1588–1679) विल्टशायर की बरो माल्म्सबरी में पैदा हुआ; इसलिए उसे माल्म्सबरी का दार्शनिक भी कहते हैं। उसने आक्सफोर्ड में शिक्षा प्राप्त की, और बेकन की तरह, शिक्षा की सामग्री और शिक्षा प्रणाली से असन्तुष्ट हुआ। विश्वविद्यालय छोड़ने के बाद 1610 में वह लार्ड हार्डविक के पुत्र के साथ फ्रांस और इटली गया। वहाँ से लौटने पर लार्ड हार्डविक, अर्ल आव् डेवनशायर, का मन्त्री नियुक्त हुआ। कई वर्ष इस पद पर काम करने के बाद फिर महाद्वीप के भ्रमण को गया। 1637 में वापस आया, परन्तु राजनीतिक गड़बड़ के भय से, 1641 में फ्रांस चला गया। अब उसने विविध विषयों पर पुस्तकें लिखना आरम्भ कर दिया। उसकी सबसे प्रसिद्ध पुस्तक 'लेवायथन' 1651 ई० में लन्दन में प्रकाशित हुई। हाब्स की उम्र इस समय 63 वर्ष की थी। बेकन के 'नवीन विचारयन्त्र' की तरह 'लेवायथन' भी परिपक्व विचार का परिणाम थी। पुस्तक का छपना था कि हाब्स के विरुद्ध आक्षेप का तूफान सा खड़ा हो गया।

पुस्तक का पूरा नाम यह था—'लेवायथन या धार्मिक और नागरिक राष्ट्रमण्डल की सामग्री, आकृति और शक्ति'। चर्च ने पुस्तक की शिक्षा को धर्मविरुद्ध ठहराया; लोकसभा में 1666 में पुस्तक की निन्दा की गयी, और बिल पेश किया गया कि हाब्स को नास्तिकता और धर्मविरुद्ध भाषा के प्रयोग के लिए दण्ड दिया जाय। हाब्स बहुत व्याकुल हुआ, और उसने एक नयी पुस्तक में यह सिद्ध करने का यत्न किया कि 'लेवायथन' में स्वीकृत धर्म के विरुद्ध कोई ऐसी बात नहीं, जो राजनियम की दृष्टि में उसे दूषित ठहराये।

उसके लेख, अंग्रेजी और लैटिन में, पिछली शती में 16 जिल्दों में प्रकाशित हुए। 1679 में, 91 वर्ष की उम्र में, हाब्स का देहान्त हुआ।

दार्शनिकों में जितने विरोध का सामना हाब्स को करना पड़ा, उतना किसी और को नहीं। 'लेवायथन' के महत्त्व का एक निर्देशक यह है कि इंग्लैंड के विचारक दो सौ वर्ष तक, एक या दूसरे पक्ष से, इसके खण्डन में लगे रहे।

3. हाब्स का सिद्धान्त

हाब्स ने अपने सामने तीन प्रमुख प्रश्न रखे—

(1) राष्ट्र की आवश्यकता क्यों अनुभव हुई ? इसका निर्माण कैसे हुआ ?

(2) राष्ट्र के सम्भव रूपों में, कौन सा रूप इसका उद्देश्य भली प्रकार पूरा कर सकता है ?

(3) अच्छे शासक के अधिकार क्या होने चाहिये ?

प्राचीन यूनानियों की तरह, हाब्स भी राष्ट्र और समाज में भेद नहीं करता था। इसलिए उसका पहला प्रश्न यही था कि मनुष्य ने सामाजिक जीवन व्यतीत करने की आवश्यकता क्यों अनुभव की ?

वर्त्तमान स्थिति में मनुष्य समाज में रहते हैं और एक या दूसरे राष्ट्र के नागरिक हैं। राष्ट्र का तत्त्व शासन है—कुछ लोग शासन करते हैं और कुछ शासन के अधीन होते हैं। बीस मनुष्यों से पूछो—'यदि तुम्हें शासक और शासित बनने में चुनने का अवसर हो, तो इनमें किस स्थिति को अपने लिए चुनोगे ?'; शायद ही कोई शासित बनना पसन्द करेगा। इसपर भी, प्रत्येक समाज में शासकों की संख्या थोड़ी होती है; बहुसंख्या तो शासितों की ही होती है। यह स्थिति विचारणीय है।

मनुष्यों ने समाज में रहने का निश्चय क्यों किया ? अरस्तू का उत्तर है—'क्या पूछ रहे हो ? ऐसा निश्चय करने की आवश्यकता तो तब होती, यदि किसी समय में मनुष्य के लिए असामाजिक जीवन व्यतीत करना संभव होता। मनुष्य तो प्रकृति से ही सामाजिक प्राणी है; दूसरों के साथ रहना, दूसरों के साथ संसर्ग करना, दूसरों से मिलकर काम करना उसका स्वभाव ही है। मनुष्य राजनीतिक या सामाजिक प्राणी है। मानव से निचले स्तर के प्राणियों में झुण्डों में रहने की प्रथा पायी जाती है; मधुमक्खियाँ काम भी मिलकर करती हैं।'

हाब्स ने अरस्तू के इस विचार को सर्वथा अमान्य समझा। उसके विचार में, समाज जीवित पदार्थों की तरह संघटन नहीं, अपितु चेतन परमाणुओं का समूह-सा है। डिमाक्राइटस ने परमाणुओं को एक दूसरे के निकट तो रखा था, परन्तु उन्हें एक दूसरे के आकर्षण और विकर्षण से विमुक्त रखा था। नवीन विज्ञान कहता है कि परमाणु एक दूसरे को खींचते हैं और परे भी धकेलते हैं। हाब्स ने मनुष्यों को एक विचित्र प्रकार के परमाणुओं के रूप में देखा : इनमें एक दूसरे के लिए घृणा तो मौजूद है, स्नेह मौजूद नहीं। प्राकृत स्थिति में प्रत्येक मनुष्य अन्य मनुष्यों का शत्रु है। यदि वह दूसरों

पर आक्रमण करने में पहल नहीं करता, तो दूसरे उसपर आक्रमण कर देते हैं। प्राकृत अवस्था व्यापक द्वेष की अवस्था है—सब मनुष्य एक दूसरे के साथ युद्ध और संग्राम के लिए तैयार बैठे होते हैं। एक ही नियम का शासन होता है, और वह नियम आत्म-रक्षा है। इसके अतिरिक्त न्याय-अन्याय, धर्म-अधर्म का कोई भेद नहीं होता। कुछ अन्य प्राणियों में संयुक्त जीवन दिखाई देता है, परन्तु उनकी आवश्यकताएँ सीमित होती हैं और बहुधा पूरी हो जाती हैं, उनमें असन्तोष की भावना कम होती है और योग्यता के लिहाज से वे लगभग एक ही स्तर पर होते हैं। मनुष्यों के सम्बन्ध में स्थिति बिलकुल भिन्न है।

मनुष्यों की कुदरती अवस्था सर्वथा असह्य थी। उन्होंने विवश होकर इसे समाप्त करने का निश्चय किया, और इसके लिए सारी शक्ति एक मनुष्य या अल्प समूह के हाथ में देने पर उद्यत हो गये। उन्होंने निश्चय किया कि वह मनुष्य या अल्प समूह, प्रतिनिधि की हैसियत से, सबकी ओर से व्यवस्था बनाये रखने के लिए समग्र शक्ति का प्रयोग करे। एक तरह से, प्रत्येक मनुष्य ने दूसरों से कहा—'मैं अमुक पुरुष या अमुक समूह को अपने ऊपर सर्वाधिकार देता हूँ, इस शर्त पर कि तुम भी ऐसा ही करो।' हाब्स के विचार में इस तरह राष्ट्र की स्थापना हुई। समझौते या इकरार का यह सिद्धान्त देर तक विचार का प्रमुख विषय बना रहा।

अब हाब्स ने दूसरे प्रश्न की ओर ध्यान दिया। व्यक्ति और समूह में कैसे चुनें? सिद्धान्त रूप में यूनानी ख्याल यह था कि मनुष्य का शासन सबसे अच्छा शासन है, परन्तु उन्होंने देखा कि व्यवहार में ऐसे योग्य पुरुष का मिलना बहुत कठिन है; इसलिए कुलीन वर्ग का शासन उत्तम शासन है। हाब्स ने भी जनतन्त्र शासन को निकृष्ट समझा, परन्तु कुलीन वर्ग के शासन और राजतन्त्र में राजतन्त्र को उच्च स्थान दिया। इङ्गलैंड में उस समय यह केवल सिद्धान्त का ही प्रश्न न था; जाति के सामने सबसे बड़ा सजीव प्रश्न था।

तीसरा प्रश्न यह था कि शासन के अधिकार क्या हों। हाब्स ने इकरार या समझौते के प्रत्यय का पूरा प्रयोग किया। उसके विचार में, शासक नागरिकों की इच्छा से दी हुई शक्ति का प्रयोग करता है, इसलिए वास्तव में उसकी क्रिया प्रत्येक नागरिक की अपनी क्रिया ही है। कोई मनुष्य अपने हित के प्रतिकूल कुछ नहीं करता; इसलिए जो कुछ भी शासक किसी नागरिक के सम्बन्ध में करता है, वह न्याययुक्त ही है।

आम तौर पर अन्याय का अर्थ नियम-विरुद्ध क्रिया होता है। जहाँ राज-नियम शासक की इच्छा ही हो, वहाँ उसकी किसी क्रिया को अन्याययुक्त कहना अर्थहीन है। हाब्स ने कहा कि शासक अन्याय कर ही नहीं सकता; इसलिए नहीं कि उसका शासन दैवी अधिकार पर आश्रित है, अपितु इसलिए कि नागरिकों ने उसे पूर्ण अधिकार दे दिया है।

शासक की शक्ति की बावत हाब्स ने अपने मौलिक सिद्धान्त से निम्न परिणाम निकाले—

(1) जब शासक चुन लिया जाय, तो नागरिकों को यह अधिकार नहीं रहता कि वे उसे हटा सकें; या उसके स्थान में कोई और शासक चुन लें।

(2) नागरिकों ने शासक को अपना प्रतिनिधि बनाकर, उसे सर्वाधिकार दिये हैं, उसने अपने आपको किसी रूप में बाधित नहीं किया। कोई नागरिक यह प्रश्न ही नहीं उठा सकता कि शासक अपनी प्रतिज्ञा पूरी नहीं करता, या अपना कर्त्तव्य पालन नहीं करता।

(3) जब लोग शासक के चुनाव के लिए एकत्र होते हैं, तो उनमें हर एक कहे या न कहे, स्वीकार करता है कि बहुमत का निर्णय उसके लिए मान्य होगा। जो पुरुष इस स्थिति को नहीं मानता, उसके लिए एक ही मार्ग खुला है—वह अपने आपको राष्ट्र का अंग न समझकर, फिर व्यापक संग्राम की स्थिति स्वीकार कर ले, और जो रक्षा राष्ट्र व्यक्ति को देता है, उससे वञ्चित हो जाय।

(4) शासक को उसके किसी काम के लिए दण्ड नहीं दिया जा सकता, क्योंकि वह जो कुछ किसी नागरिक के प्रति करता है, वह वास्तव में उस नागरिक की क्रिया ही है। दण्ड देना तो अलग रहा, कोई पुरुष शासक पर यह दोष भी नहीं लगा सकता कि उसने अनुचित कार्य किया।

(5) शासक का काम यह निश्चय करना है कि राष्ट्र की शान्ति के लिए क्या आवश्यक है। वह व्यक्ति की वचन या क्रिया की स्वाधीनता पर कोई भी रोक लगा सकता है।

(6) राष्ट्र में सारी सम्पत्ति पर उसका अधिकार है; नागरिक केवल उसकी ओर से कुछ सम्पत्ति का प्रयोग और उपभोग करते हैं।

(7) शासक को नागरिकों के झगड़ों को निपटाने का अधिकार रहता है।

(8) अन्य राष्ट्रों के साथ शान्ति और युद्ध की बावत निर्णय का उसे अधिकार है।

(9) मन्त्रियों, कर्मचारियों आदि की नियुक्ति उसका अधिकार है; वह इनाम और दण्ड दे सकता है, और आम व्यवहार में गुण-दोष की बावत निर्णय करता है।

चर्च और राष्ट्र दो बराबर की शक्तियाँ एक राज्य में रह नहीं सकतीं। हाब्स ने लौकिक शासन को प्रथम पद दिया।

शासन के अधिकारों की यह एक भयङ्कर सूची है; नागरिक का काम केवल आज्ञापालन है। इतनी बड़ी कीमत पर उसने रक्षा को खरीदा है। जब कोई शासक नागरिकों की रक्षा करने में असमर्थ हो जाता है, तो वह शासक रहता ही नहीं; उसके सारे अधिकार समाप्त हो जाते हैं।

हाब्स ने सारी व्यवस्था पर एक बम गिरा दिया। चर्च रुष्ट हुआ, क्योंकि उसे राष्ट्र के अधीन किया गया, और इससे भी बढ़कर यह कि सारी व्यवस्था मनुष्यों के निर्णय पर आधारित की गयी। राजतन्त्र के समर्थक राजा के दैवी अधिकार में विश्वास करते थे; हाब्स ने इस विचार को निर्मूल बताया। साधारण नागरिक को पता लगा कि उसके कर्त्तव्य तो हैं, अधिकार नहीं; और दूसरी ओर शासकों के अधिकार हैं, कर्त्तव्य नहीं। न्याय और अन्याय को समझौते का परिणाम बताकर, हाब्स ने स्वीकृत नीति की नींवों को हिला दिया। इंग्लैंड के विचारक दो सौ वर्ष तक उसके मत का खण्डन करने में लगे रहे।

हाब्स का महत्त्व दो बातों में है—

(1) उसने विचार की स्वतन्त्रता को प्रोत्साहन दिया;

(2) अंग्रेजों में वह पहला विचारक था जिसने राजनीति को दार्शनिक विवेचन का विषय बनाया; और इसपर विस्तार से लिखा।

नवाँ परिच्छेद

डेकार्ट और उसके अनुयायी

1. डेकार्ट

1. व्यक्तित्व

वेकन और हाब्स ने हमें नवीन दर्शन की दहलीज तक पहुँचाया था; डेकार्ट के साथ हम भवन में दाखिल होते हैं।

रैंने डेकार्ट (1596–1650) फ्रांस के प्रान्त टूरेन में पैदा हुआ। उसके जन्म के कुछ दिनों के बाद ही उसकी माता का क्षय रोग से देहान्त हो गया और डाक्टरों ने कहा कि बच्चे के लिए भी क्षयग्रस्त होने का खतरा है। रैंने के लिए एक दाई नियुक्त हुई, जिसने उसे सुरक्षित रखने के उद्देश्य से अन्य बच्चों से अलग-थलग रखा। उसका शरीर दुबला पतला था; वह बहुधा आप ही अपना साथी था। उसका बाप हँसी में उसे 'मेरा नन्हा दार्शनिक' कहकर पुकारा करता था।

आठ वर्ष की उम्र में रैंने एक जैसुइट स्कूल में दाखिल हुआ। वहाँ भी, उसके स्वास्थ्य के ख्याल से, उसके साथ विशिष्ट बर्ताव हुआ। जब अन्य विद्यार्थी खेलते-कूदते थे, वह अपने बिछावन में लेटा होता था; कभी कभी तो पढ़ाई के समय भी वहीं रहता। इसका परिणाम यह हुआ कि उसकी मानसिक बनावट में 'अकेलापन' एक प्रमुख लक्षण हो गया। शारीरिक लिहाज से इस देख-रेख ने क्षय रोग का भय समाप्त कर दिया।

स्कूल छोड़ने के बाद वह पेरिस गया। वहाँ अपनी अवस्था के आवारा नवयुवकों की संगति में वह भी आवारा सा हो गया। खाना, पीना, और जुआ खेलना, बस इसी में उसकी रुचि थी। स्कूल में गणित उसका प्रिय विषय था। इससे उसने लाभ उठाया;

जुआ खेलने में वह दूसरों की तरह निरे संयोग पर ही भरोसा नहीं करता था। 1617 में, जब वह 21 वर्ष का था, उसने बाहरी दुनिया को देखने और आराम के जीवन को छोड़ने का निश्चय किया। वह दो साल के लगभग हालैण्ड, बवेरिया और हंगेरी में सैनिक की स्थिति में काम करता रहा। इस काम में भी एक प्रकार का अकेलापन था। उसने वेतन लेने से इनकार किया; और इसके बदले में, सैनिक के साधारण कर्त्तव्यों से उसे विमुक्त कर दिया गया। उसके लिए सैनिक का काम उत्तेजना और खेल ही था।

इस काल में एक घटना ने उसे अपनी बावत बहुमूल्य ज्ञान दिया। जब वह हालैण्ड में काम करता था, तो एक दिन उसने ब्रेडा के बाजार में दीवार पर चपका एक कागज देखा, जिसे एक पुरुष ध्यान से पढ़ रहा था। डेकार्ट वहाँ की भाषा पढ़ नहीं सकता था। उसने उस पुरुष से लेख की बावत पूछा। वहाँ की प्रथा के अनुसार एक कठिन गणित-प्रश्न कागज पर लिखा था और हर किसी के लिए उसे हल करने का निमन्त्रण था। जो पुरुष उसे ध्यान से पढ़ रहा था, वह डार्ट विश्वविद्यालय का प्रिन्सिपल था और स्वयं एक गणितज्ञ था। वह युवक सैनिक की ओर देखकर मुस्कुराया और उसके प्रश्न का उत्तर दिया। दूसरे दिन डेकार्ट ने प्रश्न का हल प्रिन्सिपल को भेंट कर दिया।

कुछ काल के बाद डेकार्ट ने सैनिक का खेल छोड़ दिया और अपने जीवन-कार्य की ओर सारा ध्यान लगा दिया। यह जीवन-कार्य सत्य की खोज था। आर्थिक चिन्ताओं से वह विमुक्त था; उसकी अकेली आवश्यकता यह थी कि किसी शान्त स्थान में जाकर आयु का शेष भाग जिज्ञासा में व्यतीत करे। उसने हालैण्ड को अपना नया निवास-स्थान बनाया और वहीं २० वर्ष व्यतीत किये। जो एकान्त और शान्त वातावरण वह चाहता था, वह उसे प्राप्त हो गया। उसने विवाह नहीं किया : एक कन्या अनियमित सम्बन्ध से पैदा हुई, और वह भी पाँच वर्ष की उम्र में चल बसी।

1649 में स्वीडन की रानी क्रिस्टीना ने उसे निमन्त्रित किया, ताकि उससे दर्शन में कुछ सीखे। डेकार्ट वहाँ गया। क्रिस्टीना के पिता ने मरने से पहले कहा था—'मैं चाहता हूँ कि मेरे पीछे देश का शासन पुरुष-रानी के हाथ में हो, स्त्री-राजा के हाथ में न हो। क्रिस्टीना ने उसकी इच्छा पूरी की; वह अपूर्व दृढ़ संकल्प की स्त्री थी। उसने कहा—'प्रातःकाल दर्शन के अध्ययन का अच्छा समय है; डेकार्ट सूर्योदय से पहले

राजभवन में पहुँचा करे।' स्वीडन की सर्दी ने चार महीनों में ही डेकार्ट को समाप्त कर दिया। 1650 में, 54 वर्ष की उम्र में, उसका देहान्त हो गया। 1666 में उसके मृतक शरीर को पेरिस ले गये, और वहाँ एक गिरजाघर में वह दफना दिया गया।

2. डेकार्ट का जीवन-कार्य

हालैण्ड में पहुँचने से पहले, डेकार्ट ने बहुत-सी सामग्री एकत्र की थी; वहाँ उसे मनन करने और एकत्रित सामग्री को क्रमबद्ध करने का अच्छा अवसर मिला। उसने कई बार निवास-स्थान बदला। कभी कभी तो उसके मित्रों को भी मालूम न होता था कि वह कहाँ छिपा पड़ा है। डेकार्ट की विशेष अभिरुचि प्राकृत विज्ञान, गणित और दर्शन में थी। उस समय विज्ञान की अवस्था यह थी कि विश्वविद्यालयों में रसायन शास्त्र का रूप केमिस्ट्री (रसायन शास्त्र) नहीं, अपितु एलकेमी (कीमियागिरी) था; ज्योतिष का रूप एस्ट्रोनोमी (गणित ज्योतिष) नहीं, अपितु ऐस्ट्रालोजी (फलित ज्योतिष) था। रसायन शास्त्र का काम आम पदार्थों का संयोग-वियोग न था; अधम धातुओं को सोने में बदलने का उपाय ढूंढ़ना था। ज्योतिष के पण्डित नक्षत्रों की गति वैज्ञानिक बोध के लिए जानने को उत्सुक न थे; वे मनुष्यों का भावी भाग्य जानना चाहते थे। जादू टोने में पढ़े लिखे भी विश्वास करते थे।

जैसा हम देख चुके हैं, ब्रूनो इस अपराध के लिए जीवित जला दिया गया था कि उसने पृथ्वी के स्थान में सूर्य को सौरमण्डल का केन्द्र बताया था। उसके पीछे गैलिलियो ने भी यही विचार प्रकट किया और जान बचाने के लिए उसे अपने विचारों का निराकरण करना पड़ा। डेकार्ट ने भी भौतिक विज्ञान पर पुस्तक लिखी। जब इसके प्रकाशन का समय आया, तो गैलिलियो-कांड की बाबत उसे पता लगा। हालैण्ड की स्थिति इटली की स्थिति से भिन्न थी; परन्तु डेकार्ट डर गया और पुस्तक के प्रकाशन का ख्याल छोड़ दिया। डेकार्ट ने भी यही विचार प्रकट किया कि पृथ्वी सूर्य के गिर्द घूमती है। भौतिक विज्ञान के सम्बन्ध में डेकार्ट के काम की बाबत बहुत मतभेद है। एक आलोचक ने तो इसे यही कहकर समाप्त कर दिया है कि डेकार्ट के वर्णन में जो कुछ सत्य है, वह नया नहीं; जो कुछ नया है, वह सत्य नहीं।

गणित में डेकार्ट का नाम बहुत प्रतिष्ठित है; त्रिश्लेषक-रेखागणित (एनेलिटिकल ज्योमेट्री) उसी की ईजाद है।

हमारा सम्बन्ध दार्शनिक डेकार्ट से है। उसके लेखों में सबसे प्रसिद्ध पुस्तक 'वैज्ञानिक विधि पर भाषण' है। यह पुस्तक उसके सिद्धान्त को स्पष्ट रीति से व्यक्त करती है।

3. डेकार्ट का दार्शनिक सिद्धान्त

डेकार्ट का 'भाषण' छह भागों में विभक्त है—

पहले भाग में विज्ञान की विभिन्न शाखाओं की तत्कालीन स्थिति की ओर संकेत किया है;

दूसरे भाग में विधि के उन प्रमुख नियमों का वर्णन है, जिन्हें डेकार्ट ने आविष्कृत किया;

तीसरे भाग में नैतिक नियमों का जिक्र है, जो वैज्ञानिक विधि से अनुमानित होते हैं;

चौथे भाग में आत्मा, परमात्मा और प्रकृति की सत्ता को सिद्ध करने का यत्न किया गया है;

पाँचवें भाग में मनुष्य-शरीर की बनावट और वैद्यक पर लिखा है और यह भी बताया है कि मनुष्य और पशुओं में बौद्धिक अन्तर क्या है;

अन्तिम छठे भाग में विज्ञान की उन्नति की बाबत कुछ विचार प्रकट किये गये हैं।

(1) डेकार्ट के समय की स्थिति

डेकार्ट अपने समय की वैज्ञानिक स्थिति की बाबत कहता है। हमारे लिए इतना ही पर्याप्त है कि स्वयं डेकार्ट को इतना कहने की हिम्मत नहीं हुई कि पृथ्वी सूर्य के गिर्द घूमती है। गणित की निश्चितता ने उसे बहुत प्रभावित किया, परन्तु उसे यह देखकर दुःख हुआ कि गणित का प्रयोग यन्त्रविद्या तक ही सीमित है। दर्शन की बाबत वह कहता है—

'दर्शन की बाबत मैं इतना ही कहूँगा कि जब मैंने देखा कि इतने काल से अति प्रतिष्ठित पुरुष दार्शनिक विवेचन में लगे रहे हैं, और इसपर भी इस क्षेत्र में एक

विषय भी विवाद से खाली और असंदिग्ध नहीं, तो मैं इस बात की आशा नहीं कर सका कि जहाँ इतने मनुष्य असफल रहे हैं, मैं सफल हो सकूँगा। मैंने यह भी देखा कि एक ही विषय पर इतने विरोधी मत विद्वानों ने प्रस्तुत किये हैं। इनमें से एक ही मत सम्भवतः सत्य हो सकता है; जहाँ सम्भावना से अधिक कुछ नहीं, मैंने सभी मतों को असत्य सा ही समझने का निश्चय किया।'

'इसके अतिरिक्त', वह आगे कहता है, 'मेरे मन में सदा सत्य और असत्य में भेद करने की इच्छा रही थी, ताकि मैं जीवन में उचित पथ को देख सकूँ और इसपर विश्वास के साथ चल सकूँ।'

(2) वैज्ञानिक विधि के नियम

किसी राष्ट्र की अच्छी व्यवस्था के लिए आवश्यक है कि इसमें नियमों की संख्या कम हो, परन्तु उन्हें कठोरता से लागू किया जाय। इसी तरह सत्य की खोज में थोड़े नियम हों, परन्तु उन्हें कठोरता से लागू करना चाहिये। डेकार्ट ने अपने लिए चार निम्नलिखित नियमों को पर्याप्त पाया—

(1) 'मैं किसी धारणा को तब तक सत्य की तरह स्वीकार नहीं करूँगा, जब तक मुझे इसके सत्य होने का स्पष्ट ज्ञान न हो जाय।'

(2) 'जो भी कठिनाई मेरी जांच का विषय होगी, उसे मैं जितने भागों में बाँट सकता हूँ, बाँटूँगा; उतने भागों में बाँटूँगा, जितने इसके पर्याप्त हल के लिए आवश्यक हैं।'

(3) 'मैं अपना विवेचन ऐसे क्रम से चलाऊँगा कि जो कुछ सरल है और सुगमता से जाना जा सकता है, उससे चलकर धीरे-धीरे असरल और कठिन विषयों तक पहुँच जाऊँ।'

(4) 'मैं उदाहरणों की गणना को इतना पूर्ण और अपने परीक्षण को इतना व्यापक बनाऊँगा कि कुछ भी ध्यान से छूट न जाय।'

डेकार्ट ने इन नियमों को रेखागणित और बीजगणित में बहुत उपयोगी पाया, और विश्वास किया कि ये अन्य विद्याओं में भी सहायक होंगे।

(3) नैतिक नियम

डेकार्ट कहता है कि जीवन को सुखी बनाने के लिए, उसने निम्नलिखित अस्थायी नियमों को स्वीकार किया—

(1) 'मैं अपने देश के नियमों और रिवाजों का पालन करूँगा; जिस धर्म में मैं बचपन से पला हूँ, उसमें दृढ़ विश्वास रखूँगा; अन्य बातों में मैं आधिक्य से बचूँगा और अपने वातावरण के शिष्टाचार को अपनाऊँगा।'

(2) 'मैं अपने व्यवहार में जितना दृढ़ और स्थिर हो सकता हूँ, उतना हूँगा। मैं इसमें उन पथिकों का अनुसरण करूँगा, जो जंगल में मार्ग खो देते हैं। उनके लिए यही उचित है कि न ठहर जायँ, न इधर उधर चलें, अपितु सीधी रेखा में चलते जायँ। यदि गंतव्य तक न पहुँचेंगे, तो भी जंगल से तो बाहर हो जायँगे और गंतव्य की ओर जा सकेंगे।'

(3) 'मैं यह समझ लेने का यत्न करूँगा कि हमारी चेष्टाएँ तो हमारे वश में हैं, बाहर के हालात हमारे अधीन नहीं। उन हालात पर काबू पाने की अपेक्षा अपने आप पर काबू पाने का यत्न करूँगा। जब पूरा यत्न करने पर भी किसी वस्तु को प्राप्त न कर सकूँगा, तो समझूँगा कि वर्तमान स्थिति में मेरे लिए उसका प्राप्त करना संभव ही न था।'

(4) 'मेरे लिए वही सर्वोत्तम मार्ग है जिसे मैंने अपने लिए चुना है—अर्थात् सारे जीवन को सत्य की जिज्ञासा में लगा दूँ, और जहाँ तक बन पड़े, अपनी बुद्धि को उज्ज्वल करूँ।'

ये नियम अच्छे हैं, परन्तु यह तो स्पष्ट ही है कि डेकार्ट ने नीति-विवेचन में कोई महत्त्वपूर्ण काम नहीं किया।

(4) तत्त्व-ज्ञान

पुस्तक के चौथे भाग में आत्मा, परमात्मा और प्रकृति सम्बन्धी चर्चा है। यह डेकार्ट की शिक्षा में प्रमुख अंश है।

डेकार्ट गणितशास्त्री था। उसने दर्शन और गणित में विचित्र भेद देखा। जहाँ दार्शनिक किसी बात पर सहमत नहीं होते और वाद-विवाद में ही लगे रहते हैं, वहाँ

गणित पूर्ण निश्चितता देता है। जब कोई पुरुष त्रिकोण की बाबत प्रमाणित कर देता है कि उसकी दो भुजाएँ मिलकर तीसरी से बड़ी होती हैं, तो जो कोई भी उसकी युक्ति को समझता है, वह उसे स्वीकार किये बिना रह नहीं सकता; युक्ति का समझना और उसे स्वीकार करना एक ही मानसिक क्रिया है। डेकार्ट ने निश्चय किया कि दार्शनिक विवेचन को रेखागणित के ढंग में बदलने का यत्न करे।

रेखागणित में हम कुछ स्वतःसिद्ध धारणाओं से आरम्भ करते हैं; इन धारणाओं में सन्देह करने की सम्भावना ही नहीं होती। यदि 'क' और 'ख' दोनों 'ग' के बराबर हों, तो वे अवश्य एक दूसरे के भी बराबर होंगे। यदि इन दोनों में 'च' और 'छ', जो आपस में बराबर हैं, जोड़े जायँ तो 'क' और 'च' का योग 'ख' और 'छ' के योग के बराबर होगा। या तो सत्ता की बनावट ही ऐसी है, या हमारे मन की बनावट हमें ऐसा समझने को बाधित करती है। ऐसी स्वतःसिद्ध धारणाओं को लेकर हम अवकाश के विशेषणों को जानना चाहते हैं, और इसके लिए ऐसे क्रम से चलते हैं कि एक पग दूसरे पर अनिवार्य रूप में निर्धारित होता है। डेकार्ट ने विधि के नियम तो निश्चित कर ही लिये थे; अब आवश्यकता यह थी कि स्वतःसिद्ध धारणाओं को, जिनकी नींव पर भवन खड़ा करना है, निर्णीत किया जाय। उसके लिए दो मार्ग खुले थे। एक यह कि स्वीकृत धारणाओं में प्रत्येक का परीक्षण करे और जिस किसी में त्रुटि दिखाई दे, उसे अस्वीकार करे; दूसरा यह कि प्रत्येक धारणा पर अपने आपको सिद्ध करने का भार रखे। उसने दूसरे मार्ग पर चलना पसन्द किया। अन्य शब्दों में, उसने व्यापक सन्देह से आरम्भ करने का निश्चय किया।

सन्देहवाद दो प्रकार का होता है—स्थायी और अस्थायी। स्थायी सन्देहवाद सत्य ज्ञान को अप्राप्य, मानव बुद्धि की पहुँच से बाहर, समझता है; अस्थायी सन्देहवाद ज्ञान की सम्भावना में विश्वास करता है; और इसे प्राप्त करने के लिए प्रारम्भिक सन्देह को साधन के रूप में वर्तता है। डेकार्ट का सन्देह अस्थायी सन्देह था; उसका उद्देश्य सत्य ज्ञान को प्राप्त करना था।

उसने व्यापक सन्देह से आरम्भ किया। हम सब अपनी सत्ता में, अन्य मनुष्यों और पदार्थों की सत्ता में विश्वास करते हैं। मनुष्यों की बड़ी संख्या जगत् के नियन्ता में भी विश्वास करती है। डेकार्ट ने इन सब विश्वासों को जाँचने का निश्चय किया था। आरम्भ में ही उसे अपनी गति में एक रोक का सामना हुआ। वह शेष सब कुछ

में सन्देह कर सकता था, परन्तु इस सन्देह में सन्देह करना तो सम्भव ही न था। सन्देह का अस्तित्व सन्देह से ऊपर और परे है। सन्देह एक प्रकार की चेतना है; इसलिए चेतना का अस्तित्व असन्दिग्ध है। डेकार्ट ने चेतना को सत्ता में केन्द्रीय स्थान दिया, और नवीन दर्शन में इसने इस स्थान को नहीं छोड़ा।

डेकार्ट की प्रथम स्वतःसिद्ध धारणा यह थी—

'मैं चिन्तन करता हूँ; मैं हूँ।'

यह धारणा प्रायः इस रूप में दी जाती है—

'मैं चिन्तन करता हूँ; इसलिए मैं हूँ।'

इस विवरण से प्रतीत होता है कि डेकार्ट ने चिन्तन से चिन्तन करनेवाले का अनुमान किया। डेकार्ट के कथन में अनुमान नहीं; एक तथ्य की ओर ही संकेत है : 'मैं चिन्तन करता हूँ; अर्थात् मैं हूँ।'

इस स्वतःसिद्ध धारणा को लेकर डेकार्ट आगे चला, और उसने देखना चाहा कि इससे कोई और स्पष्ट, असन्दिग्ध धारणा भी निकल सकती है या नहीं। उसने सन्देह से आरम्भ किया था; सन्देह अज्ञान का फल है और एक त्रुटि है। डेकार्ट ने अपने जीवन में अन्य त्रुटियों को भी देखा। अपूर्णता का प्रत्यय सापेक्ष प्रत्यय है। अपूर्णता का अर्थ पूर्णता से थोड़ा या बहुत अन्तर है। अपूर्णता का होना एक बात है; अपूर्णता का ज्ञान दूसरी बात है। अपूर्णता का बोध पूर्णता के प्रत्यय के अभाव में हो ही नहीं सकता। डेकार्ट ने देखा कि उसके बोध में पूर्णता का प्रत्यय विद्यमान है। यह कहाँ से आ पहुँचा है?

अकारण तो यह उपजा नहीं; कोई कार्य कारण के बिना व्यक्त नहीं हो सकता। मनुष्य इस प्रत्यय का उत्पादक नहीं; वह आप अपूर्ण है और कारण में कार्य की उत्पत्ति की पूर्ण क्षमता होनी चाहिये। पूर्णता का प्रत्यय पूर्ण उत्पादक का सूचक है। डेकार्ट की दूसरी स्पष्ट धारणा यह थी—'ईश्वर है।'

इसके अतिरिक्त, डेकार्ट ने ईश्वर की सत्ता सिद्ध करने के लिए दो और युक्तियों का भी प्रयोग किया है—

(1) रेखागणित में हम कहते हैं—त्रिकोण की दो भुजाएँ मिलकर तीसरी से बड़ी होती हैं; दो सीधी रेखाएँ अपने अन्दर अवकाश घेर नहीं सकतीं। हमारा

अभिप्राय यह होता है कि यदि त्रिकोण और सीधी रेखाएँ कहीं हैं, तो यह अवश्य कथित लक्षणों से युक्त होंगी; हम यह नहीं कहते कि त्रिकोण और सीधी रेखाएँ विद्यमान हैं। त्रिकोण और सीधी रेखा के प्रत्ययों में उनका वास्तविक अस्तित्व सम्मिलित नहीं। ईश्वर के सम्बन्ध में स्थिति भिन्न है। वह सम्पूर्ण सत्ता है। वास्तविक अस्तित्व सम्पूर्णता में एक अनिवार्य अंश है। कल्पित ईश्वर की अपेक्षा सत्ता-सम्पन्न ईश्वर उत्कृष्ट है। ईश्वर की पूर्णता उसकी सत्ता को सिद्ध करती है।

(2) मैं अन्य प्राणियों की तरह सृष्ट वस्तु हूँ। मैंने अपने आपको नहीं बनाया। यदि मैं ही अपना सृजक होता, तो हर प्रकार की शक्ति और उत्तमता अपने आपमें इकट्ठी कर देता। मेरी त्रुटियाँ बताती हैं कि मैंने अपने काम को नहीं बनाया। किसी अन्य प्राणी ने भी मुझे नहीं बनाया; वे तो आप मेरी तरह बने हुए हैं। सृष्ट के लिए स्रष्टा की आवश्यकता है। मेरा अस्तित्व ही परमात्मा के अस्तित्व का सूचक है।

जीवात्मा और परमात्मा की सत्ता को सिद्ध करने के बाद, डेकार्ट बाहरी जगत् की ओर ध्यान फेरता है। हमें प्रतीत होता है कि हमारा शरीर अवकाश को घेरने वाला एक स्थूल पदार्थ है, और अन्य अनेक पदार्थों में स्थित है। हम अन्य मनुष्यों के सम्पर्क में आते हैं और ऐसे सम्पर्क में जीवन व्यतीत करते हैं। क्या यह प्रतीति तथ्य की सूचक है, या स्वप्न की तरह हमारी कल्पना ही है? क्या यह सम्भव नहीं कि हमारा सारा जीवन एक निरन्तर स्वप्न ही है, और बाहर-अन्दर का कोई भेद नहीं? जगत् के प्रत्यय में इसका वस्तुगत अस्तित्व सम्मिलित नहीं; हम, किसी आन्तरिक विरोध के बिना, यह कल्पना कर सकते हैं कि बाहरी जगत् का ख्याल यों ही परमात्मा ने या किसी द्रोही आत्मा ने हमारे मन में पैदा कर दिया है। किसी द्रोही आत्मा को यह अधिकार देना, परमात्मा की शक्ति को सीमित करना है; स्वयं परमात्मा को ऐसे व्यापक धोखे के लिए उत्तरदायी बनाना उसे सम्पूर्णता से वंचित करना है। परमात्मा की सत्यता से डेकार्ट अनुमान करता है कि बाहरी, प्राकृतिक जगत् का वास्तविक अस्तित्व है।

इस तरह डेकार्ट बुद्धि के प्रयोग से तीन निम्नलिखित नतीजों पर पहुँचा—

(1) जीवात्मा का अस्तित्व है,

(2) परमात्मा का अस्तित्व है,

(3) प्राकृत जगत् का अस्तित्व है।

दार्शनिक प्रायः सृष्टि से सृष्टिकर्त्ता का अनुमान करते हैं। डेकार्ट ने इस क्रम को वदल दिया, और परमात्मा की सत्यता से जगत् की सत्ता का अनुमान किया।

(5) मनुष्य और पशु

पुस्तक के पाँचवें भाग में डेकार्ट मानुष शरीर की कुछ क्रियाओं की वावत कहता है। मनुष्यों और पशुओं के भेद की वावत वह कहता है कि पशु मनुष्य की अपेक्षा बुद्धि में अधम स्तर पर नहीं; वे बुद्धि से सर्वथा वञ्चित हैं। इस कथन के पक्ष में वह पशुओं में भाषा के अभाव की ओर संकेत करता है। पशुओं में स्तर का भेद है, परन्तु कोई पशु भी भाषा का प्रयोग नहीं कर सकता। वह यह भी समझता था कि उनमें सुख-दुःख की अनुभूति का भी अभाव है। हम किसी कुत्ते को मारते हैं और वह चिल्लाने लगता है। रवड़ का खिलौना-कुत्ता भी दोनों पक्षों से दवाये जाने पर ऐसा ही करता है। दोनों हालतों में पीड़ा का अभाव है।

(6) आत्मा और शरीर का सम्बन्ध

मन का तत्त्व चेतना है; प्रकृति का तत्त्व विस्तार है। इन दोनों गुणों में पूर्ण असमानता है—ऐसी असमानता जिसकी मिसाल कहीं नहीं मिलती। हम अपनी हालत में इनका संयोग देखते हैं। यही नहीं, हम यह भी देखते हैं कि ये दोनों एक दूसरे पर क्रिया और प्रतिक्रिया करते हैं। हमारा शरीर प्राकृतिक जगत् का भाग है। उसके साथ भी हमारी क्रिया और प्रतिक्रिया होती रहती है। मैं लिखना चाहता हूँ, मेरा हाथ, जो मेरे शरीर का अंग है, और कलम, जो इसका अंग नहीं, दोनों हिलने लगते हैं। वायुमण्डल में बिजली चमकती है, मेघ गरजते हैं; और मैं देखता और सुनता हूँ। यदि मन और प्रकृति में इतना भेद है, तो वे एक दूसरे को प्रभावित कैसे कर सकते हैं? डेकार्ट ने कहा कि शरीर की एक गाँठ, पिनियल गाँठ, में इन दोनों का संसर्ग होता है और वे वहाँ एक दूसरे पर क्रिया करते हैं।

4. आलोचना

डेकार्ट के सिद्धान्त की बहुत आलोचना हुई है; ऐसा होना ही था। अधिकतर आलोचकों ने उसके सिद्धान्त में त्रुटियाँ देखी हैं; उसके पीछे आनेवाले प्रसिद्ध दार्शनिकों ने उसके काम को उसी तरह वढ़ाया, जिस तरह अरस्तू ने प्लेटो के काम को बढ़ावा दिया था। इनमें दो का काम अगले अध्याय का विषय होगा।

डेकार्ट ने अपनी खोज इस धारणा के साथ आरम्भ की थी कि वह किसी धारणा को भी प्रमाणित किये बिना स्वीकार नहीं करेगा—व्यापक सन्देह की भावना से चलेगा। उसने यह कह तो दिया, परन्तु, इस कथन में ही फर्ज कर लिया कि व्यापक सन्देह सम्भव है; इसके लिए किसी प्रमाण की आवश्यकता नहीं समझी। यह भी फर्ज कर लिया कि सभी धारणाएँ प्रमाणित की जा सकती हैं। वास्तव में उसने कई प्रत्ययों का प्रयोग किया, जो मध्य काल में स्वीकृत थे।

उसने देखा कि सन्देह के अस्तित्व में सन्देह नहीं हो सकता; और इस तथ्य की नींव पर सन्देही अर्थात् सन्देह करनेवाले के अस्तित्व को असन्दिग्ध कहा। अरस्तू के समय से विचारक मानते आये थे कि गुण गुणी में ही हो सकता है; उसकी स्वाधीन सत्ता नहीं होती। डेकार्ट ने द्रव्य और गुण का यह सम्बन्ध संकोच के बिना स्वीकार कर लिया, और अपनी प्रतिज्ञा को एक ओर रख दिया।

ईश्वर की सत्ता को सिद्ध करते हुए उसने कहा कि पूर्णता का प्रत्यय, जो हमारे मन में मौजूद है, किसी कारण की माँग करता है; और ऐसे कारण की माँग करता है जिसमें इस कार्य को उत्पन्न करने की क्षमता हो। यहाँ उसने दो नियमों को समालोचना के बिना स्वीकार कर लिया—

(1) कोई कार्य कारण के बिना नहीं हो सकता;

(2) कारण में कार्य की उत्पत्ति की पर्याप्त सामर्थ्य होती है।

प्राकृतिक जगत् को सिद्ध करने के लिए उसने कहा कि पूर्ण ईश्वर हमें निरन्तर भ्रम में नहीं रख सकता। यहाँ भी यह फर्ज कर लिया कि ऐसी भ्रान्ति हमारे हित में नहीं हो सकती।

दार्शनिकों के लिए विशेष कठिनाई यह थी कि डेकार्ट ने आत्मा और प्रकृति को इतना भिन्न बना दिया कि उनमें किसी प्रकार की क्रिया-प्रतिक्रिया सुबोध ही न रही।

इस गुत्थी को सुलझाने के लिए दो प्रकार के यत्न हुए; उसके अनुयायियों ने एक समाधान किया; स्पिनोज़ा और लाईबनिज़ ने डेकार्ट के द्वैतवाद को छोड़ने में ही प्रश्न का हल देखा।

(2) ग्यूलिंक्स और मेलब्रांश

डेकार्ट के अनुयायियों में दो नाम प्रसिद्ध हैं—ग्यूलिंक्स और मेलब्रांश। ग्यूलिंक्स (1625-1669) हालैण्ड में पैदा हुआ; मेलब्रांश (1638-1715) फ्रांस का वासी था। डेकार्ट के साथ, दोनों पुरुष और प्रकृति का भेद स्वीकार करते थे; दोनों यह भी मानते थे कि इनमें क्रिया और प्रतिक्रिया होती दीखती है; परन्तु इसका जो समाधान डेकार्ट ने किया था, उसे वे स्वीकार न कर सके। डेकार्ट के सामने प्रश्न यह था कि पुरुष और प्रकृति अपने स्वरूप में सर्वथा विभिन्न होते हुए, एक दूसरे के साथ सम्पर्क कैसे कर सकते हैं। इसके उत्तर में उसने कहा कि यह सम्पर्क पिनियल गाँठ में होता है। कहीं होता हो, प्रश्न तो यह था कि यह हो कैसे सकता है? स्थान की बाबत कहने से सम्भावना की कठिनाई तो दूर नहीं हो जाती। डेकार्ट ने सुझाव दिया था कि परमात्मा इस सम्पर्क को सम्भव बनाता है। ग्यूलिंक्स ने इस सुझाव को आगे बढ़ाया और कहा कि जो क्रिया-प्रतिक्रिया पुरुष और प्रकृति में दिखाई देती है, वह वास्तव में इन दोनों की क्रिया है ही नहीं—सारी क्रिया परमात्मा की क्रिया है। प्रकाश की किरणें मेरी आँख पर पड़ती हैं, इस अवसर पर परमात्मा मेरे मन में एक चेतना पैदा कर देता है। मेरे मन में लिखने की इच्छा होती है; इस अवसर पर परमात्मा मेरे हाथ में गति पैदा कर देता है। मन और प्रकृति किसी क्रिया के कारण नहीं; ये भिन्न और विरोधी स्वरूप होने के कारण एक दूसरे में परिवर्तन कर ही नहीं सकते; ये केवल परमात्मा की क्रिया के लिए अवसर प्रस्तुत करते हैं। ग्यूलिंक्स का सिद्धान्त 'अवसर-वाद' के नाम से प्रसिद्ध है।

दर्शन का इतिहास लिखने वालों ने ग्यूलिंक्स को यथोचित मान नहीं दिया। मेलब्रांश ने उसके विचार को अपनाया और अब 'अवसरवाद' मेलब्रांश का सिद्धान्त समझा जाता है।

मेलब्रांश का पिता फ्रांस के राजा का एक मन्त्री था। मेलब्रांश की प्रारम्भिक शिक्षा घर में हुई। पीछे धर्म और दर्शन के अध्ययन के लिए वह दो कालेजों में रहा। 22 वर्ष की उम्र में उसने निश्चय किया कि एक धार्मिक मठ में सम्मिलित हो जाय, और दुनिया के धन्धों से आजाद, निर्धनता, ब्रह्मचर्य और आज्ञापालन के नियमों में रहता हुआ, प्रचार का काम करे। इस निश्चय को उसने स्थूल रूप दे दिया। मठ में उसे डेकार्ट की पुस्तक 'मनुष्य पर निबन्ध' के पढ़ने का अवसर मिला। पुस्तक के पाठ

ने उसे डेकार्ट का अनुयायी बना दिया। उसने अवसरवाद को अपनाया और इसके धार्मिक रंग को और गहरा कर दिया। ग्यूलिक्स ने यह तो कहा था कि प्रकृति आत्मा को प्रभावित नहीं कर सकती, परन्तु यह नहीं कहा था कि प्रकृति के विविध भागों में क्रिया-प्रतिक्रिया नहीं हो सकती। मेलब्रांश ने ऐसे सम्बन्ध को भी अस्वीकार किया। जो कुछ भी जगत् में होता है, उसका ज्ञान परमात्मा को होता है; घटनाओं और पदार्थों के चित्र परमात्मा की चेतना में विद्यमान हैं। 'हम उन सब को परमात्मा में देखते हैं।' जितना अधिक कोई मनुष्य अपने आपको परमात्मा में विलीन कर देता है, उतना ही स्पष्ट उसका ज्ञान हो जाता है।

■

दसवाँ परिच्छेद

स्पिनोज़ा और लाइबनिज़

डेकार्ट ने अपने विवेचन में द्रव्य के प्रत्यय को प्रमुख प्रत्यय बनाया था। इसमें उसने अरस्तू और मध्यकालीन विचारकों का अनुकरण किया था। उसके उत्तराधिकारियों के लिए विशेष कठिनाई इसलिए पैदा हो गयी, कि उसने दो ऐसे द्रव्यों को माना था जिनमें किसी प्रकार का सम्बन्ध चिन्तन से परे है, परन्तु वास्तविक है। ग्यूलिंक्स और मेलब्रांश ने आत्मा और प्रकृति को उनकी क्रियाशक्ति से वञ्चित कर दिया था; परन्तु उनके स्वाधीन द्रव्यत्व को नहीं छेड़ा था। इस गुत्थी को सुलझाने का एक तरीका यह था कि इन दोनों में से एक का स्वाधीन अस्तित्व अस्वीकार कर दिया जाय, और निरे जड़वाद या निरे चैतन्यवाद को भूमण्डल का समाधान मान लिया जाय। स्पिनोज़ा ने इनमें से किसी समाधान को नहीं अपनाया। उसने द्रव्य के प्रत्यय को तो केन्द्र में रखा, परन्तु आत्मा और प्रकृति दोनों को द्रव्य के स्थान में गुण का स्थान दे दिया।

लाइबनिज़ ने चेतन और अचेतन को एक स्तर पर नहीं रखा। उसने डेकार्ट की तरह चेतना को प्रथम असन्दिग्ध तथ्य स्वीकार किया और प्रकृति के अस्तित्व से इनकार कर दिया। स्पिनोज़ा के लिए डेकार्ट के द्वैतवाद के विरुद्ध प्रमुख युक्ति यह थी कि द्रव्य का द्रव्यत्व ही एक से अधिक द्रव्यों का खण्डन है। लाइबनिज़ को इस युक्ति में कोई वल दिखाई नहीं दिया। वह भी स्पिनोज़ा की तरह अद्वैतवादी था, परन्तु इसके साथ अनेकवादी भी था। उसके विचारानुसार सारी सत्ता असंख्य चेतनों का समुदाय है।

बेकन ने दार्शनिक विवेचन को नये मार्ग पर डालने के लिए कहा था—'अन्दर के पट बन्द कर, बाहर के पट खोल।' डेकार्ट, स्पिनोज़ा और लाइबनिज़ तीनों ने उसके परामर्श की परवाह नहीं की और विवेकवाद की परम्परा से जुड़े रहे। व्हाइटहेड ने 17 वीं शती को 'मेधा की शती' का नाम दिया है। इन तीनों विचा-

रकों ने दर्शन-क्षेत्र में जो कुछ किया, उसे देखते हुए यह प्रशंसा इस शती का अधिकार ही है। इसी शती ने न्यूटन और जॉन लॉक को भी जन्म दिया।

1. स्पिनोज़ा

1. जीवन की झलक

बैरुश स्पिनोज़ा (1632-1677 ई०) एक यहूदी था। यहूदियों की जाति सदियों से निर्वासित जाति रही है। डेकार्ट तो फ्रांस को छोड़कर निर्विघ्न विचार के लिए हालैण्ड पहुँचा था; स्पिनोज़ा के पुरखे धार्मिक उपद्रव से बचने के लिए पुर्तगाल से हालैण्ड में आ बसे थे। उसका पिता अच्छी स्थिति का व्यापारी था। स्पिनोज़ा ने बाल्य और नवयौवन का समय विद्याध्ययन में बिताया; और सभी आशा करते थे कि वह यहूदी सिद्धान्त का एक सबल स्तम्भ साबित होगा। परन्तु उसके विचारों और स्वीकृत विचारों में इतना अन्तर हो गया कि यहूदी पुरोहित-मण्डल सहम गया। स्पिनोज़ा ने डेकार्ट के सिद्धान्त का ध्यान से अध्ययन किया। इसने भी उसकी मर्य्यादा-परायणता पर चोट लगायी। चौबीस वर्ष की उम्र में वह यहूदी जाति से निकाल दिया गया। इस जाति-बहिष्कार के अवसर पर मण्डलाधीशों ने जो निर्णय घोषित किया, उसके अन्त के शब्द ये थे—

> 'इस आदेश द्वारा सब यहूदियों को सचेत किया जाता है कि कोई भी उसके साथ न बोले, न उससे पत्र-व्यवहार करे कोई भी उसकी सहायता न करे, न कोई उसके साथ एक मकान में रहे; कोई भी चार हाथों से काम उसके निकट न आये; और कोई भी उसके किसी लेख को, जिसे उसने लिखवाया हो या आप लिखा हो, न पढ़े।'

यहूदी आप ही बहिष्कृत जाति थे, स्पिनोज़ा उनमें भी बहिष्कृत कर दिया गया।

उसके बाप ने उसे अस्वीकार कर दिया। बाप की मृत्यु होने पर स्पिनोज़ा की बहिन ने उसे बाप की सम्पत्ति से बेदख़ल करना चाहा। मुकदमे का निर्णय स्पिनोज़ा के पक्ष में हुआ, परन्तु उसने सब कुछ बहिन को ही दे दिया। एक मित्र ने उसकी सहायता करनी चाही, परन्तु उसने इसे स्वीकार न किया। वह एमस्टर्डम के बाहर एक उदार ईसाई परिवार में रहने लगा और अपने निर्वाह

के लिए तालों का बनाना और चमकाना अपना पेशा बनाया। इसमें उसने पुराने यहूदी आचार्यों का अनुकरण किया। उनका मत भी यही था—'हाथों को लौकिक सामग्री के लिए बर्त्तो; मस्तिष्क को दैवी विचारों के लिए वर्त्तो।'

स्पिनोज़ा ने बैरुश स्पिनोज़ा के स्थान पर अपने आपको बेनेडिक्ट स्पिनोज़ा कहना आरम्भ किया : बैरुश यहूदी भाषा में और बेनेडिक्ट लैटिन में 'कृतार्थ' के अर्थ में प्रयुक्त होते हैं। पाँच वर्षों के बाद, वह उसी परिवार के साथ रिजंस-वर्ग चला गया। वहाँ उसने 'ज्ञान मीमांसा' और विख्यात 'नीति' लिखी। 'नीति' समाप्त होने पर 10 वर्ष तक अप्रकाशित रही, क्योंकि उस समय की धार्मिक असहनशीलता इसमें बाधक हुई। जब इसके प्रकाशन का निश्चय किया, तो पता लगा कि वह नास्तिकता के अपराध में पकड़ लिया जायगा। उसनें प्रकाशन फिर स्थगित कर दिया, और हस्तलिखित पांडुलिपि को डेस्क में बन्द करके हिदायत कर दी कि उसकी मृत्यु के बाद वह एक निर्धारित प्रकाशक को दे दी जाय। पुस्तकें उसकी मृत्यु के बाद प्रकाशित हुईं। स्पिनोज़ा का जीवन दरिद्रता में कटा। जो काम उसने पेशे के तौर पर चुना था, उसने उसके स्वास्थ्य को बिगाड़ दिया। तंग कोठरी में रहता था; काँच के ज़र्रों ने उसके फेफड़ों को नाकाम बना दिया। 1677 में जब वह 44 वर्ष का ही था, उसका देहान्त हो गया। प्रतीत ऐसा होता था कि उसका जीवन दुःखी जीवन है; परन्तु जिस आनन्द को उसने मानव जीवन का लक्ष्य समझा था, वह उसे मिला हुआ था। वह रहता एक तंग कोठरी में था, परन्तु सारे जगत् को उसने अपना घर समझ लिया था; उसकी बिरादरी और उसके परिवार ने उसे अस्वीकार कर दिया था; परन्तु उसने विश्व के प्राणियों को बन्धुओं के रूप में देखना सीख लिया था। यदि उस समय थोड़े से पुरुष पूर्ण रूप में वीतराग थे, तो स्पिनोज़ा भी उनमें एक था; सम्भवतः वही अकेला इस श्रेणी को बनाता था।

2 स्पिनोज़ा का तत्त्व-ज्ञान

स्पिनोज़ा डेकार्ट के सिद्धान्त में शिक्षित हुआ था। जो कुछ भी उसने लिखा, डेकार्ट को ध्यान में रखकर लिखा। उसकी सबसे पहली पुस्तक, जो उसके जीवन में ही प्रकाशित हो गयी थी, डेकार्ट के सिद्धान्त की व्याख्या थी। इसमें ही पता लग गया था कि वह डेकार्ट का ऋणी तो है, परन्तु उसका अनुयायी नहीं।

उसने डेकार्ट की तरह रेखागणित को विवेचन का नमूना बनाया और 'नीति' को यूक्लिड के रेखागणित के ढंग पर लिखा। वह समझता था कि इस तरह ही वह अपने विवेचन में केवल बुद्धि पर अवलम्बित हो सकता है। रेखागणित में यही नहीं होता कि बुद्धि को अकेला प्रमाण माना जाता है; वैयक्तिक भावों और राग को भी पास फटकने नहीं दिया जाता। लेख में किसी प्रकार के शृंगार के लिए भी स्थान नहीं होता। स्पिनोज़ा ने अपने व्याख्यान में कल्पना के प्रभाव और भाषा के छल से बचने का पूरा प्रयत्न किया।

'नीति' के पाँच भाग हैं, जिनके शीर्षक ये हैं—

(1) परमात्मा के विषय में

(2) मन के स्वरूप और मूल के विषय में

(3) उद्वेगों के मूल और स्वरूप के विषय में

(4) मानव की दासता या उद्वेगों की शक्ति के विषय में

(5) बुद्धि की शक्ति या मानव-स्वाधीनता के विषय में

तत्त्व-ज्ञान के सम्बन्ध के पहला भाग विशेष महत्त्व का है। आरम्भ में 8 लक्षण और 7 स्वतःसिद्ध वाक्य दिये हैं; इनके वाद 36 निर्देश-वचन हैं। इन वचनों में प्रत्येक रेखागणित की रीति से प्रमाणित किया गया है। गणित में प्रमाणित करने का अर्थ यह होता है कि विचाराधीन वचन को स्वीकृत लक्षणों और स्वतःसिद्ध वाक्यों का अनिवार्य परिणाम दिखाया जाय।

वर्तमान हालत में भी चूँकि निर्देश-वचनों का भवन लक्षणों और स्वतःसिद्ध वाक्यों की नींव पर खड़ा किया गया है, हम पहले उनको देखते हैं।

लक्षण

(1) मैं ऐसी वस्तु को 'अपना-कारण' समझता हूँ, जिसके तत्त्व में सत्त्व निहित है और जिसका स्वरूप ऐसे तत्त्व के अभाव में विचारा ही नहीं जा सकता।

(2) अपनी श्रेणी में वह वस्तु 'परिमित' है, जिसे उसी श्रेणी की कोई अन्य वस्तु सीमित कर सकती है।

(3) 'द्रव्य' से मेरा अभिप्राय ऐसी वस्तु से है, जो निराश्रय सत्त्व रहती है, और निराश्रय ही चिन्तित हो सकती है; अन्य शब्दों में, इसका चिन्तन किसी अन्य वस्तु के चिन्तन पर, जिससे यह बनी है, आधारित नहीं होता।

(4) 'गुण' वह है जो बुद्धि को द्रव्य का सार दीखता है ।

(5) 'रूप' से मेरा अभिप्राय द्रव्य के विशेष रूपान्तर से है, या वह जो किसी अन्य वस्तु में विद्यमान है, जिसके द्वारा उसका चिन्तन हो सकता है ।

(6) 'परमात्मा' से मेरा अभिप्राय ऐसी सत्ता से है, जो निरपेक्ष अनन्त है, अर्थात् ऐसा द्रव्य जिसमें अनन्त गुण पाये जाते हैं और प्रत्येक गुण अनादि और अनन्त सार या तत्त्व को ज़ाहिर करता है ।

(7) वह वस्तु 'स्वाधीन' है, जिसका सत्त्व उसके अपने तत्त्व पर ही निर्भर है और जिसकी सारी कृतियाँ स्वयं उसी पर निर्भर हैं । वह वस्तु 'पराधीन' है, जिसका अस्तित्व और जिसकी क्रियाएँ किसी अन्य वस्तु पर निश्चित परिमाण-सम्बन्ध में, निर्भर हैं ।

(8) 'नित्यता' को मैं सत्त्व के अर्थ में ही लेता हूँ; सत् पदार्थ के लक्षण से ही उसकी नित्यता सिद्ध है ।

स्वतःसिद्ध वाक्य

(1) जो कुछ भी है, वह या तो अपने आपमें है या किसी अन्य वस्तु में है ।

(2) जिस वस्तु का चिन्तन किसी अन्य वस्तु के द्वारा नहीं होता, उसका अपने द्वारा चिन्तित होना अनिवार्य है ।

(3) किसी निश्चित कारण से उसका कार्य अनिवार्य रूप से निकलता है; दूसरी ओर कारण के अभाव में कार्य का भी अभाव होता है ।

(4) कार्य का ज्ञान कारण के ज्ञान पर निर्भर है; कार्य के ज्ञान में कारण का ज्ञान निहित है ।

(5) जिन पदार्थों में कुछ भी साझा नहीं, उनका चिन्तन एक दूसरे के द्वारा नहीं हो सकता; अन्य शब्दों में, उनमें से एक का प्रत्यय दूसरे के प्रत्यय में निहित नहीं ।

(6) सत्य प्रत्यय को अपने विषय के अनुकूल होना चाहिये ।

(7) जिस वस्तु के अभाव का चिन्तन हो सकता है, उसके तत्त्व में अस्तित्व निहित नहीं है ।

अब देखें कि इन नींवों पर स्पिनोज़ा ने कैसा सिद्धान्त-भवन खड़ा किया । उसके मत में प्रमुख बातें ये हैं—

सत्ता में दो या अधिक द्रव्यों के लिए स्थान नहीं। समग्र सत्ता एक ही द्रव्य है। इसी को ब्रह्म या ब्रह्माण्ड कहते हैं।

इस अकेले द्रव्य में, जिसके अतिरिक्त कुछ है हो नहीं, अनन्त गुण हैं, और उन गुणों में प्रत्येक गुण भी अनन्त है। हमारा ज्ञान इनमें से केवल दो गुणों तक सीमित है—वे 'चेतना' और 'विस्तार' हैं।

चेतना असंख्य 'रूपों' में व्यक्त होती है; हर एक 'रूप' मन या आत्मा कहलाता है। विस्तार भी असंख्य 'रूप' धारण करता है; प्रत्येक रूप प्राकृत पदार्थ कहलाता है।

चेतना और विस्तार एक ही द्रव्य के दो पक्ष हैं; दो स्वतन्त्र द्रव्यों के गुण नहीं। एक ही द्रव्य एक ओर से चेतन दीखता है, दूसरी ओर से विस्तृत दीखता है। ये दोनों गुण सदा एक साथ मिलते हैं।

संसार में जो कुछ हो रहा है, अनिवार्य रूप में हो रहा है; सम्भावना और वास्तविकता में कोई भेद नहीं। जगत् परमात्मा का अनिवार्य प्रकटन है। जगत् अपनी वर्त्तमान स्थिति से किसी अंश में भी भिन्न नहीं हो सकता था। परमात्मा की स्वाधीनता का अर्थ यह है कि वह जो कुछ करता है, उसमें, किसी अंश में भी किसी बाहरी वस्तु से प्रभावित नहीं होता; उसके अतिरिक्त तो कुछ है ही नहीं। वह इन अर्थों में स्वाधीन नहीं कि अपने स्वभाव के अनुकूल जिन नियमों के अनुसार क्रिया करता है, उनके प्रतिकूल कर सके।

परमात्मा अनादि और अनन्त है। जो कुछ भी अनिवार्य रूप से उसके तत्त्व का परिणाम है, वह भी अनादि और अनन्त है। डेकार्ट का यह कथन अयथार्थ है कि परमात्मा ने जीवात्माओं को पैदा किया : कोई द्रव्य पैदा किया नहीं जा सकता।

परमात्मा परिमित वस्तुओं के अस्तित्व का ही नहीं, उनके सार या तत्त्व का भी कारण है। जो कुछ कोई परिमित वस्तु कर सकती है, परमात्मा की दी हुई शक्ति से ही करती है। जो शक्ति उसे परमात्मा से नहीं मिली, उसे वह आप पैदा नहीं कर सकती।

इस विवरण में निम्न बातें विशेष महत्त्व की हैं—

(1) ब्रह्म और ब्रह्माण्ड एक ही वस्तु हैं। ब्रह्म = ब्रह्माण्ड। यह समीकरण दो रूपों में व्यक्त किया जा सकता है, और किया गया है—

ब्रह्म के अतिरिक्त कुछ नहीं ।

ब्रह्माण्ड के अतिरिक्त कुछ नहीं ।

पहले रूप में, स्पिनोज़ा संसार के अस्तित्व से इनकार करता है; दूसरे रूप में, वह आस्तिक दृष्टिकोण को अस्वीकार करता है। समीकरण दोनों अर्थों में लिया गया है। कोई उसे नास्तिक कहता है; कोई उसे ईश्वर-भक्ति में उन्मत्त बताता है।

(2) संसार में जो कुछ भी है और हो रहा है, उससे भिन्न होने की सम्भावना ही न थी। सब कुछ परमात्मा के नियत तत्त्व का परिणाम है। परमात्मा की सम्पूर्णता इसमें है कि जो कुछ भी सम्भव था, वह वास्तविक है।

(3) प्रत्येक मनुष्य व्यापक चेतना और व्यापक विस्तार का एक आकार है। परिमित वस्तुओं में ऊँच-नीच का भेद है, परन्तु स्थिति सबकी आकृति या प्रकार की ही है।

ऐसी स्थिति में आत्मा की स्वाधीनता और उसके उत्तरदायित्व का क्या बनता है? इसकी बाबत आगे देखेंगे।

3. ज्ञान-मीमांसा

स्पिनोज़ा ने 'बुद्धि-संशोधन' नाम की पुस्तक ज्ञान-मीमांसा पर लिखी। यह पुस्तक अब अपूर्ण रूप में मिलती है। इसके बाद 'नीति' के दूसरे भाग में भी इस विषय पर लिखा। ज्ञान-मीमांसा में तत्त्व-ज्ञान की तरह सत्ता के स्वरूप पर विवेचन नहीं होता, स्वयं ज्ञान विवेचन का विषय होता है। हम जानना चाहते हैं कि ज्ञान क्या है, और सत्य ज्ञान को मिथ्या ज्ञान से कैसे पहचान सकते हैं।

1. मीमांसा का उद्देश्य

स्पिनोज़ा के लिए ज्ञान-मीमांसा केवल मानसिक व्यायाम नहीं, बल्कि इसका व्यावहारिक मूल्य है। मनुष्य अपनी स्थिति समझना चाहता है, ताकि अपने अन्तिम लक्ष्य को पहुँच सके। स्पिनोजा 'बुद्धि-संशोधन' को इन शब्दों के साथ आरम्भ करता है—

'जब मैंने अनुभव से यह जान लिया कि जो कुछ साधारण जीवन में होता है, वह बहुधा असार और व्यर्थ होता है; जब मैंने जान लिया कि जो कुछ मुझे

भयभीत करता है, या मुझसे भय करता है, अपने आपमें अच्छा या बुरा नहीं होता, तो मैंने यह जानने का निश्चय किया कि क्या कोई वस्तु अपने आपमें भी भद्र है और अपनी भद्रता मुझमें प्रविष्ट कर सकती है, जिसकी प्राप्ति पर अन्य वस्तुओं की ओर ध्यान ही न जाय। मैंने यह जानने का निश्चय किया कि क्या मैं सर्वोत्तम आनन्द को जानने और उसे निरन्तर भोगने की क्षमता प्राप्त कर सकता हूँ।'

स्पिनोज़ा ने देखा कि क्षणिक तृप्ति, धन-दौलत और कीर्ति, जिनके पीछे लोग पागलों की तरह भागते फिरते हैं, साधन की स्थिति में तो कुछ मूल्य रखते हैं, परन्तु साध्य की स्थिति में बेकार हैं। मनुष्य के लिए सर्वोत्तम आनन्द अपनी यथार्थ प्रकृति का उपयोग है, और संभव हो, तो अन्य मनुष्यों के साथ मिलकर उपयोग है। इसका एकमात्र उपाय यह है कि मनुष्य विश्व के साथ अपनी एकता समझ ले।

2. ज्ञान के स्तर

स्पिनोज़ा ने ज्ञान के तीन स्तरों का वर्णन किया है। सबसे निचले स्तर पर इन्द्रिय-जन्य बोध और कल्पना आते हैं। मुझे प्रतीत होता है कि मेज पर पड़ा फूल लाल रंग का है। प्रकाश की किरणें फूल पर पड़ती हैं; वहाँ से लौटकर मेरी आँखों पर पड़ती हैं। मेरे शरीर में कुछ परिवर्तन होता है और उसके फल-स्वरूप मुझे बोध होता है। ऐसे बोध के सम्बन्ध में यह स्पष्ट है कि यह फूल को उसकी वास्तविक स्थिति में नहीं दिखाता; यह तो बताता है कि फूल की उपस्थिति ने मेरे शरीर में क्या परिवर्तन किया है। इस परिवर्तन से अलग मैं अपने शरीर की बावत भी कुछ नहीं जानता। मेरा बोध न शरीर का ज्ञान है, न बाहरी पदार्थ का; यह उन दोनों की प्रतिक्रिया का ज्ञान है। इसके अतिरिक्त यह भी निश्चित नहीं कि फूल जिस रूप में मुझे दीखता है, उसी में अन्य मनुष्यों को भी दीखता है। इन्द्रिय-जन्य ज्ञान प्रत्येक की हालत में निजी या वैयक्तिक बोध है। यह बोध ज्ञान कहलाने का अधिकारी नहीं। स्पिनोज़ा ने प्लेटो की परम्परा में 'सम्मति' का पद दिया है।

इन्द्रिय-जन्य बोध की तरह कल्पना भी, जिसमें स्मृति सम्मिलित है, सब से निचले स्तर का बोध है। माया और मतिभ्रम को ज्ञान कहने का कोई अर्थ ही नहीं।

उपर्युक्त अवस्थाओं में हमारा बोध 'अपर्याप्त प्रत्यय' पर आधारित होता है।

ज्ञान के दूसरे स्तर पर बुद्धि का प्रयोग होता है। इसकी बहुत अच्छी मिसाल रेखागणित में मिलती है। स्वप्न में और जाग्रत की कल्पना में चित्र एक दूसरे को खींच लाते हैं; हम तो क्रियाहीन द्रष्टा ही होते हैं। जहाँ बुद्धि का प्रयोग होता है, हम चुनते हैं, और जो चित्र वर्तमान प्रयोजन से संगत होते हैं, उन्हें आने देते हैं। रेखागणित में प्रत्येक पग अगले पग के लिए मार्ग साफ करता है; प्रत्येक प्रत्यय प्रत्यय-मण्डल में अपने स्थान पर होता है। विज्ञान का आधार 'पर्याप्त प्रत्ययों' पर होता है। यहाँ आन्तरिक विरोध के लिए कोई स्थान नहीं।

ऐसे ज्ञान से भी ऊँचा स्तर स्पिनोज़ा अन्तर्ज्योति या प्रतिभा को देता है। इसमें हम सत् का साक्षात् दर्शन करते हैं। प्लेटो ने भी विज्ञान से ऊँचा पद दार्शनिक विवेचन को दिया था। उसके विचारानुसार, तत्त्व-ज्ञान का उद्देश्य प्रत्ययों को, जैसा वे प्रत्ययों की दुनिया में हैं, देखना है। भारत में तो तत्त्व-ज्ञान को कहते ही 'दर्शन' हैं। इस स्तर पर हमारे प्रत्यय 'पर्याप्त' ही नहीं होते, 'सत्य' भी होते हैं। पर्याप्त प्रत्ययों में सत्य प्रत्ययों के सारे आन्तरिक गुण पाये जाते हैं; उनमें आन्तरिक विरोध नहीं होता; सत्य प्रत्यय में, प्रत्यय और इसके विषय में अनुकूलता भी पायी जाती है।

4. सत्य और असत्य का भेद

मेरी छड़ी सीधी दीखती है। कल इसके एक भाग को तिरछा नदी में डुबाया तो ऐसा प्रतीत हुआ कि बीच में टूटी हुई है। वास्तव में यह सीधी है या नहीं ? ऐसे सन्देह हमें प्रतिदिन होते हैं। सत्य को असत्य से कैसे पहचान सकते हैं ?

पहली बात तो यह है कि यह भेद प्रत्ययों में नहीं होता, अपितु निर्णयों या वाक्यों में होता है। 'सोने का पहाड़', 'परोंवाला हाथी' प्रत्यय हैं। इनके सत्य-असत्य होने का प्रश्न ही नहीं उठता। जब मैं कहता हूँ कि ऐसा पहाड़ या हाथी विद्यमान है, तो सत्य-असत्य का प्रश्न उठता है। एक प्रचलित विचार के अनुसार, जहाँ चेतना और चेतना के विषय में अनुकूलता हो, निर्णय सत्य है; जहाँ यह अनुकूलता न हो, निर्णय असत्य है। स्पिनोज़ा ने भी यही कहा। परन्तु उसकी धारणा यह है कि एक ही सत्ता या द्रव्य में, चेतना और विस्तार दोनों गुण एक साथ पाये जाते हैं, और जहाँ एक प्रकार की पंक्ति में परिवर्तन होता है,

वहाँ दूसरे प्रकार की पंक्ति में भी उसके मुकाबिल परिवर्तन अवश्य होता है। इसका अर्थ यह है कि हमारी प्रत्येक चेतना किसी 'चेत्य' (शारीरिक परिवर्तन) की चेतना होती है। ऐसी अवस्था में कोई प्रतिज्ञा अपने आपमें पूर्णतया असत्य नहीं। जब मैं सड़क पर चलते हुए छड़ी को सीधी देखता हूँ, तो एक शारीरिक प्रतिक्रिया का बोध होता है; जब इसे पानी में टेढ़ी देखता हूँ, तो भी एक शारीरिक प्रतिक्रिया का बोध होता है। यहाँ तक दोनों बोध सत्य हैं। जब मैं इन बोधों को अन्य बोधों के साथ देखता हूँ, तो इनमें से एक उनके अनुकूल होता है, दूसरा अनुकूल नहीं होता। इस भेद की नींव पर, मैं सत्य और असत्य निर्णयों में भेद करता हूँ।

जो निर्णय अन्य निर्णयों के साथ, एक व्यवस्था का अंश बन सकता है, वह सत्य है; जो व्यवस्था का अंश नहीं बन सकता, वह असत्य है।

स्पिनोज़ा ने सत्य में परिमाण भेद किया। पूर्ण, निरपेक्ष अयथार्थता कहीं विद्यमान नहीं।

5. नीति

स्पिनोज़ा का सिद्धान्त यह था कि संसार में जो कुछ हो रहा है, नियम-बद्ध हो रहा है; इससे भिन्न कुछ हो ही नहीं सकता। प्रयोजन का भी कहीं पता नहीं चलता; जो कुछ होता है, प्राकृतिक नियम के अधीन होता है। इस चित्र में स्वाधीनता के लिए कोई स्थान नहीं। और जहाँ चुनाव की संभावना नहीं, वहाँ, प्रचलित अर्थों में, भद्र और अभद्र का भेद नहीं होता। बुद्धिमत्ता इसी में है कि मनुष्य अपनी प्रकृति की माँग को पूरा करे। सबसे बड़ी माँग यह है कि वह अपने अस्तित्व को कायम रखे; 'आत्म-रक्षा से बढ़कर कोई धर्म नहीं।' इस उद्देश्य की पूर्त्ति के लिए आवश्यक है कि जो मनुष्य, स्पष्ट या अस्पष्ट रूप में, एक दूसरे पर प्रभाव डालते हैं, वे ऐसे बरतें, मानो उनके मन एक ही मन हैं और उनके शरीर एक ही शरीर हैं। ऐसा समझने पर अन्याय के लिए कोई अवकाश ही नहीं रहता। जिस पुरुष की यह दृढ़ निष्ठा हो जाती है, उसके लिए राग-द्वेष, भय आदि उद्वेग अशक्त अथवा हतवीर्य हो जाते हैं। 'जो पुरुष समस्त प्राणियों को आत्मा में और आत्मा को सर्व प्राणियों में देखता है, वह किसी से घृणा नहीं करता।

6. राजनीति

राजनीति में स्पिनोज़ा का मत हाब्स के मत से मिलता है। राजनीति मानव उद्वेगों का खेल है। प्रत्येक मनुष्य अपने आपको सुरक्षित रखने के लिए शक्ति-सम्पन्न होना चाहता है। मनुष्यों के लिए सबसे बड़ी हानि अव्यवस्था है। शासन का काम शक्ति का ऐसा विभाजन है, जिससे प्रत्येक नागरिक अपने आपको रक्षित और स्वाधीन समझ सके। इस स्थिति के लिए ,व्यवस्था बनाये रखना आवश्यक है। शासक का प्रमुख काम शासन करना है। राजनीति को नीति से अलग रखना चाहिये। मानव प्रकृति को, जैसी वह है, वैसी देखना चाहिए; कल्पना की दृष्टि से नहीं। किसी नागरिक को राजनोतिक निश्चय के पक्ष में करने का एकमात्र उपाय यह है कि उसे विश्वास हो जाय कि यह निश्चय उसके निकट या दूर के हित में है।

स्वाधीनता में स्पिनोज़ा ने विचार की स्वाधीनता को प्रमुख रखा। यह स्वाभाविक ही था। जो शासन रक्षा और स्वाधीनता दे सकता है, उसकी शक्ति कायम रखने के लिए व्यक्ति को हर प्रकार की कुरबानी के लिए तैयार रहना चाहिए।

कुछ लोग स्पिनोज़ा के सिद्धान्त को मैकियेवेली के सिद्धान्त से मिलाते हैं; परन्तु स्पिनोज़ा के लिए व्यक्ति साध्य था, साधन था; वह अपने हित में, अपनी स्वाधीनता का एक भाग राज्य को सौंप देता है।

2. लाइबनिज़

1. चरित की झलक

लाइबनिज़ (1646–1716) लाइपज़िग (जर्मनी) में स्पिनोज़ा के जन्म के 13 वर्ष के बाद पैदा हुआ। वह अभी 6 वर्ष का था कि उसके पिता का देहान्त हो गया। उसका पिता कुछ वर्षों के लिए विश्वविद्यालय में नीति का प्रोफेसर रह चुका था; लाइबनिज़ को घर में ही अच्छा पुस्तकालय मिल गया। उसने इससे पूरा लाभ उठाया और कई विषयों का पर्याप्त ज्ञान प्राप्त कर लिया। 15 वर्ष की उम्र में वह विश्वविद्यालय में भरती हुआ, और पाँच वर्ष बाद डाक्टर

आव् लॉज़ की उपाधि प्राप्त की। उसकी विधिवत् शिक्षा डेकार्ट और स्पिनोज़ा दोनों से अच्छी हुई। उसका अनुसंधान क्षेत्र भी उन दोनों के क्षेत्र से अधिक विस्तृत था। कुछ लोग तो कहते हैं कि इस पहलू में अरस्तू के बाद किसी अन्य विचारक की स्थिति इतनी विशिष्ट नहीं हुई। डेकार्ट की तरह वह भी गणितज्ञ-दार्शनिक था। डेकार्ट ने 'विश्लेषक रेखागणित' का आविष्कार किया; लाइबनिज़ ने 'अतिसूक्ष्म-गणना' का आविष्कार किया। भौतिक विज्ञान में लाइबनिज़ 'एनर्जी की स्थिरता' का पथप्रदर्शक था। विकासवाद उसके दार्शनिक मत का एक विशेष प्रयोग ही है। भूगर्भ विद्या के सम्बन्ध में पहले उसी ने कहा कि पृथ्वी सूर्य से निकली है, और प्रारम्भिक अवस्था में तप्त और पिघली हुई थी। जितना समय लाइबनिज़ को विवेचन के लिए मिला, वह डेकार्ट और स्पिनोज़ा दोनों के काल के योग से भी अधिक था। यदि यह समय विवेचन और अनुसन्धान में लगता, तो लाइबनिज़ का काम बहुत शानदार होता; परन्तु उसमें डेकार्ट और स्पिनोज़ा की सत्य-भक्ति न थी। जीवन के अन्तिम 40 वर्ष उसने हैनोवर में सरकारी पुस्तकालय के अध्यक्ष की स्थिति में बिता दिये। उसके जीवन में लौकिक बड़ाई की लालसा ने उच्च भावनाओं को पीछे ढकेल दिया। अन्तिम वर्षों में वह सारी प्रतिष्ठा खो बैठा; जब मरा, तो उसका सचिव ही अकेला विलाप करनेवाला था।

2. सत्ता का अन्तिम तत्त्व

डेकार्ट ने अपने विवेचन में द्रव्य और कारण-कार्य सम्बन्ध, दो प्रत्ययों को विशेष महत्त्व दिया था। स्पिनोज़ा ने द्रव्य को जिस स्वरूप में देखा, उसमें कारण-कार्य सम्बन्ध के लिए कोई स्थान ही न था—जहाँ सारी सत्ता एक द्रव्य ही हो, वहाँ क्रिया और प्रतिक्रिया का प्रश्न ही नहीं उठता। स्पिनोज़ा ने परिवर्तन को माना था, परन्तु यह परिवर्तन किसी बाहरी दबाव का फल न था। लाइबनिज़ ने भी स्पिनोज़ा के अनुकरण में, अपना ध्यान द्रव्य की ओर दिया।

संसार में हम जो कुछ देखते हैं, उसमें दो चिह्न प्रधान हैं—सारे दृष्ट पदार्थ मिश्रित हैं, और पदार्थों में परिवर्तन होता रहता है। लाइबनिज़ ने इन चिह्नों को देखा और अपने सम्मुख दो प्रश्न रखे—

(1) मिश्रित पदार्थों का अन्तिम अंश क्या है?

(2) परिवर्तन कैसे होता है ?

पहले प्रश्न के सम्बन्ध में उसने प्लेटो और डिमाक्राइटस के पक्षों को मिलाने का यत्न किया। डिमाक्राइटस ने परमाणुओं को अन्तिम अंश बताया था। परमाणुओं में परिमाण और आकार का भेद तो है; इसके अतिरिक्त उनमें कोई विशेषण नहीं। मिश्रित पदार्थों में जो गुण-भेद हमें दिखाई देता है, वह परमाणुओं की स्थिति और संयोग-क्रम का फल है। प्लेटो ने सत्ता को प्रत्ययों में देखा था। लाइबनिज़ ने सत्ता के अन्तिम अणुओं को विस्तार या मात्रा से वंचित कर दिया, और उन्हें चेतना-सम्पन्न बना दिया। उसने इन अणुओं को 'मॉनड' का नाम दिया, और अपने विचारों को 'मॉनेडालोजी' नाम की 90 परिच्छेदों की छोटी-सी पुस्तक में प्रकाशित किया। 'मॉनड' 'अप्राकृतिक बिन्दु' है; इसे 'चिद्‌बिन्दु' भी कह सकते हैं।

3. चिद्‌बिन्दु का स्वरूप

चिद्‌विन्दु सरल हैं; इसलिए इनमें विस्तार, आकृति और भाजन की सम्भावना नहीं। ये प्राकृतिक व्यवहार में न बन सकते हैं, न टूट सकते हैं। इनका आरम्भ और अन्त उत्पत्ति और विनाश से ही हो सकता है।

चिद्‌बिन्दुओं में कोई खिड़की नहीं होती, जिससे कुछ अन्दर आ सके या बाहर जा सके। जो कुछ कोई चिद्‌बिन्दु जानता है, अपनी बाबत ही जानता है। सारा ज्ञान आत्म-ज्ञान ही है।

प्रत्येक चिद्‌बिन्दु सारे विश्व का प्रतिबिम्ब है; इसलिए जो कुछ एक चिद्‌बिन्दु में दीखता है, वही उस श्रेणी के अन्य बिन्दुओं में भी दीखता है। इसके फलस्वरूप ऐसा भासता है कि बिन्दु एक दूसरे की बाबत जानते हैं। यह अनुकूलता परमात्मा ने आरम्भ से स्थापित कर दी है।

चिद्‌बिन्दुओं में स्तर का भेद है। जो पदार्थ अचेतन प्रतीत होते हैं, वे निचले दर्जे के चिद्‌बिन्दुओं के समूह हैं। इस समूह में कोई केन्द्रीय बिन्दु ऐसा नहीं होता जिसके कारण सामूहिक चेतना हो सके। पशुओं में ऐसा बिन्दु होता है। उनकी चेतना में इन्द्रियजन्य बोध, स्मृति और कल्पना भी सम्मिलित होती

हैं। मनुष्य की हालत में, बुद्धि का भी आविष्कार होता है, जो विशेष पदार्थों को जानने के साथ, सामान्य सत्यों का चिन्तन भी कर सकती है। साधारण चिद्-बिन्दुओं में निकृष्ट, अति निकृष्ट, चेतना होती है; पशुओं की चेतना को आत्मा कह सकते हैं; मनुष्य में चेतना मन का रूप धारण करती है।

हमारा शरीर अगणित चिद्बिन्दुओं का समूह है। मन और शरीर में कोई क्रिया-प्रतिक्रिया नहीं होती; केवल एक ही समानान्तरता होती है। मन की क्रिया होती जाती है, मानो शरीर का अस्तित्व ही नहीं; शरीर की क्रिया होती जाती है, मानो मन का अस्तित्व ही नहीं; और दोनों की क्रिया ऐसी होती है, मानों दोनों एक दूसरे को प्रभावित कर रहे हैं।

4. परमात्मा के विषय में

सारे चिद्बिन्दु समूहों में रहते हैं। इसका अर्थ यह है कि आत्मा शरीर से अलग कहीं विद्यमान नहीं। इसमें एक ही अपवाद है और वह परमात्मा है। लाइबनिज़ परमात्मा को 'चिद्बिन्दुओं का चिद्बिन्दु' कहता है। इस उक्ति के दो अर्थ किये जाते हैं। पहले अर्थ के अनुसार परमात्मा अन्य चिद्-बिन्दुओं का उत्पादक है; दूसरे अर्थ में, बिन्दुओं में सबसे ऊँचा पद पर-मात्मा का है।

लाइबनिज़ ने चिद्बिन्दुओं में निरन्तर भाव को देखा था। इसका अर्थ यह है कि यदि हम दो चिद्बिन्दुओं को लें, तो उनका अन्तर इतना थोड़ा नहीं हो सकता कि उनके बीच में तीसरे बिन्दु को रख देने की कल्पना ही न हो सके। यही स्थिति इस तीसरे बिन्दु और इससे पहले या पीछे आनेवाले बिन्दु के सम्बन्ध में होगी। यदि हम बिन्दुओं को उत्कृष्टता के आधार पर पंक्ति में रखें, तो किस बिन्दु को परमात्मा के निकटतम रखेंगे? हम यह नहीं कह सकते कि जो अन्तर इन दोनों में होगा, उससे कम अन्तर की संभावना ही नहीं।

एक और प्रश्न भी सामने आ जाता है। परमात्मा के अनेक गुण हैं। जो बिन्दु परमात्मा के निकटतम है, वह सभी गुणों में परमात्मा के निकटतम है, या विविध बिन्दु विविध गुणों में यह प्रतिष्ठित पद प्राप्त करते हैं—एक ज्ञान में, दूसरा पवित्रता में, तीसरा शक्ति में।

5. सम्भव सृष्टियों में सर्वश्रेष्ठ सृष्टि

डेकार्ट ने कहा था कि जगत् में जो कुछ हो रहा है, प्राकृत नियम के अनुसार हो रहा है, प्रयोजन का कोई दखल नहीं। अरस्तू ने कहा था कि सारा परिवर्तन उद्देश्य की ओर गति है। लाइबनिज़ ने निमित्त कारण और प्रयोजनात्मक कारण को मिलाने का यत्न किया, और कहा कि सब कुछ होता तो उद्देश्य-पूर्ति के लिए है, परन्तु परमात्मा इस परिणाम के लिए प्राकृत नियमों का प्रयोग करता है। दोनों प्रकार के कारणों में विरोध नहीं, सहयोग होता है। डेकार्ट के मतानुसार सृष्टि-प्रवाह जो कुछ है, उससे भिन्न हो ही नहीं सकता था—सम्भावना और वास्तविकता में भेद नहीं। लाइबनिज़ ने कहा कि सृष्टि के असंख्य रूप होने को हो सकते थे, परन्तु परमात्मा ने इन सम्भावनाओं में से अतिश्रेष्ठ सम्भावना को चुना और उसे वास्तविकता का रूप दिया। परमात्मा की बुद्धि ने उसे बताया कि सर्वोत्तम सम्भावना क्या है; उसकी पवित्रता ने उसे इस सम्भावना के चुनाव की प्रेरणा की; और उसकी शक्ति ने उसे इसे कार्य-रूप देने के योग्य बनाया। स्पिनोज़ा ने कहा था कि संसार में भद्र और अभद्र दोनों का अस्तित्व नहीं; हम अपने हित को प्रमुख रखकर ऐसा भेद करते हैं; लाइबनिज़ ने केवल अभद्र के अस्तित्व को अस्वीकार किया। हमें अभद्र दीखता है, क्योंकि हम संकुचित दृष्टिकोण से देखते हैं; यदि हम समग्र को एक साथ देख सकें, तो यह भद्र ही दिखाई देगा। जिन आवाजों में अपने में कोई मधुरता नहीं होती, जो कर्कश सुनाई देती हैं, वे भी मधुर संगीत का भाग हैं।

6. विशेष कठिनाइयाँ

लाइबनिज़ ने एक अनोखा ख्याल सत्ता की बाबत पेश किया। असंख्य चिद्बिन्दु या आत्मा विद्यमान हैं, और इनके अतिरिक्त और कुछ नहीं। इनमें से न कुछ बाहर जा सकता है, न कुछ इनके अन्दर आ सकता है। इनमें एक अद्भुत समानता परमात्मा ने आरम्भ से ही रख दी है, जिससे ये सब एक ही विश्व के प्रतिबिम्ब हैं। जो कुछ एक बिन्दु में होता है, वही अन्य बिन्दुओं में भी होता है, और इस तरह अपने अन्दर देखने पर उन्हें एक दूसरे की अवस्था का बोध भी हो जाता है। एक कारीगर कुछ घड़ियाँ बनाता है, और ऐसी चतुराई से बनाता है कि जब एक में चार बजते हैं, तो सभी में चार बजते हैं। समय की समानता

घड़ियों की क्रिया-प्रतिक्रिया का परिणाम नहीं; यह अनुकूलता परमात्मा की कृपा से है।

यहाँ प्रश्न उठता है कि कोई चिद्‌बिन्दु कैसे जान सकता है कि ऐसी अनुकूलता विद्यमान है। अनुकूलता हो भी, तो प्रश्न यह है कि जिन बिन्दुओं में कोई खिड़की नहीं, उन्हें इसका ज्ञान कैसे होता है। यदि मैं यह मानूँ कि मेरा मन ही सारी सत्ता है, तो कौन-सी आपत्ति है, जो लाइबनिज़ का अनेकवाद बेहतर दूर कर सकती है?

दूसरी कठिनाई नीति के सम्बन्ध में है। यदि कोई दो बिन्दु एक दूसरे को प्रभावित नहीं कर सकते, तो सामाजिक कर्त्तव्य एक अर्थहीन प्रत्यय बन जाता है। लाइबनिज़ के विचारानुसार, प्रत्येक चिद्‌बिन्दु में उत्थान की प्रवृत्ति मौजूद है। इसके प्रभाव में मैं स्वयं आगे बढ़ सकता हूँ, परन्तु यह तो नहीं कर सकता कि किसी निर्बल को सहारा देकर अपने साथ ले चलूँ। सारी नीति सुबोध स्वार्थ पर अटक जाती है।

■

ग्यारहवाँ परिच्छेद

जॉन लॉक

1. विवेकवाद और अनुभववाद

महाद्वीप के तीन प्रसिद्ध दार्शनिकों से अलग होकर अब हम ब्रिटेन में आते हैं। यहाँ हमें तीन और दार्शनिकों की संगति में कुछ समय व्यतीत करने का अवसर मिलेगा ?

वेकन ने कहा था—'ज़गत् की वावत कल्पना करना छोड़ो; इसकी वास्तविक स्थिति को देखो।' महाद्वीप के विवेकवादियों ने उसकी आवाज़ नहीं सुनी; उन्होंने मनन को ही अपने विवेचन का आश्रय बनाया। ब्रिटेन के विचारकों ने उसकी आवाज़ ध्यान से सुनी; और जो कुछ किया, वेकन की चित्तवृत्ति के अनुकूल किया। अभी तक दार्शनिकों का यत्न यही था कि अन्तिम सत्ता के स्वरूप को जानें। जॉन लॉक ने कहा—'ऐसे ज्ञान की प्राप्ति का यत्न पीछे कर लोगे; पहले यह तो समझ लो कि ज्ञान का स्वरूप क्या है; इसकी सम्भावना भी है या नहीं; और यदि है तो इसकी सीमाएँ क्या हैं। तत्त्व-ज्ञान से पहले ज्ञान-तत्त्व को विचार का विषय बनाओ।' लॉक के पीछे, बर्कले और ह्यूम ने भी ज्ञान-मीमांसा को अपना लक्ष्य बनाया।

विवेकवादी तीनों गणितज्ञ थे; और उन्होंने गणित को सत्य ज्ञान का नमूना समझकर दर्शन को गणित की निश्चितता देने का यत्न किया। लॉक, बर्कले और ह्यूम में से कोई गणितज्ञ न था; इन्होंने मनोविज्ञान पर दर्शन को आलम्बित किया। लॉक ने विश्वविद्यालय की साधारण शिक्षा के बाद वैद्यक का अध्ययन किया और उपाधि प्राप्त की। गणितज्ञ अपना काम बन्द कमरे में कर सकता है; उसे व्यापक नियमों को विशेष हालतों में लागू करना होता है। वैज्ञानिक का काम विशेष हालतों का परीक्षण करके व्यापक नियम तक पहुँचना होता है। डेकार्ट

की शिक्षा ने उसे विवेकवादी बनाया था; लॉक की शिक्षा ने उसे अनुभववादी बनाया ।

2. सत्रहवीं शती का इंग्लैंड

दार्शनिक विवेचन शून्य में, नहीं होता; दार्शनिक भी अन्य मनुष्यों की तरह, देश और काल की सन्तान होता है । लॉक के काम में देश और काल का बड़ा हाथ था । उसे समझने के लिए हमें 17वीं शती के इंग्लैण्ड की स्थिति को देखना चाहिये ।

स्काटलैंड का राजा जेम्स षष्ठ 1603 में इंग्लैंड का जेम्स प्रथम बना । इससे इंगलैंड और स्काटलैंड के झगड़े समाप्त हो गये, तो भी जेम्स के 22 वर्षों के शासन में तीन विद्रोह हुए । जेम्स विद्वान् था परन्तु शासन-कार्य के बिलकुल अयोग्य निकला । फ्रांस के राजा के कथनानुसार, जेम्स 'ईसाई देशों में सब से सयाना मूर्ख' था । लोक-सभा के साथ मतभेद होने के कारण उसके पुत्र चार्ल्स प्रथम को मृत्यु-दण्ड दिया गया । कुछ वर्षों के लिए क्रामवेल का शासन रहा और चार्ल्स द्वितीय राज-सिंहासन पर बैठा दिया गया । इसके बाद यह झगड़ा चल पड़ा कि इंग्लैंड के सिंहासन पर कोई रोमन-कैथोलिक भी बैठ सकता है या नहीं । राजनीतिक और धर्म-सम्बन्धी संघर्षों ने इंग्लैंड को अत्यन्त अशान्त कर दिया था; और स्थिति बहुत अनिश्चित थी ।

लार्ड एश्ले ने, जो पीछे अर्ल शैफ्ट्सबरी और लार्ड चांसलर बन गया, लॉक को अपनी सेवा में ले लिया; और उसके जीवन के उतार-चढ़ाव के साथ लॉक के जीवन के उतार-चढ़ाव गठित हो गये ।

3. जीवन की झलक

जॉन लॉक (1631–1704) के बाप ने बचपन में ही उसके मन में प्रचलित असहनशीलता के विरुद्ध घृणा पैदा कर दी । 1658 में उसने आक्सफोर्ड से एम० ए० की उपाधि प्राप्त की और इसके बाद वैद्यक का अध्ययन किया । 1666 में लार्ड एश्ले से उसका परिचय हुआ और वह लार्ड एश्ले के घर में ही रहा । वह लार्ड एश्ले का परामर्शदाता था; उसके पुत्र का शिक्षक था; और परिवार का वैद्य

था । 1685 में जब शैफ्ट्सबरी को देश से भागकर हालैंड जाना पड़ा, तो लॉक भी उसके पीछे वहाँ जा पहुँचा । 1688 की क्रान्ति के बाद वह इंग्लैंड लौट आया, और एक अच्छे पद पर नियुक्त हो गया ।

उसने अपनी प्रमुख पुस्तकें देश-निकाले के दिनों में हालैंड में लिखीं । 'सहनशीलता पर पत्र' लिखे; 'लौकिक शासन' पर दो पुस्तकें लिखीं; और जगद्विख्यात 'मानुषबुद्धि पर निबन्ध' नामक पुस्तक लिखी । वास्तव में ये तीनों ग्रन्थ सम्बद्ध थे । लॉक के हृदय पर प्रचलित असहनशीलता से चोट लगी थी । उसने राजनीतिक और धार्मिक सहनशीलता के पक्ष में अपनी आवाज उठायी । 'लौकिक शासन' में अपने विचारों को राजनीति पर लागू किया; 'निबन्ध' में अपने मन्तव्य को दार्शनिक नींवों पर स्थापित किया । 'लौकिक शासन' में यह बताने का यत्न किया कि राजा का शासन 'दैवी अधिकार' पर आधारित नहीं, अपितु मनुष्यों के निर्णय पर आधारित है । इंग्लैण्ड में राजा और संसद में विवाद का प्रमुख विषय यही था । दार्शनिक सिद्धान्त में 'निबन्ध' ही महत्त्वपूर्ण है ।

4. लॉक का 'निबन्ध'

पुस्तक के आरम्भ में लॉक ने 'पाठक के नाम पत्र' लिखा है । इसमें पुस्तक की रचना की बाबत सूचना दी है । लॉक लिखता है—

'5-6 मित्र मेरे कमरे में बैठे एक विषय पर वार्तालाप कर रहे थे, और वे उन कठिनाइयों के कारण, जो हर ओर से खड़ी हो गयीं, अटक गये । जब हमें कठिनाइयों से निकलने का कोई उपाय न सूझा, तो मुझे ख्याल आया कि हम गलत मार्ग पर चल रहे थे । ऐसे विषयों पर विचार करने से पहले आवश्यक है कि हम अपनी योग्यताओं की बाबत जाँच करें; और यह देखें कि हमारी बुद्धि किन विषयों की बाबत जान सकती है और किनकी बाबत जान नहीं सकती । मैंने अपना सुझाव मित्रों को बताया और उन्होंने इसे स्वीकार किया । आगामी बैठक के लिए मैंने जल्दी में कुछ अनपचे विचार लेखबद्ध किये । मित्रों ने आग्रह किया कि मैं इन विचारों को विस्तृत करूँ । मैंने पुस्तक का लिखना आरम्भ कर दिया; काफी अन्तर के लिए, इसकी ओर ध्यान नहीं दिया; फिर लिखने लगा; और अन्त में बीमारी के कारण जो अवकाश और एकान्त प्राप्त हुआ, उसमें वर्तमान रूप में पुस्तक समाप्त हुई है । सम्भवतः पुस्तक का कलेवर कम किया जा

सकता है, परन्तु तथ्य यह है कि मैं इतना आलसी या इतना मसरूफ हूँ कि मैं इसे छोटा कर नहीं सकता।'

'निबन्ध' के चार भाग हैं। पहला भाग लॉक के मार्ग को साफ करता है। अरस्तू ने और नवीन काल में डेकार्ट ने कहा था कि हमारे कुछ विचार जन्मजात होते हैं। लॉक ने इस धारणा को अस्वीकार किया, और कहा कि हमारा सारा ज्ञान अनुभव से प्राप्त होता है। आरम्भ में मन कोरे कागज या कोरी पटिया की तरह होता है, जिसपर अनुभव अंकित होते हैं। दूसरे भाग में मानुष अनुभव का विश्लेषण है। यह भाग नवीन मनोविज्ञान की नींव रखता है। तीसरा भाग भाषा से संबद्ध है। चौथा भाग ज्ञान-मीमांसा है। हमारे लिए यह भाग विशेष महत्त्व का है।

5. लॉक का मत

1. अनुभववाद

अनुभववाद का मौलिक सिद्धान्त यह है कि सारा ज्ञान अनुभव से प्राप्त होता है; कोई प्रत्यय या धारणा जन्मजात नहीं। जो लोग जन्मजात प्रत्ययों या धारणाओं का पक्ष लेते हैं, वे कहते हैं कि ये प्रत्यय और धारणाएँ व्यापक हैं; प्रत्येक मनुष्य के मन में मौजूद हैं। लॉक कहता है कि यदि यह तथ्य भी हो, तो हमें देखना है कि ऐसी व्यापकता का कोई अन्य समाधान भी सम्भव है या नहीं। किसी प्रतिज्ञा की स्वीकृति के लिए इतना ही पर्याप्त नहीं कि वह विचाराधीन सभी तथ्यों का सन्तोषजनक समाधान है; इसके अतिरिक्त यह भी आवश्यक है कि यह प्रतिज्ञा ही ऐसा समाधान हो। जन्मजात प्रत्ययों और धारणाओं के समर्थक यह सिद्ध करने की आवश्यकता ही नहीं समझते। परन्तु उनका दावा भी तो निर्मूल है। वास्तव में कोई प्रत्यय या धारणा नहीं, जो सभी मनुष्यों को स्वीकृत हो। बौद्धिक धारणाओं में प्रत्येक दार्शनिकों में भी विवाद का विषय है। व्यवहार के सम्बन्ध में भी ऐसा ही मतभेद दिखाई देता है। कहा जाता है कि प्रत्येक मनुष्य न्याय को आदर का पात्र समझता है। यह सत्य भी हो, तो भी न्याय के स्वरूप की बाबत एकमत कहाँ है ?

जो प्रत्यय और धारणाएँ जन्मजात कही जाती हैं, वे सब अनुभव-प्राप्त दिखायी जा सकती हैं।

2. ज्ञान का विश्लेषण

लॉक के अनुसार सारा ज्ञान दो प्रकार के बोध पर आधारित है। कुछ बोध बाहर से ज्ञानेन्द्रियों के प्रयोग से प्राप्त होता है; और कुछ मानसिक अवस्थाओं या प्रक्रियाओं पर दृष्टि डालने से प्राप्त होता है। पास पड़े फूल से रूप-रंग और गन्ध का बोध होता है; इसे छूने से कोमलता का बोध होता है। यह मेज़ से गिर पड़े, तो शब्द सुनाई देता है। अन्दर की ओर दृष्टि फेरने पर, सुख का अनुभव होता है। सुख देखने, सुनने, सूँघने का विषय नहीं; इसकी अनुभूति आन्तरिक बोध है। यह दो प्रकार का सरल बोध ज्ञान-भवन की अन्तिम सामग्री है। इन सरल बोधों के संयोग-वियोग से अनेक मिश्रित बोध बनते हैं। घटाना-बढ़ाना ऐसे परिवर्तन का सबसे सरल दृष्टान्त है। मैं जिन मनुष्यों को देखता हूँ, वे तीन फुट और सात फुट के बीच में होते हैं, परन्तु मैं इस परिमाण को बढ़ा घटाकर 10 फुट या 2 इन्च लम्बे मनुष्य की कल्पना भी कर सकता हूँ। यह भी कर सकता हूँ कि मानसिक चित्र में टाँगों या धड़ को छोड़ दूँ, या दो के स्थान में बीस टाँगें रख दूँ। कल्पना यह भी करती है कि विविध समग्रों से भाग लेकर नया समग्र बनाती है—प्राणी का सिर और धड़ मनुष्य के हैं, और नीचे का भाग मछली का है।

ये मिश्रित बोध तीन प्रकार के हैं—

(क) द्रव्य,

(ख) प्रकार या क्रिया,

(ग) सम्बन्ध।

(क) द्रव्य

हम फूल, कुर्सी, मानुष-शरीर आदि अगणित द्रव्यों को देखते हैं; उनका शब्द सुनते हैं। खाद्य पदार्थों का रस लेते हैं, गन्ध भी लेते हैं। स्पर्श से जानते हैं कि पदार्थ गर्म है, सर्द है, समतल है, या खुरखुरा है। हमें गुणों का बोध होता है। अनुभव बताता है कि ये गुण समूहों में मिलते हैं; कोई गुण अलग नहीं मिलता। हम समझ नहीं सकते कि कोई गुण या सरल बोध स्वाधीन, निराश्रय कैसे रह सकता है। जिन गुणों को हम सदा एक साथ पाते हैं, उनके समूह को विशेष नाम देते हैं और भ्रम में समझने लगते हैं कि हमें इन पदार्थों का सरल बोध होता है।

तथ्य यह है कि जब हम द्रव्य का चिन्तन करते हैं, तो हमारे मन में किसी ऐसे आलंबन का ख्याल होता है जो अपने विविध गुणों के सरल बोध हमारे मन में पैदा करता है। ऐसे अस्पष्ट आलम्बन के अतिरिक्त द्रव्य का प्रत्यय कुछ नहीं। जो कुछ बाहरी द्रव्यों की बाबत सत्य है, वही आन्तरिक द्रव्य की बाबत भी सत्य है। हम क्रियाओं या अवस्थाओं को अपने अन्दर देखते हैं; और इन्हें भी समूहों में पाते हैं। यहाँ भी हम समझ नहीं सकते कि कोई बोध, अनुभूति, निश्चय, स्मरण, संशय कैसे किसी सहारे के बिना हो सकता है। अनुभव किसी अनुभवी का अनुभव हो सकता है; इसकी निराधार स्थिति हो नहीं सकती। ये अनुभव हमें संग्रन्थित दीखते हैं। इन समूहों या संघटनों को हम मन कहते हैं। आन्तरिक क्षेत्र में भी द्रव्य का प्रत्यय उसी तरह बनता है, जिस तरह बाहरी क्षेत्र में। दोनों हालतों में, गुण-समूह जो निराधार चिन्तित ही नहीं किये जा सकते हैं, द्रव्य समझे जाते हैं।

लॉक प्राकृत पदार्थों के गुणों में प्रधान और अप्रधान, मौलिक और गौण का भेद करता है। मौलिक गुण ऐसे गुण हैं, जो प्रत्येक प्राकृत पदार्थ में पाये जाते हैं और उसमें सदा मौजूद रहते हैं। हमें उनका बोध हो या न हो, उनकी स्थिति बनी रहती है। ये गुण परिमाण, आकृति, संख्या स्थिति और भागों की गति हैं। प्रत्येक पदार्थ का कुछ-न-कुछ परिमाण होता है, आकार होता है; वह एक है या समूह है, किसी विशेष स्थान में है, और उसके अंश गति में हैं। अप्रधान गुण किसी पदार्थ में हैं; किसी में नहीं; एक ही पदार्थ में आज हैं, कल नहीं। संसार में अनेक पदार्थ रंग-विहीन हैं; वृक्ष के पत्ते आज हरे हैं, कल पीले हो जायेंगे। ये गुण वास्तव में बाहरी पदार्थों में होते ही नहीं; ये प्रधान या मौलिक गुणों की क्रिया का फल हैं, जो हमारे मन में बोध के रूप में प्रकट होता है। कोई देखनेवाला न हो, तो सभी प्राकृत पदार्थ एक समान बेरंग होंगे; कोई सुननेवाला न हो, तो संसार पूर्ण रूप में सुनसान होगा। पर्वत निरंगे, परन्तु कोई शब्द नहीं होगा; वायुमण्डल में लहरें उठेंगी और बस। जो गति किसी पदार्थ के परमाणुओं में हो रही है, उसे तो हम देख नहीं सकते; दैनिक व्यवहार चलाने के लिए इतना ही आवश्यक है कि पदार्थों में भेद कर सकें। इसके लिए अप्रधान गुण हमारी सहायता के लिए पर्याप्त हैं। ईश्वर ने मौलिक गुणों को अप्रधान गुणों के उत्पादन की शक्ति दी है; इससे हमारा काम चल जाता है।

प्राकृत पदार्थ के दो मौलिक गुण हैं—एक यह कि यह अलग हो सकनेवाले

ठोस भागों से बना होता है; दूसरा यह कि एक पदार्थ दूसरे पर लगकर उसे अपनी गति दे सकता है।* आकृति तो परिमित विस्तार का परिणाम ही है। आत्मा के विशेष गुण भी दो हैं—चिन्तन और संकल्प। संकल्प से यह शरीर को गति दे सकता है। संकल्प के प्रयोग से मन प्राकृत पदार्थों की इच्छानुसार गति देता है या उनकी गति को रोकता है। सत्ता, समय-प्रस्तार और अस्थिरता—ये तीनों गुण प्रकृति और आत्मा दोनों में पाये जाते हैं। जब मैं एक स्थान से दूसरे स्थान को जाता हूँ, तो मेरा शरीर ही नहीं, आत्मा भी स्थान बदलती है।

इससे अधिक हम न प्राकृत पदार्थों की बाबत जानते हैं, न आत्मा की बाबत जानते हैं।

(ख) शक्ति

'प्रकार'-या 'क्रिया' के नीचे लॉक ने देश, काल, 'अनन्त' आदि पर लिखा है। हम यहाँ केवल 'शक्ति' पर उसके विचारों को देखेंगे।

जब किसी पदार्थ में कोई परिवर्तन होता है, तो हमें इसका ज्ञान अपने बोधों में परिवर्तन द्वारा ही होता है। आँधी से वृक्ष के पत्ते और फल हिलते हैं, और उनमें से कुछ नीचे भूमि पर गिर पड़ते हैं। पत्तों और फलों की स्थिति में परिवर्तन हुआ है। जो बोध इनके कारण हमें पहले था, वह अब बदल गया है। बोध के परिवर्तन से ही हम यह जानते हैं कि पत्तों और फलों की स्थिति बदल गयी है। यहाँ लॉक के

* लॉक समझता था कि कोई पदार्थ किसी अन्य पदार्थ के साथ टकराये बिना उसमें गति पैदा नहीं कर सकता; एक पदार्थ दूसरे को अपनी गति देता है, और इसके लिए दोनों का सम्पर्क आवश्यक है। अन्य शब्दों में, कोई प्राकृत पदार्थ दूर से दूसरे पदार्थ को प्रभावित नहीं कर सकता। न्यूटन के 'आकर्षण नियम' ने लॉक के लिए बड़ी कठिनाई पैदा कर दी। उसने एक पत्र में लिखा कि मेरी समझ में नहीं आता कि किस तरह कोई पदार्थ सम्पर्क में आये बिना किसी अन्य पदार्थ को प्रभावित कर सकता है, परन्तु यह आकर्षण तो निरन्तर हो रहा है। यही कह सकते हैं कि जो कुछ हमारी समझ से परे है, वह भी परमात्मा की शक्ति के बाहर नहीं। लॉक ने यह भी कहा कि आगामी संस्करण में, 'निबन्ध' के उचित अंश में संशोधन कर दिया जायगा।

लिए एक कठिनाई खड़ी हो जाती है। हमारी इन्द्रियाँ हमें दो अवस्थाओं का बोध देती हैं, जिनमें एक दूसरी के पीछे विद्यमान होती है। लॉक बार-बार कहता है कि हमारा सारा ज्ञान इन्द्रियजन्य बोधों पर, और इन बोधों के बोध पर, आधारित है। इन बोधों में तो शक्ति कहीं दिखाई नहीं देती। लॉक को द्रव्य में, दोनों प्रकार के द्रव्य में, शक्ति विद्यमान दीखती है। द्रव्य एक दूसरे में परिवर्तन करते हैं या एक दूसरे से परिवर्तित होते हैं। इस दो प्रकार की योग्यता को कहाँ रखें ? लॉक कहता है—'मेरा ख्याल है कि हमारी शक्ति का बोध अन्य सरल बोधों के साथ रखा जा सकता है, और एक सरल बोध ही समझा जा सकता है। यह बोध हमारे द्रव्यों के मिश्रित प्रत्ययों का एक प्रमुख अंश है।' इस भाषा में वह निश्चितता नहीं, जो लॉक सरल बोधों के सम्बन्ध में वर्त्तता है। जैसा हम आगे चलकर देखेंगे, पीछे ह्यूम ने कहा कि यदि हमारा सारा ज्ञान इन्द्रियजन्य बोधों पर ही आधारित है, तो हमें द्रव्य और शक्ति दोनों को छोड़ना होगा। लॉक इस कठिनाई को कुछ अनुभव करता है; इसलिए वह प्रकृति और आत्मा को भिन्न स्तरों पर रखता है। वह कहता है—'जब हम किसी परिवर्तन को देखते हैं, तो हम अवश्य किसी परिवर्तन करनेवाली शक्ति का ध्यान करते हैं, और साथ ही दूसरे पदार्थ में परिवर्तित होने की योग्यता का ध्यान करते हैं। परन्तु यदि हम अधिक ध्यान देकर सोचें, तो हमारी ज्ञानेन्द्रियाँ प्राकृत पदार्थों की हालत में सकर्मक योग्यता का ऐसा स्पष्ट और विमल बोध नहीं देतीं, जैसा हमें अपने मन की क्रियाओं को देखने से होता है। मन प्राकृतिक पदार्थों को गति दे सकता है, और अपनी अवस्थाओं में भी परिवर्तन कर सकता है। उसकी शक्ति में तो सन्देह का अवकाश ही नहीं।

(ग) सम्बन्ध

द्रव्यों की शक्ति की बाबत कहकर, कारण-कार्य सम्बन्ध की बाबत कहने के लिए इतना ही रह जाता है कि परिवर्तन में कोई नयी वस्तु उत्पन्न होती है या नयी अवस्था प्रस्तुत होती है। दोनों हालतों में, उत्पादन करने वाली शक्ति को कारण कहते हैं, और उत्पादित वस्तु या अवस्था को कार्य कहते हैं।

(3) ज्ञान-मीमांसा

ज्ञान-मीमांसा में निम्नलिखित प्रश्नों पर विचार करेंगे—

(क) सत्य ज्ञान से क्या अभिप्राय है ?
(ख) ज्ञान कैसे प्राप्त होता है; इसके विविध रूप क्या हैं ?
(ग) हमारे ज्ञान की सीमाएँ क्या हैं ?

(क) सत्य ज्ञान क्या है ?

लॉक के विचार में हमारा सारा ज्ञान इन्द्रिय-जन्य बोधों पर आधारित है। लॉक ने शक्ति के बोध को भी सरल बोधों में गिना है। मैं अपने सामने अब फूल, गमले, घास, दीवार देखता हूँ; कमरे में जाता हूँ, तो दरी, चारपाई और पुस्तकें देखता हूँ। बाहर चारपाई और पुस्तकें नहीं देखता; अन्दर घास और फल नहीं देखता। मेरे बोधों का यह भेद मेरी इच्छा पर निर्भर नहीं; मैं अपने आपको विवश पाता हूँ। मेरा बोध वातावरण की स्थिति पर निर्भर है। यह स्थिति मेरे बोध का कारण है। जीवन के व्यापार के लिए मुझे इस स्थिति को जानना होता है। अनुभव बताता है कि मैं कभी-कभी भ्रान्ति में भी पड़ जाता हूँ। इसलिए सत्यासत्य का भेद एक व्यावहारिक आवश्यकता बन जाता है।

ज्ञान में हम दो बोधों की अनुकूलता या प्रतिकूलता देखते हैं। यह अनुकूलता या प्रतिकूलता चार रूप धारण करती है—

अभिन्नता या भिन्नता;
सम्बन्ध;
सहभाव या अनिवार्य मेल;
वस्तुगत सत्ता।

जब मैं किसी वस्तु को हरा या गोल कहता हूँ, तो मैं यह भी जानता हूँ कि वह वस्तु लाल या चपटी नहीं।

जब दो वस्तुएँ या अवस्थाएँ मेरे बोध में आती हैं, तो मैं उनमें अनेक प्रकार के सम्बन्ध देखता हूँ। दो फूलों में एक दूसरे से बड़ा है, अधिक लाल है, मुझसे अधिक दूर है।

सहभाव एक ही द्रव्य के विविध गुणों में पाया जाता है। फूल के विविध गुण एक साथ विदित होते हैं। इसी सहभाव के कारण हम द्रव्य का प्रत्यय बनाने को वाध्य होते हैं।

वस्तुगत सत्ता का अर्थ यह है कि विचाराधीन वस्तु की सत्ता हमारे बोध या चिन्तन पर निर्भर नहीं।

जब हमारा बोध वास्तविकता का सूचक होता है, तो यह सत्य ज्ञान है; जब वास्तविकता के प्रतिकूल होता है, तो मिथ्या ज्ञान है। यह सत्य का अनुरूपता-सिद्धान्त है। हमारे पास इस अनुरूपता को जानने का एक ही साधन है—हम कुछ धारणाओं में सन्देह कर ही नहीं सकते; ये इतनी स्पष्ट होती हैं। घास मुझे हरी प्रतीत होती है। यह प्रतीति मेरे लिए असंदिग्ध है; मेरे लिए इसे मानने के सिवा दूसरी सम्भावना ही नहीं।

(ख) ज्ञान के विविध रूप

लॉक के विचारानुसार हमारा ज्ञान बोधों की बाबत होता है, और हम इन बोधों में अनुकूलता या प्रतिकूलता देखते हैं। ज्ञान के विविध रूपों का भेद इसलिए होता है कि बोधों की अनुकूलता-प्रतिकूलता को एक ही प्रकार से नहीं देखते। निश्चितता की पराकाष्ठा 'प्रत्यक्ष' ज्ञान में होती है। हम देखते ही कहते हैं कि सफेद काले से भिन्न है, वृत्त त्रिकोण से भिन्न है, और दो और दो चार होते हैं। दो बोधों को देखते ही हम उनकी अनुकूलता या प्रतिकूलता की बाबत निर्णय कर लेते हैं; इसमें किसी अन्य बोध की सहायता आवश्यक नहीं होती। ऐसे निर्णयों को प्रमाणित करने की न आवश्यकता होती है, न सम्भावना ही। ये स्वयंसिद्ध दिखाई देते हैं। हमें अपनी सत्ता की बाबत भी प्रत्यक्ष ज्ञान होता है। निबन्ध के दूसरे भाग में लॉक ने कहा था कि आत्मा की बाबत हमारा प्रत्यय उतना ही अस्पष्ट है, जितना प्रकृति का प्रत्यय है; दोनों हालतों में हमारा ज्ञान विशेष बोधों तक सीमित होता है, और हम उनके लिए आलम्बन में विश्वास करने को बाध्य होते हैं। पुस्तक के चौथे भाग में लॉक आत्मा को प्रत्यक्ष का विषय बताता है। वह कहता है—

'मैं चिन्तन करता हूँ, मैं तर्क करता हूँ, मैं सुख-दुःख का अनुभव करता हूँ। क्या इनमें से कोई भी मेरी सत्ता से अधिक स्पष्ट हो सकता है? यदि मैं अन्य सब वस्तुओं के अस्तित्व की बाबत सन्देह करूँ, तो यह सन्देह ही मुझे मेरी सत्ता का ज्ञान दे देता है, और इसे सन्दिग्ध समझने की अनुमति नहीं देता। क्योंकि यदि मुझे अपने दुःख का बोध हो, तो यह स्पष्ट है कि मुझे दुःख की सत्ता जैसा असन्दिग्ध ज्ञान अपनी सत्ता का भी है।....अनुभव हमें निश्चय कराता है कि हमें अपनी सत्ता का प्रत्यक्ष ज्ञान है, और हमें अभ्रान्त आन्तरिक बोध होता है कि हम हैं। प्रत्येक गुण-

बोध, तर्क, या चिन्तन में हमें अपनी सत्ता का बोध होता है, और हम निश्चितता की अधिक से अधिक मात्रा प्राप्त करते हैं।'

यहाँ डेकार्ट का प्रभाव स्पष्ट दिखाई देता है। ऐसा प्रतीत होता है कि वही लॉक के मुँह से बोल रहा है। जैसा हम अभी देखेंगे, लॉक प्रकृति को बिलकुल भिन्न स्तर पर रखता है।

अनुमान ज्ञान का दूसरा रूप है। यह प्रत्यक्ष पर आधारित होता है। प्रत्यक्ष में हम दो बोधों के सम्बन्ध को किसी अन्य बोध की सहायता के बिना सीधा देखते हैं; अनुमान में ऐसी सहायता आवश्यक होती है। मैं देखता हूँ कि त्रिभुज में तीन कोण हैं; मुझे समकोण का भी बोध है; परन्तु इन दोनों बोधों के साथ ही मुझे यह ज्ञान नहीं हो जाता कि त्रिभुज के तीन कोण मिलकर दो समकोणों के बराबर होते हैं।

इसे प्रमाण से सिद्ध करना होता है। युक्ति में जो पग—क, ख, घ—आते हैं, उनमें से प्रत्येक स्वयंसिद्ध होता है; ऐसा न हो तो युक्ति कहीं समाप्त ही न हो। ईश्वर की सत्ता प्रत्यक्ष नहीं, अनुमान का विषय है। लॉक के विचार में हम बने हुए पदार्थ हैं; इस रचना के लिए रचयिता की आवश्यकता है। वह रचयिता स्वयं रचना नहीं हो सकता; रचना के लिए अनादि रचयिता का मानना अनिवार्य हो जाता है। चिन्तन और क्रिया-शक्ति हमारे चिह्न हैं। इनका अस्तित्व चेतना और शक्तिमान् सत्ता का सूचक है। हम अनादि, चेतन, शक्तिमान् ईश्वर की सत्ता मानने को भी बाध्य हैं। इसके सम्बन्ध में भी हमारी निश्चितता उतनी ही दृढ़ है जितनी अपनी, सत्ता की बाबत दृढ़ है। इसपर भी यह भेद तो है ही कि हमें अपनी सत्ता का ज्ञान प्रत्यक्ष होता है, और परमात्मा की सत्ता का ज्ञान अनुमान है।

गणित और विज्ञान अनुमान का बहुत अच्छा नमूना पेश करते हैं।

प्रत्यक्ष और अनुमान ही दो असंदिग्ध ज्ञान हैं; इनके अतिरिक्त सारा ज्ञान सम्मति या विश्वास का पद रखता है। परन्तु विशेष पदार्थों की हालत में सत्ता की सम्भावना इतनी बड़ी होती है कि हम उसे भी ज्ञान का पद ही दे देते हैं। यह ज्ञान इन्द्रियजन्य बोध से होता है। यह ठीक है कि ऐसा बोध कभी-कभी बाहरी पदार्थों की अनुपस्थिति में भी होता है, परन्तु हममें से प्रत्येक व्यक्ति वस्तु-बोध और कल्पना में भेद कर सकता है।

इस तरह, ज्ञान के के तीन रूप हैं—प्रत्यक्ष, अनुमान और प्राकृत पदार्थों का इन्द्रियग्राह्य ज्ञान ।

पहले दो प्रकार का ज्ञान असंदिग्ध होता है; तीसरे प्रकार के ज्ञान में भ्रान्ति की सम्भावना है, परन्तु व्यवहार में यह कठिनाई अजेय नहीं होती ।

इस विवरण में लॉक ने अपने विचार मानव ज्ञान की सीमाओं की बाबत भी प्रकट कर दिये हैं ।

6. लॉक का महत्त्व

जैसा हमने आरम्भ में देखा था, लॉक के समय में धार्मिक और राजनीतिक असहनशीलता बहुत जोर पकड़े हुए थी । राजनीति में शासक कहते थे कि उन्हें शासन का अधिकार परमात्मा से प्राप्त हुआ है । दैवी अधिकार के समर्थक विचारकों में भी मौजूद थे । धर्म के क्षेत्र में प्रोटेस्टेंट और कैथोलिक वर्गों में तो घोर मतभेद था ही; अन्य सम्प्रदाय भी संघर्ष में लगे थे । और हरएक समुदाय कहता यही था कि जो कुछ वह प्रतिपादित करता है, वह और वह ही, स्वयं परमात्मा का प्रकाशन है । लॉक ने इन विश्वासों को निर्मूल बनाने के लिए मानव बुद्धि का विश्लेषण अपना लक्ष्य बनाया । उसने कहा कि हमारा सारा ज्ञान हमारे अनुभव का परिणाम है । हमारा अनुभव इतना सीमित है कि हमें नम्र भाव को अपनाना चाहिये । परमात्मा की सत्ता ही प्रत्यक्ष नहीं, अनुमान का विषय है; हम यह कैसे कह सकते हैं कि उसने हमें शासकों के दैवी अधिकार या धर्म के सम्बन्ध में अपने विचारों को बताया है ? मनुष्यों में भेद है; इसलिए उनके विचार भी एक नहीं होते । जहाँ मतभेद स्वाभाविक ही हो, वहाँ बुद्धि की माँग यही है कि मनुष्य एक दूसरे को विचार की स्वाधीनता दें । असहनशीलता बुद्धि के अधिकार को न मानने का फल है ।

'निबन्ध' अपने समय के प्रतिष्ठित ग्रन्थों में एक था । लॉक के जीवन में ही इसके कई संस्करण प्रकाशित हुए, और कई भाषाओं में इसका अनुवाद हुआ । इसपर जो आलोचना हुई, उससे भी पता लगता है कि इसने दार्शनिक विवेचन में कितना महत्त्व प्राप्त कर लिया । धर्म और राजनीति में लॉक के दृष्टिकोण को बहुत लोगों ने अपना लिया ।

बारहवाँ परिच्छेद

बर्कले और ह्यूम

1. बर्कले

1. जन्म और शिक्षा

जार्ज बर्कले (1684–1753) आयरलैंड में पैदा हुआ। वहीं शिक्षा प्राप्त की और 1707 में ट्रिनिटी कालेज, डबलिन में सभासद के पद पर नियुक्त हुआ। कुछ समय उसने इटली, सिसली और फ्रांस में गुजारा। 1721 में चैप्लेन बना; इसके बाद डीन बना और अन्त में बिशप बना। वह बिशप बर्कले के नाम से विख्यात है। पादरी की स्थिति में उसने प्रकृतिवाद और नास्तिकवाद के खण्डन को अपना ध्येय बनाया। उसकी प्रमुख दार्शनिक पुस्तक का उद्देश्य भी यही था। बाद में उसके मन में अमेरिका के आदिवासियों को ईसाई बनाने का ख्याल आया। इसके लिए उसने निश्चय किया कि बरम्युडास द्वीप में, जो अंग्रेजों का सबसे पुराना उपनिवेश था, एक कालेज स्थापित किया जाय। इसके लिए चन्दा इकट्ठा हुआ; बर्कले ने वहाँ 7 वर्ष व्यतीत किये। आयोजन असफल रहा। बर्कले ने इस बात की ओर ध्यान नहीं दिया कि यह नन्हा द्वीपपुंज महाद्वीप के किनारे से 600 मील दूर था।

बर्कले ने कई पुस्तकें लिखीं। पहली पुस्तक 'दृष्टि का नवीन सिद्धान्त' 1709 में लिखी; 1710 में विख्यात 'मानुषी ज्ञान के नियम' नामक पुस्तक प्रकाशित हुई। इसी की शिक्षा को सरल रूप देने के लिए, 1713 में उसने 'तीन संवाद' की रचना की। पीछे जो कुछ लिखा, उसमें दार्शनिक महत्त्व की कोई नयी बात न थी। बर्कले ही शायद अकेला दार्शनिक है जिसने अपना काम 25 वर्ष की उम्र में समाप्त कर दिया। वह बहुत जल्दी परिपक्व हुआ और जीवन के अन्तिम 43 वर्षों में उससे आगे नहीं बढ़ा।

2. 'दृष्टि का नवीन सिद्धान्त'

बर्कले की पहली पुस्तक मनोविज्ञान से सम्बन्ध रखती है। मैं अपने सामने वृक्ष देखता हूँ। इसका तना खुरखुरा और घेरे में 3 फुट के करीब दिखाई देता है। यह मुझसे 10 गज के करीब दूर है, और मकान की दीवार से निकट है। यह हरे पत्तों से लदा है। साधारण पुरुष ख्याल करता है कि यह सारा ज्ञान आँखों के प्रयोग से प्राप्त होता है, परन्तु तनिक विचार भी बता देगा कि यह भ्रम है। वृक्ष का रंग-रूप आँखों का विषय है, परन्तु इसके तने की गोलाई, इसका खुरखुरापन, इसका अन्तर दृष्टि के विषय नहीं। मैं स्पर्श से जान सकता हूँ कि वृक्ष समतल है या खुरखुरा है। स्पर्श के लिए मुझे चलकर उसके पास पहुँचना होता है; उसे मेरे पास आने का कोई शौक नहीं। मुझे वृक्ष तक पहुँचने में श्रम करना पड़ता है। इस श्रम की मात्रा की सूचना पुट्ठों की अवस्था से मिलती है। जब मैं कहता हूँ कि वृक्ष दीवार से निकट है, तो मेरा अभिप्राय यही होता है कि जितना श्रम वृक्ष तक सीधा चलकर जाने में आवश्यक है, उससे अधिक श्रम दीवार तक पहुँचने के लिए करना होगा। अन्तर या दूरी का निर्णय आँख नहीं करतीं; यह गति और स्पर्श का विषय है। आँख पिछले अनुभव की नींव पर हमें बता देती है कि उचित उद्योग के बाद हम किस स्पर्श-बोध की आशा कर सकते हैं। जब मैं कुर्सी को देखता हूँ, इसके परिमाण का, ढाँचे का, बैठक के बेंत का परीक्षण करता हूँ, तो निश्चय करता हूँ कि इसपर बैठने में कोई खतरा नहीं। एक और कुर्सी को देखता हूँ, जो 6 इन्च ऊँची, 4 इन्च चौड़ी और गहरी है, जो रंगीन गत्ते की बनी है। मैं निर्णय करता हूँ कि यह ऊपर बैठने की वस्तु नहीं, कमरे की सजावट के लिए है। बर्कले कहता है कि ईश्वर हमारी सुविधा के लिए 'दृष्टि-सम्बन्धी भाषा' का प्रयोग करता है; जो कुछ हम देखते हैं, वह 'चिह्न' या 'लिंग' है, जो हमें उचित क्रिया के लिए तैयार करता है।

इस पुस्तक को लिखते समय बर्कले का मन्तव्य कुछ भी हो, जो सिद्धान्त उसने प्रतिपादित किया, वह यही है कि दृष्टि हमें बाहरी जगत् के अस्तित्व की बाबत कुछ नहीं बताती; यह ज्ञान हमें स्पर्श और पुट्ठों की गति से होता है।

3. 'मानुषिक ज्ञान के नियम'

अपनी दूसरी पुस्तक में बर्कले ने अद्वैतवाद का समर्थन किया; दृष्टि ही

नहीं, स्पर्श भी बाहरी पदार्थों के अस्तित्व की बाबत कुछ बता नहीं सकता। हमारा सारा ज्ञान बोधों तक सीमित है और बोध सब आन्तरिक हैं। लॉक ने अन्दर और बाहर में भेद करने में भूल की है; जो कुछ है, अन्दर ही है।

लॉक ने सारी सत्ता को तीन भागों में विभक्त किया था—

(1) आत्मा और उनके बोध,

(2) परमात्मा,

(3) बाह्य पदार्थ, जो गुणों के आधार या सहारा हैं। हम गुणों के सहारे में विश्वास करने को बाध्य हैं, परन्तु हमारा ज्ञान गुणों से परे नहीं जाता।

बर्कले ने देखा कि अनुभववाद के मौलिक सिद्धान्त के अनुसार उपर्युक्त सूची में (1) और (2) का मानना तो आवश्यक है, (3) का मानना आवश्यक नहीं। यही नहीं, प्राकृतिक द्रव्य के प्रत्यय में आन्तरिक विरोध है, और इसलिए इसे स्वीकार नहीं किया जा सकता।

लॉक ने बर्कले का काम सुगम कर दिया था। उसने मौलिक और गौण गुणों में भेद किया था, और कहा था कि मौलिक गुण तो बाहरी पदार्थों में विद्यमान हैं, परन्तु रूप-रंग, शब्द, गन्ध आदि हमारे मन की अवस्थाएँ हैं, जो प्रधान गुणों के प्रभाव से उत्पन्न होती हैं। दोनों प्रकार के गुण संयुक्त दिखाई देते हैं; जहाँ फूल के रंग और गन्ध हैं, वहीं उसके आकार और ठोसपन हैं। इस सहवास से दो परिणाम निकल सकते हैं—

(1) यदि मौलिक गुण बाह्य पदार्थ में हैं, तो गौण भी वहीं हैं।

(2) यदि गौण गुण मन में हैं, तो मौलिक गुण भी वहीं हैं।

साधारण मनुष्य पहला परिणाम निकालता है; बर्कले ने दूसरा परिणाम निकाला। लॉक ने गौण गुणों को मानसीय सिद्ध करने के लिए विशेष बल इस बात पर दिया था कि ये अस्थिर हैं—दिन के समय पदार्थों में जो रंग दीखते हैं, चाँदनी में उनसे भिन्न दीखते हैं; दूर से जंगल काला दिखाई देता है, निकट जायँ, तो वृक्ष हरे दीखते हैं। एक हाथ को गर्म जल में और दूसरे को ठंढे जल में रखने के बाद, दोनों को पानी के एक पात्र में डालें, तो वह एक हाथ को गर्म और

दूसरे को ठंढा प्रतीत होगा। ये भेद बताते हैं कि ये गुण बाह्य पदार्थों में हैं ही नहीं, हमारे मन में हैं। बर्कले ने इस आक्षेप को महत्त्वपूर्ण स्वीकार किया, और यह सिद्ध करने का यत्न किया कि जो कुछ लॉक ने गौण गुणों के मानसीय होने के पक्ष में कहा है, वह मौलिक गुणों के सम्बन्ध में भी कहा जा सकता है। एक ही पदार्थ एक स्थान में समकोण चतुर्भुज दीखता है; दूसरे स्थान से समकोण नहीं दीखता; निकट से बड़ा दीखता है, दूर से बड़ा नहीं दीखता—सूर्य और चन्द्रमा एक बराबर ही दीखते हैं। गौण गुणों की तरह, मौलिक गुण भी मानसीय ही हैं। सारी सत्ता चेतन आत्माओं और उनके बोधों की है। अनुभववाद में बर्कले का बड़ा पग चैतन्यवाद का समर्थन था।

बर्कले जानना चाहता है कि लॉक ने ऐसी स्पष्ट बात क्यों नहीं देखी। वह कहता है: 'लॉक की भ्रान्ति का कारण निगूढ़ प्रत्ययों का सिद्धान्त था।' अन्य कई दार्शनिकों की तरह वह भी समझता था कि पशु विशेष पदार्थों की बाबत ही जानते हैं; मनुष्य सामान्य का भी चिन्तन कर सकता है। घोड़ा घोड़ों को तो देखता है, 'घोड़े' को, जो कोई विशेष घोड़ा नहीं, उसने कभी नहीं देखा। मनुष्य घोड़ों को देखने के साथ, घोड़े का चिन्तन भी कर सकता है। किसी पशु की समझ में ही नहीं आ सकता कि 'दो और दो चार होते हैं।' निरे दो और चार का प्रत्यय उसकी पहुँच से परे है। बर्कले ने कहा कि मनुष्य भी केवल विशेष पदार्थों को देखते हैं, और उनका मानसिक चित्र बनाते हैं। हाँ, यह भी कर सकते हैं कि किसी चित्र की श्रेणी का प्रतिनिधि समझ कर, श्रेणी की बाबत कोई सामान्य धारणा करें। सारी सत्ता विशेष वस्तुओं की है; सामान्य तो केवल नाम है, जो हम श्रेणी के सभी विशेषों के लिए बर्त्तते हैं। 'प्राकृत द्रव्य' भी एक ऐसा अस्थूल प्रत्यय है। 'फूल' कुछ गुणों के समूह का नाम है, और उनमें हर एक गुण हमारे मन में ही है। यह बर्कले का 'नामवाद' है।

लॉक का मुख्य प्रश्न यह था कि सत्ता, अस्तित्व या हस्ती किन रूपों में विद्यमान है। बर्कले ने कहा—'पहले इस बात को तो समझ लो कि अस्तित्व या हस्ती का अर्थ क्या है। मैं बरामदे में बैठा हूँ और कहता हूँ कि कमरे में, जो बन्द है, पुस्तकें पड़ी हैं। मेरे कथन का अर्थ क्या है? बर्कले कहता है—

मैं कहता हूँ, जिस मेज़ पर मैं लिख रहा हूँ, वह विद्यमान है; अर्थात् मैं इसे देखता

हूँ, छूता हूँ। मैं कमरे से बाहर हूँ, तो कहूँगा कि मेज़ विद्यमान है, अर्थात् यदि मैं कमरे में जाऊँ तो इसे देख, छू सकूँगा, या कोई अन्य चेतन इसे देख रहा है। किसी गन्ध के अस्तित्व का अर्थ यह है कि कोई इसे सूँघता है; शब्द का अर्थ यह है कि कोई इसे सुनता है; रंग और आकृति का अर्थ यह है कि दृष्टि या स्पर्श से विदित होती है। इन शब्दों और इन जैसे अन्य शब्दों से मैं यही समझ सकता हूँ। अचेतन पदार्थों का निरपेक्ष अस्तित्व, जिसमें किसी चेतन का बोध सम्मिलित न हो, पूर्ण रूप में अचिन्तनीय प्रतीत होता है।

इन पदार्थों का तत्त्व 'ज्ञात होने में है।'

वर्कले के कथन के पहले भाग से ऐसा प्रतीत होता था कि वह ऐसे पदार्थों के अस्तित्व के लिए इतना ही पर्याप्त समझता था कि इनमें ज्ञात होने की सम्भावना हो; यदि कोई ज्ञाता कमरे में जाय, तो पुस्तकें दिखाई दें। पीछे जॉन स्टुअर्ट मिल ने इसी ख्याल को व्यक्त किया और प्रकृति को 'अनुभूत होने की सम्भावना' ही बताया। परन्तु बर्कले के लिए ऐसे बोध की सम्भावना में नहीं, अपितु इसकी वास्तविकता में प्राकृत पदार्थों का तत्त्व निहित है। यही नहीं कि जब कोई चेतन कमरे में जायगा, वह पुस्तकों को देखेगा; कोई चेतन उन्हें निरन्तर देखता है। यह धारणा अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। कैसे ?

4. परमात्मा के विषय में

जब कमरा बन्द होता है, तो पुस्तकें वहाँ होती हैं, या किसी चेतन के अन्दर जाने पर उत्पन्न हो जाती हैं। निरन्तर उत्पत्ति और विनाश की सम्भावना तो है, परन्तु तथ्य यही प्रतीत होता है कि वे विद्यमान रहती हैं। उनके विद्यमान होने का अर्थ ही यह हैं कि वे किसी ज्ञाता के ज्ञान में हों। कोई परिमित ज्ञाता सदा हर कहीं मौजूद नहीं हो सकता; इसलिए हमें अपरिमित ज्ञाता—परमात्मा—की सत्ता माननी पड़ती है। पदार्थों का निरन्तर भाव इसके बिना हो ही नहीं सकता। लॉक ने कहा था कि हमारा वस्तु-ज्ञान हमारी इच्छा पर निर्भर नहीं, हमसे अलग इसका कोई कारण है, और वह प्राकृतिक द्रव्य है। वर्कले ने यह तो स्वीकार किया कि यह ज्ञान किसी बाहरी शक्ति की क्रिया का फल है, परन्तु यह भी कहा कि क्रिया की शक्ति चेतन द्रव्य में ही हो सकती है। यह ज्ञान परमात्मा की क्रिया का फल है। परमात्मा यह क्रिया नियमानुसार करता है। इसी क्रम को हम प्राकृत नियम का नाम देते हैं।

दृष्ट जगत् बोधों का बना है; बोध का तत्त्व ही विदित होना, चेतनांश होना है। बोधों के अतिरिक्त सत्ता में चेतन आत्मा भी विद्यमान है। इनका तत्त्व क्या है? इनका तत्त्व ज्ञाता होना है। लॉक ने चिन्तन को आत्मा की प्रक्रिया बताया था; बर्कले ने इसे आत्मा का तत्त्व कहा। प्रक्रिया और तत्त्व में भेद है। मैं लिखता हूँ; लिखना मेरी प्रक्रिया है। मैं दिन-रात के 24 घंटे लिखता नहीं रहता। बर्कले के विचार में चिन्तन आत्मा का तत्त्व है; आत्मा किसी समय में भी चिन्तन या चेतन के बिना नहीं रह सकती। लॉक ने स्वप्न-रहित निद्रा को वास्तविक अवस्था माना था; बर्कले ने इसे अस्वीकार किया। आत्मा का चिन्तन कभी स्थगित नहीं होता।

बर्कले ने अपने सम्मुख प्रश्न रखा था—'जब हम अस्तित्व की बाबत कहते हैं, तो हमारा अभिप्राय क्या होता है।' इस प्रश्न का उत्तर उसने यह दिया—

'दृश्य पदार्थों का तत्त्व ज्ञात होना है; आत्माओं का तत्त्व ज्ञाता होना है।'

आत्माओं का तत्त्व! बर्कले प्रकृतिवादियों और नास्तिकों से निपटना चाहता था; उनके अस्तित्व में विश्वास करता था। परन्तु क्या यह विश्वास, उनके सिद्धान्त में, सप्रमाण विश्वास है? मुझे अपने अस्तित्व का प्रत्यक्ष ज्ञान है; मैं इसमें सन्देह कर ही नहीं सकता। जो कुछ शरीरधारी प्रतीत होता है, उसका ज्ञान ईश्वरीय क्रिया का फल है। अन्य आत्माओं की बाबत मैं कैसे जान सकता हूँ? न प्रत्यक्ष से जानता हूँ, न यह ज्ञान मुझे प्राकृतिक पदार्थों के ज्ञान की तरह परमात्मा से मिलता है। बर्कले के सिद्धान्त में मेरे सारे ज्ञान के लिए परमात्मा का और मेरा अस्तित्व पर्याप्त है।

लॉक के समाधान में भी यह कठिनाई है।

बर्कले के सिद्धान्त में तीन बातें विशेष महत्त्व की हैं—

(1) बाह्य पदार्थों की स्थिति का ज्ञान दृष्टि का विषय नहीं; यह स्पर्श का काम है। ('दृष्टि का नवीन सिद्धान्त')

(2) हमारा ज्ञान विशेष पदार्थों का ज्ञान ही होता है; 'सामान्य' की स्थिति नाम की ही है। ('नामवाद')

(3) सारी सत्ता चेतन आत्माओं और उनके बोधों की है। ('चैतन्यवाद')

2. ह्यूम

1. व्यक्तित्व

डेविड ह्यूम (1711–1786) एडिनबरा में पैदा हुआ। बचपन में ही वह पिता की देख-रेख से वंचित हो गया, परन्तु यह त्रुटि उसकी माता ने पूरी कर दी। उसने कानून की शिक्षा प्राप्त की, परन्तु उसकी रुचि इसमें न थी। व्यापार में उसे लगाने का यत्न हुआ, परन्तु यह भी विफल रहा। अपना साहित्य सम्बन्धी शौक पूरा करने के लिए, ह्यूम ने तीन वर्ष फ्रांस में व्यतीत किये। 1737 में वह लंदन गया, और 1738 में 'मानव प्रकृति' प्रकाशित की। पुस्तक इतनी रूखी थी और इसके विचार इतने अनोखे थे कि किसी ने इसकी परवाह न की। 1741 और 1742 में एडिनबरा से नैतिक और राजनीतिक निबन्ध प्रकाशित किये। ये पसन्द किये गये। एडिनबरा विश्वविद्यालय में प्रोफेसर के पद के लिए उसने यत्न किया, परन्तु यह यत्न सफल न हुआ, क्योंकि वह सन्देहवादी समझा जाता था।

यह ख्याल करके कि उसकी प्रथम पुस्तक 'मानव प्रकृति' रूखी और कठिन होने के कारण लोगों तक पहुँच न सकी थी, उसने पुस्तक के पहले भाग को सरल रूप दिया, और इसे 'मानव बुद्धि पर अन्वेषण' के नाम से प्रकाशित किया। पीछे, 'नीति के नियम' लिखकर 'मानव प्रकृति' को इसके वर्तमान रूप में पूर्ण किया।

1752 में यह एडिनबरा 'वकील-विभाग' के पुस्तकालय का अध्यक्ष नियुक्त हुआ। इससे उसे पुस्तकों का बड़ा भण्डार पढ़ने को और पर्याप्त समय लिखने को मिल गया। इतिहास ने उसे आकर्षित किया, और उसने 1755 में अपनी पुस्तक प्रकाशित कर दी। इसमें उसने चार्ल्स प्रथम और लार्ड स्टैफर्ड का पक्ष लिया। पुस्तक के स्वागत की बावत वह कहता है कि हर ओर से निन्दा, असन्तोष और घृणा का शोर उठा। उसने अपना काम जारी रखा, और पाँच जिल्दों में इंगलैंड का इतिहास लिखा। यह अपने समय का प्रामाणिक इतिहास हो गया। 1769 में जब उसे आर्थिक सफलता प्राप्त हो गयी, वह जीवन के अन्तिम वर्ष आराम से व्यतीत करने लगा, और 1786 तक एडिनबरा में ही एक सम्मानित अवकाश-प्राप्त नागरिक की स्थिति में टिका रहा।

2. ह्यूम का सिद्धान्त

ह्यूम ने लॉक और बर्कले की तरह विवेकवाद की आलोचना की, परन्तु इसके साथ ही अनुभववाद को इसकी तार्किक सीमाओं तक पहुँचा कर इसकी निस्सारता भी व्यक्त कर दी।

कहा जाता है कि लॉक ने बर्कले के आगमन को सम्भव किया और बर्कले ने ह्यूम के आगमन को सम्भव किया। जहाँ तक लॉक पहुँचा, बर्कले उससे आगे बढ़ा, और ह्यूम बर्कले से भी आगे बढ़ा। परन्तु ऐसा प्रतीत होता है कि ह्यूम के ध्यान में बर्कले की अपेक्षा लॉक अधिक था, और हम कह सकते हैं कि उसने भी लॉक के सिद्धान्त का संशोधन अपना लक्ष्य बनाया। लॉक ने 'मानव-बुद्धि' पर निबन्ध लिखा था; ह्यूम की 'मानव-प्रकृति' के पहले खण्ड का नाम भी यही है। लॉक और ह्यूम दोनों की पुस्तकों में चार भाग हैं। दोनों में पहले दो भाग ज्ञान के अन्तिम अंशों या सामग्री से सम्बन्ध रखते हैं। लॉक के अन्तिम भाग का शीर्षक है : 'ज्ञान—निश्चित और अधिक सम्भावना वाला।' ह्यूम की पुस्तक के तीसरे भाग का शीर्षक है—'ज्ञान और सम्भावना।' लॉक ने एक भाग शब्दों के विवेचन को दिया था; ह्यूम ने इसके स्थान में अपने मत का सारांश दिया है, और अन्य मतों से इसकी तुलना की है। ऐसा प्रतीत होता है कि ह्यूम ने भी लॉक के विषय को ही अपने विवेचन का विषय बनाया।

3. ज्ञान के अन्तिम अंश

लॉक ने 'आइडिया' शब्द को विस्तृत अर्थ में प्रयुक्त किया था। हर प्रकार का बोध, जो ज्ञानधारा का अंश है, उसकी परिभाषा में 'आइडिया' था। बर्कले ने भी ऐसा ही किया। ह्यूम आगे बढ़ा और उसने चेतना-अंशों में प्रभाव और चित्र का भेद किया। मैं फूल को देखता हूँ; पक्षी की आवाज़ सुनता हूँ। यह प्रभाव या उपलब्धि एक प्रकार की छाप है, जो मेरे मन पर लगती है। छाप के रूप-रंग की बाबत निश्चय करना मेरा काम नहीं; मेरा काम तो इसे ग्रहण करना है। पीछे मुझे फूल के रंग और पक्षी की आवाज़ की याद भी आती है। यह याद असली छाप का चित्र है। ह्यूम ने ऐसे चित्रों के लिए ही 'आइडिया' शब्द का प्रयोग किया। ह्यूम के अनुसार, ज्ञान के अन्तिम अंश 'प्रभाव' और 'चित्र' हैं। इन चित्रों को हम अनेक रूपों में संयुक्त करते हैं और इनके आपसी सम्बन्धों को भी देखते हैं। सभी मिश्रित चित्र

इस संयोग के फल हैं। साधारण बोध के साथ, स्मृति, कल्पना और विवेचन भी सम्मिलित हो जाते हैं।

प्रभावों और चित्रों में भेद क्या है ?

लॉक के अनुसार, प्रभाव बाहरी प्रकृति की क्रिया का परिणाम हैं। ये हमें प्राकृत द्रव्यों के गुणों का बोध कराते हैं। इन गुणों में मौलिक गुण ही बाहर विद्यमान हैं; गौण गुण हमारी मानसिक अवस्थाएँ हैं, जो प्रधान गुणों की क्रिया से उत्पन्न होती हैं। बर्कले ने हमारी सत्ता को अस्वीकार किया, और कहा कि प्रभाव हमारे मन में परमात्मा की क्रिया से उत्पन्न होते हैं; चित्र हमारी अपनी क्रिया का फल हैं। ह्यूम ने कहा कि प्रभाव और चित्र दोनों हमारे अनुभव हैं; हमारा ज्ञान अनुभव से परे जाता ही नहीं, और इसलिए हम इनके कारण की बाबत जान नहीं सकते; हाँ, इनके भेद को देख सकते हैं।

प्रभाव चित्रों की अपेक्षा अधिक स्पष्ट और तीव्र होते हैं। यदि ऐसा ही है, तो प्रश्न उठता है कि कितनी तीव्रता किसी अनुभव को प्रभाव बनाती है। जहाँ तीव्रता इससे न्यून होगी, हम कह सकेंगे कि अनुभव चित्र है, प्रभाव नहीं। निरन्तरता इस प्रकार की कठिनाई खड़ी कर देती है। ह्यूम ने अनुभव किया कि चित्र की तीव्रता कभी-कभी इतनी अधिक होती है कि वह उसे प्रभाव से अभेद बना देती है, और दूसरी ओर प्रभाव की दुर्बलता उसे चित्र से अभेद बना देती है। इस स्वीकृति से एक तरह ह्यूम ने यह कह दिया कि हमारे पास इन दोनों में भेद करने का कोई असंदिग्ध उपाय नहीं। यदि प्रभाव और चित्र में केवल स्पष्टता की मात्रा का भेद ही हो, तो यह कठिनाई बनी रहती है। शायद इसी से बचने के लिए ह्यूम ने कहा कि जिस प्रकार से प्रभाव की हालत में हमें चोट लगती है, उस प्रकार से चित्र की हालत में नहीं लगती। यहाँ दोनों में मात्रा का नहीं, अपितु गुण का भेद दीखता है।

यह सन्देह हमारे लिए कठिनाई प्रस्तुत करता है; ह्यूम के लिए इसमें कोई आपत्ति न थी। उसकी सम्मति में तो किसी प्रकार के ज्ञान में भी असंदिग्धता की सम्भावना ही नहीं। बहुत बड़ी सम्भावना है कि जिस त्रिकोण को हम देखते हैं, उसकी दो भुजाएँ मिल कर तीसरी से अधिक हों; परन्तु यह सम्भावना भी पूर्ण निश्चितता से इधर ही रहती है।

4. प्राकृतिक द्रव्य

लॉक ने प्राकृतिक द्रव्य का अस्तित्व माना था, परन्तु यह कहा था कि मौलिक गुण ही इसमें विद्यमान हैं। बर्कले ने मौलिक और अमौलिक गुणों का भेद मिटा दिया और कहा कि प्रकृति का प्रत्यय एक कल्पना है। ह्यूम ने बर्कले के विचार को स्वीकार किया, और कहा कि प्राकृत पदार्थों की स्थिति इतनी ही है कि हम कुछ प्रभावों को एक साथ अनुभव करते हैं और उनके समूह को विशेष नाम दे देते हैं। गौण गुणों के मानवी होने के पक्ष में लॉक ने उनकी अस्थिरता का सहारा लिया था; बर्कले ने कहा कि यह अस्थिरता मौलिक गुणों की हालत में भी विद्यमान है, और दोनों प्रकार के गुण एक साथ पाये जाते हैं। जहाँ गौण गुण हैं, वहीं मौलिक गुणों का भी स्थान है। ह्यूम ने इस युक्ति को स्वीकार किया, परन्तु इसी पर सन्तुष्ट नहीं हुआ। उसने मौलिक गुणों के मानवी होने के पक्ष में निम्नलिखित युक्ति दी है—

'तीन मौलिक गुण प्रमुख हैं—ठोसपन, विस्तार और गति'; अन्य गुण इनके अन्तर्गत आ जाते हैं। गति किसी पदार्थ की ही हो सकती है; ठोसपन और विस्तार के अभाव में गति की कल्पना ही नहीं हो सकती। जब हम किसी पदार्थ को विस्तृत कहते हैं, तो हमारा आशय यही होता है कि वह भागों का समूह है। इसके विभाजन में हम कहीं जाकर अटक जाते हैं। जो अन्तिम भाग अभाज्य है, उसे भी हम ठोस समझते हैं, नहीं तो भाव और अभाव में कोई भेद नहीं रहता। इस तरह, मौलिक गुणों में ठोसपन ही प्रमुख है; इसी की जाँच करें।

जब हम किसी वस्तु को ठोस कहते हैं, तो हमारा अभिप्राय क्या होता है? मैं ईंट को दोनों हाथों के बीच रखता हूँ, और उसे दोनों ओर से दबाता हूँ। यह हाथों को अपने अन्दर घुसने नहीं देती। जल में ईंट को फेंकता हूँ, तो जहाँ जल है, वहाँ ईंट नहीं; जहाँ ईंट है, वहाँ जल नहीं। किसी वस्तु के ठोसपन का तत्त्व यही है कि वह किसी अन्य ठोस वस्तु को अपने अन्दर प्रवेश करने नहीं देती। हमारा प्रश्न था— 'ईंट का ठोसपन क्या है?' उत्तर यह है कि यह दो ठोस पदार्थों का पारस्परिक सम्बन्ध है। ह्यूम कहता है कि हम एक ठोस पदार्थ के स्वरूप को समझना चाहते थे, और समाधान फर्ज़ कर लेता है कि हम दो या अधिक ठोस पदार्थों के स्वरूप की बाबत जानते हैं। किसी ठोस पदार्थ के ठोसपन को समझने के लिए केवल उसी

को चिन्तन का विषय बनाना चाहिये । ऐसा करें, तो ठोसपन का कोई स्पष्ट बोध नहीं होता । ठोसपन पर अन्य मौलिक गुण, विस्तार और गति, आधारित हैं । इसलिए प्राकृतिक द्रव्य का कोई बोध नहीं हो सकता ।

प्राकृतिक द्रव्य प्रकटनों के समूह का नाम है; इसके अतिरिक्त कुछ नहीं ।

परन्तु हम अपने व्यवहार में बाह्य पदार्थों की सत्ता में विश्वास करते हैं । ह्यूम आप कहता है कि यह प्रश्न पूछना निरर्थक है कि बाह्य पदार्थ हैं या नहीं; हम सब उनके अस्तित्व में विश्वास करते हैं । पूछने की बात तो यह है कि इस विश्वास का स्रोत क्या है । प्राकृतिक द्रव्य प्रभाव नहीं; बुद्धि इनको सिद्ध नहीं करती । कल्पना रह जाती है; वही इनका प्रत्यय बनाती है । कैसे ?

मैं कमरे में होता हूँ तो पुस्तकों को देखता हूँ; बरामदे में आता हूँ, तो उन्हें नहीं देखता । भ्रमण करने जाता हूँ, तो न पुस्तकों को देखता हूँ, न बरामदे को । लौट कर आता हूँ, तो पुस्तकें और बरामदा फिर दीखने लगते हैं । जब मैं बाहर था, तो भी वे विद्यमान थे या नहीं थे ? इन्द्रियजनित ज्ञान तो इसमें सहायता नहीं करता; बुद्धि भी निश्चय से कह नहीं सकती । मेरी अनुपस्थिति में पुस्तकों और बरामदे का अभाव सम्भव है; इसमें कोई आन्तरिक विरोध नहीं । कल्पना इन अन्तरों में पदार्थों की स्थिरता को फर्ज़ कर लेती है । विशेष पदार्थों की स्थिरता के अतिरिक्त, उनमें संयोग भी प्रतीत होता है । मैं गंगा की ओर जाता हूँ, मार्ग पर दोनों ओर कुछ वृक्ष दिखाई देते हैं, आगे रेल का फाटक आता है; उसके बाद चुंगीघर आदि आते हैं और फिर पुल आता है । प्रतिदिन यही क्रम दिखाई देता है । कल्पना भूतकाल और वर्त्तमान के अन्तर को भी भरती है, और भविष्य का चित्र खींचती है, जो समय बीतने पर ठीक निकलता है । इन चिह्नों को देखकर, और आदत के प्रभाव में, कल्पना प्राकृत जगत् को वस्तुगत मान लेती है; परन्तु विश्वास असंदिग्ध ज्ञान तो नहीं होता ।

5. अहम्भाव या स्वत्व

यहाँ तक बर्कले भी अनुभववाद को ले आया था । ह्यूम ने एक और पग उठाया और आत्मिक द्रव्य की सत्ता से भी इनकार कर दिया । डेकार्ट, लॉक और बर्कले ने आत्मा की सत्ता को स्वयं-सिद्ध स्वीकार किया था; इसके लिए न किसी प्रमाण की आवश्यकता थी, न सम्भावना ही थी । ह्यूम ने कहा कि आत्मा भी प्रकृति की

तरह एक कल्पना ही है। जैसे कुछ एक साथ मिलनेवाले प्रभावों को हम एक नाम देकर पुस्तक, कुर्सी आदि प्राकृतिक द्रव्य समझने लगते हैं, उसी तरह बोधों के समूह को एक नाम देकर राम या कृष्ण का स्वत्व कहने लगते हैं। वास्तव में सारी सत्ता अकेले, असम्बद्ध प्रभावों और उनके चित्रों की बनी है। हमारा सारा ज्ञान अनुभव पर आधारित है। अनुभव की साक्षी क्या है? ह्यूम एक विख्यात गद्यांश में कहता है—

'मैं जब अपने स्वत्व में अतिसंसर्ग में प्रविष्ट होता हूँ, तो मैं सदा किसी विशेष बोध—सर्दी-गर्मी, प्रकाश-छाया, स्नेह-द्वेष, सुख-दुःख के सम्पर्क में आता हूँ। मैं, कभी किसी अनुभव के अभाव में, अपने आपको पकड़ नहीं सकता; न अनुभव के बिना कुछ देख सकता हूँ। जब कुछ समय के लिए, जैसे स्वप्न-रहित निद्रा में, अनुभव विद्यमान नहीं होते, तो उतने काल के लिए मुझे अपना बोध भी नहीं होता और वस्तुतः मेरा अभाव ही हो जाता है। और यदि मेरे शरीरांत के बाद मृत्यु सारे अनुभवों को समाप्त कर दे, और मैं सोचने, अनुभव करने, देखने, स्नेह या द्वेष करने के अयोग्य हो जाऊँ, तो मेरा विनाश ही हो जायगा। मैं कल्पना ही नहीं कर सकता कि मेरे पूर्ण अभाव में क्या कसर रह जायगी।'

इन पंक्तियों में ह्यूम ने 11 बार 'मैं', 'मेरा' आदि का प्रयोग किया है, और यह इस बात को सिद्ध करने के लिए कि 'मैं' कल्पना मात्र है। ह्यूम अपने विवेचन में 'संयोग' के नियम को बहुत महत्त्व देता है, परन्तु उसके मतानुसार प्रभाव या उनके चित्र आप ही युक्त हो जाते हैं। स्वप्न में या कल्पित-भावना में ऐसा होता है, परन्तु चिन्तन में तो मानसिक क्रिया प्रधान होती है। वहाँ बोध एक दूसरे को खींच नहीं लाते, मन जाँच और चुनाव के बाद उन्हें संयुक्त करता है। अनुभववाद ने मन को कोरी तख्ती के रूप में देखा, जो अनुभवों को विवश होकर ग्रहण करती है। तथ्य यह है कि ज्ञान में मन क्रियावान् होता है; यह निष्क्रियता में ग्रहण नहीं करता; ढूँढ़ने जाता है। इस तथ्य को न देखने के कारण अनुभववाद ने अपने आपको निस्सार बना लिया।

6. कारण-कार्य का प्रत्यय

डेकार्ट के विवेचन में द्रव्य और कारण-कार्य सम्बन्ध दो प्रमुख प्रत्यय थे। लॉक और बर्कले ने भी इन दोनों को स्वीकार किया था। नीति और विज्ञान इन दोनों

पर आधारित हैं, ह्यूम ने इन दोनों को अस्वीकार कर दिया। कारण-कार्य का सम्बन्ध घटनाओं का पहले-पीछे आना है। जब यह क्रम, बिना किसी अपवाद के, अनुभूत होता है, तो हम पहले आनेवाली घटना को पीछे आनेवाली घटना का कारण कहने लगते हैं। किसी घटना में भी शक्ति नहीं होती; परन्तु हम अपवाद-रहित अनुभव की नींव पर कारण में कार्य के उत्पन्न करने की शक्ति देखने लगते हैं। यह भी कल्पना का खेल है।

द्रव्य और कारण-कार्य सम्बन्ध को समाप्त करके ह्यूम ने सत्ता को बिखरे हुए, असंबद्ध, चेतन-अणुओं में परिणत कर दिया; माला के तागे को निकाल कर बाहर फेंक दिया और बिखरे हुए मनकों को रहने दिया।

7. ह्यूम और मानव-बुद्धि

ह्यूम दार्शनिक था; आरम्भ से ही उसे दार्शनिक विवेचन से अनुराग था। वह कहता है कि प्रकृति से ही हम सब बुद्धि के प्रयोग द्वारा सत्य की प्राप्ति करना चाहते हैं, परन्तु अभाग्यवश उद्देश्य बहुत जटिल है और हमारी बुद्धि निर्बल है। पर हमें जीवन का निर्वाह तो करना ही है। यदि विशुद्ध सत्य हमारी पहुँच से परे है, तो व्यावहारिक सत्य से ही काम लेना चाहिए। हम इससे परे जा नहीं सकते; इसी पर सन्तुष्ट होना चाहिए। यह स्थिति पैदा करने में भाव और आदत हमारे पथप्रदर्शक होते हैं। बुद्धि को एक ओर रहने दें; इन दोनों के नेतृत्व में चलते जायें।

अन्य विचारकों की तरह ह्यूम भी ख्याल करता था कि उसके विचारों को समझने की आवश्यकता है; स्वीकृति में तो बहुत कठिनाई नहीं होगी। जब शरीरान्त का समय निकट आया, तो कुछ मित्र अन्तिम दर्शन के लिए उसके पास पहुँचे। ह्यूम ने परिहास में कहा—

"मैं सोच रहा हूँ कि चेरान से, जो मृत आत्माओं को स्टिक्स (वैतरणी नदी) से पार ले जाता है, कैसे मिलूँगा। जीवन के इस किनारे पर कुछ देर और ठहरा रहने के लिए मैं क्या कह सकता हूँ? मैं उससे निवेदन करूँगा—'भले चेरान! हो सके, तो थोड़ा सबर करो, और मुझे कुछ देर और यहाँ ठहरने दो। वर्षों से मैं जनता को प्रकाश देने का यत्न कर रहा हूँ। यदि मैं कुछ वर्ष और जीता रहूँ, तो मुझे यह जान कर सन्तोष होगा कि जिन मिथ्या विश्वासों के विरुद्ध मैं युद्ध करता रहा हूँ,

वे समाप्त हो गये हैं।' परन्तु चेरान निश्चय ही भड़क उठेगा, और क्रुद्ध होकर कहेगा—'निरुपाय कल्पवासी! यह तो सहस्र वर्षों में भी न हो सकेगा। क्या तुम समझते हो कि मैं तुम्हें इतना लम्बा नया जीवन प्रदान कर दूँगा? आलसी, विलंबी मूर्ख, आशावादी धूर्त! तुरन्त नाव में बैठ जा।'

जाते-जाते ह्यूम कह गया कि किसी के जीवन-कार्य समाप्त तो होते नहीं; वैतरणी नदी के किनारे पहुँचकर, कुछ अधिक ठहरा रहने की चेष्टा करना व्यर्थ है।

■

तेरहवाँ परिच्छेद

कांट

1. जीवन की झलक

इम्मैनुयल कांट (1724–1804) कानिग्सवर्ग (जर्मनी) में पैदा हुआ; स्थानीय विश्वविद्यालय में शिक्षा प्राप्त की; उसी में 15 वर्ष अनधिकारी अध्यापक का काम किया, और वाद में तर्कशास्त्र और तत्त्वज्ञान का प्रोफेसर नियुक्त हुआ। ह्यूम को प्रोफेसर का पद मिल न सका था; कांट को 46 वर्ष की उम्र होने तक इसकी प्रतीक्षा करनी पड़ी। पीछे कांट के अध्यापन विषयों में विज्ञान, गणित, नीति, धर्म और भूगोलविद्या भी सम्मिलित हो गयीं। कहते हैं, कांट अपनी 80 वर्ष की उम्र में भी कानिग्सबर्ग से 40 मील से अधिक दूर नहीं गया।

कांट एक निर्धन परिवार में पैदा हुआ था। उसके माता-पिता ने अपनी स्थिति को ध्यान में रखते हुए भी निश्चय किया कि उसे अच्छी से अच्छी शिक्षा दिलायें। स्कूल की शिक्षा के लिए वह वाहर भेजा गया; और उसने कानिग्सबर्ग विश्वविद्यालय में उच्च शिक्षा प्राप्त की। अभी यह शिक्षा चल ही रही थी कि उसके माता और पिता दोनों का देहान्त हो गया। इधर-उधर से कुछ सहायता मिली, कुछ अपने श्रम से कमाया; और इस तरह निर्वाह किया। कुछ वर्ष काउण्ट हलिसन की सेवा में रहा, जहाँ स्वाध्याय का अच्छा अवसर मिला। विश्वविद्यालय में प्रथम 15 वर्ष (1756–1770) उसकी स्थिति यह थी कि जो विद्यार्थी उससे कुछ पढ़ते थे, उनकी फीस का भाग उसे मिल जाता था। जब यह पर्याप्त नहीं होता था, तो कुछ पुस्तकें बेचकर काम चला लेता था।

कांट दुबला पतला और छोटे कद (5 फुट) का था। शकल अच्छी थी; अच्छे वस्त्र पहनने का शौक था; और खाने में भी संकोच न था। वह आयु भर कुँवारा रहा, और इस तरह ज्ञान-ध्यान को अपना अकेला अनुराग बना सका। उसने अपने आपको कड़े संयम में रखा—जागने का समय, काफी पीने का समय, पढ़ने का समय,

पढ़ाने का समय, खाने का समय, सैर का समय, सैर का मार्ग—सब कुछ नियत था। ग्रीष्म ऋतु को छोड़कर, भ्रमण में मुँह बन्द रखता था और केवल नासिका से ही श्वास लेता था। 'मौन जुकाम से अच्छा है।' इस संयम की सहायता से वह अपने दुबले पतले शरीर को 80 वर्ष तक खींच ले गया। उसकी मृत्यु किसी रोग से नहीं हुई; स्वाभाविक जरा ने उसका अन्त किया। जिस दिन उसकी मृत्यु हुई, आसमान बिल्कुल साफ़ था। अचानक एक मेघ प्रकट हुआ और ऊपर की ओर उठने लगा। एक पुरुष ने उसे देखा और पुकार उठा—'वह, वह, कांट की आत्मा स्वर्ग को जा रही है।'

कांट की सबसे बड़ी पुस्तक 'विशुद्ध बुद्धि की आलोचना' 1781 में प्रकाशित हुई। कांट की उम्र 57 वर्ष की थी। इस पुस्तक की तैयारी, इसके लिख , फिर लिखने, में 12–15 वर्ष लगे। इसके पीछे, 'व्यावहारिक बुद्धि की आलोचना' और 'निर्णय-शक्ति की आलोचना' 1788 और 1790 में प्रकाशित हुईं। इनके अतिरिक्त उसने अन्य विषयों पर भी पुस्तकें लिखीं। एक पुस्तक 'स्वाभाविक धर्म' पर लिखी। इससे पादरियों में बहुत असन्तोष फैला। राजा की ओर से एक पत्र उसे प्राप्त हुआ, जिसमें कहा गया था कि उसकी शिक्षा से धर्म और ईसाइयत को बहुत हानि पहुँची है, और राजा बहुत नाराज हैं; उसे सँभलना चाहिए, नहीं तो परिणाम भयंकर होंगे। कांट ने इस विषय पर अधिक न लिखने का आश्वासन दे दिया।

कांट ने यौवनकाल में कहा था कि दार्शनिक अटारी पर बैठा होता है, जहाँ वायु तेज चलती है। उसे मालूम न था कि वह आप ऐसी अटारी पर पहुँचेगा, जहाँ उसके विचार विवेचन-मण्डल में तूफान पैदा कर देंगे। वह कोपर्निकस से अपनी उपमा देता था। कोपर्निकस ने पृथ्वी के स्थान में सूर्य को सौर-मण्डल का केन्द्र बताकर वैज्ञानिकों के दृष्टिकोण को बदल दिया। जो कुछ कोपर्निकस ने विज्ञान के सम्बन्ध में किया था, वही कांट ने तत्त्व-ज्ञान के सम्बन्ध में कर दिया।

2. पृष्ठभूमि

कांट का काम समझने के लिए आवश्यक है कि हम उसके समय की दार्शनिक स्थिति को ध्यान से देखें।

दार्शनिक विवेचन में दो सम्प्रदाय प्रमुख थे—विवेकवाद और अनुभववाद।

स्पिनोज़ा और लाइबनिज़ ने विवेकवाद को और ह्यूम ने अनुभववाद को इसकी पराकाष्ठा तक पहुँचा दिया था। अब दार्शनिक विवेचन के लिए दो मार्ग ही खुले थे—या तो स्थिरता में सन्तुष्ट हो जाय, या किसी नये मार्ग की खोज करे। कांट ने दूसरा मार्ग चुना। उसने देखा कि विवेकवाद और अनुभववाद दोनों को छोड़ने की आवश्यकता नहीं; उनके दोषों को दूर करना पर्याप्त होगा। दोनों में दोष एक ही था—उन्होंने सत्य को एक ओर से देखा और इसी को पर्याप्त समझा। जैसा पहले कह चुके हैं, बेकन की दीप्तिमान उपमा में विवेकवादियों ने मानव को मकड़ी के रूप में और अनुभववादियों ने चींटी के रूप में देखा था। विवेकवाद के अनुसार हमारा सारा ज्ञान अन्दर से निकलता है; अनुभववाद के अनुसार यह बाहर से प्राप्त होता है। कांट ने इन दोनों विचारों को अपूर्ण पाया; इन दोनों में सत्य का अंश है, परन्तु अंश ही है। मानव की प्रकृति मधुमक्खी से मिलती है, जो बाहर से सामग्री लेती है और अपनी क्रिया से उसे निश्चित आकृति देती है। कांट इन दोनों दृष्टिकोणों से ऊपर उठा, और उसने अपने मत को आलोचनवाद या उद्गतिवाद का नाम दिया।

अनुभववाद की ओर उसने विशेष ध्यान दिया। इस विचार के अनुसार मनुष्य का मन मोम की पटिया-सा है; बाहर से जो प्रभाव आते हैं, उन्हें यह निष्क्रिय ग्रहण करता है। अनुभववादियों ने अनुभव का विश्लेषण किया, परन्तु यह समझने का यत्न नहीं किया कि अनुभव का सिरजन कैसे होता है। कांट ने इसे अपने लिए प्रमुख प्रश्न बनाया। उसने यह देखना चाहा कि अनुभव के बनाने में मन का भागदान क्या है। क्या अनुभव में कुछ ऐसे अंश भी हैं, जो मन की क्रिया के बिना वहाँ हो ही नहीं सकते थे ? कांट की सम्मति में, ज्ञान-मीमांसा में प्रमुख प्रश्न तो यही है। इस प्रश्न को ही उसने पहली 'आलोचना' का विषय बनाया।

3. 'विशुद्ध बुद्धि की आलोचना'

विशुद्ध बुद्धि और व्यावहारिक बुद्धि का भेद खोज-क्षेत्र की नींव पर है। विशुद्ध बुद्धि का काम यह जानना है कि ज्ञान की सीमाएँ क्या हैं; व्यावहारिक बुद्धि नीति से संबद्ध है। विशुद्ध बुद्धि का काम सत्य और असत्य के भेद की बाबत बताना है, और इसमें भी सत्य की प्राप्ति की अपेक्षा असत्य से बचना अधिक महत्त्व रखता है; व्यावहारिक बुद्धि भद्र और अभद्र के भेद से चलकर बताती है कि इस

भेद की स्वीकृति में क्या तत्त्व निहित है। पहली 'आलोचना' में ज्ञान की बावत विवेचन है, और यह जानने का यत्न किया है कि अनुभव के प्रभाव से पूर्ण स्वाधीनता में बुद्धि कुछ बता सकती है या नहीं ? और यदि बता सकती है, तो क्या बता सकती है ?

कांट ने तत्त्व-ज्ञान में एक नयी विधि को प्रविष्ट किया। कोपर्निकस से पहले वैज्ञानिक ख्याल करते थे कि तारे और नक्षत्र देखनेवाले के गिर्द घूमते हैं। यह समाधान विफल सिद्ध हुआ, और कोपर्निकस ने कहा—'अब इस प्रतिज्ञा से चलें कि देखने वाला घूमता है, और तारे स्थिर हैं'। कांट ने भी दृष्टिकोण में इसी प्रकार का परिवर्तन किया। हमें बाह्य जगत् में नियम और व्यवस्था दिखाई देती हैं। अनुभववाद कहता है कि हम परीक्षण से यह ज्ञान प्राप्त करते हैं। परन्तु परीक्षण कितना ही विस्तृत हो, सीमित होता है; और यही बता सकता है कि अभी तक क्या होता रहा है। यह नहीं बता सकता कि ऐसा होना अनिवार्य है। व्यापकता और अनिवार्यता नियम के दो ऐसे चिह्न हैं, जिन्हें सीमित अनुभव दे नहीं सकता। ये मन की देन हैं। मन अपने आपको बाहरी पदार्थ के अनुकूल नहीं बनाता, बाहरी पदार्थ को अपने अनुकूल बनाता है। ह्यूम ने कहा था—'बाह्य जगत् में कारण-कार्य का सम्बन्ध प्रतीत होता है, परन्तु परीक्षण, जो हमारे सारे ज्ञान का आधार है, इस सम्बन्ध का बोध नहीं देता।' कांट ने कहा—'ह्यूम इस सम्बन्ध को अनुचित स्थान में ढूँढ़ता रहा है; यह बाहर है ही नहीं, वहाँ दिखाई कैसे देता ? इसे तो मन अपनी ओर से बाहरी घटनाओं पर डालता है। यह सम्ब्रन्ध ही अकेला अंश नहीं, जो मन की देन है; कई अन्य नियम भी हैं।' ऐसे नियमों की खोज, जो अनुभव से प्राप्त नहीं होते, अपितु अनुभव को सम्भव बनाते हैं, 'विशुद्ध बुद्धि की आलोचना' का ध्येय है।

4. विविध मानसिक क्रियाएँ

मैं फूल को देखता हूँ; यह लाल रंग का है। इसे छूता हूँ तो इसकी कोमलता का बोध होता है। इसमें विशेष प्रकार की गन्ध भी है। आँख सूँघती नहीं; नासिका देखती नहीं। स्पर्श न देखता है, न सूँघता है। लॉक ने कहा था कि कोई गुण गुणी के सहारे के बिना विद्यमान नहीं होता, और कई गुण, जो विविध इन्द्रियों द्वारा उपलब्ध होते हैं, एक ही वस्तु में संयुक्त होते हैं। इस संयोग का ज्ञान कैसे होता है ?

यह किसी इन्द्रिय की तो क्रिया नहीं; मन की क्रिया है। विशेष गुण और घटनाएँ भी, जैसी ये अपने आपमें हैं, हमें दिखाई नहीं देतीं—प्रत्येक गुण 'यहाँ' या 'वहाँ' दीखता है; और प्रत्येक घटना 'अब' या 'तब' होती है। 'देश' और 'काल' को हम बाहरी जगत् में नहीं पाते, न अनुभवों की नींव पर इनकी रचना करते हैं; ये तो सरल से सरल अनुभव के अनुभूत होने की अनिवार्य शर्तें हैं। ये मानसिक आकृतियाँ हैं, जिनमें इन्द्रिय प्रभावों को ग्रहण करती हैं। मन की प्रथम क्रिया गुण-बोध या संवेदना है, और ऐसा बोध उपलब्धों के देश-काल के ढाँचे से गुजरने पर ही सम्भव होता है।

गुण-बोध से वस्तु-ज्ञान या प्रत्यक्ष तक पहुँचना मन की क्रिया का फल है; इसमें भी मन मोम की निष्क्रिय चद्दर की तरह ग्रहण ही नहीं करता, कुछ बनाता भी है।

विज्ञान का प्रमुख काम ठीक निर्णय करना है। निर्णय में प्रत्यय सम्बद्ध किये जाते हैं। ऐसे सम्बन्धों का कायम करना बुद्धि का काम है। इन सम्बन्धों की सूची बनाने में कांट ने अरस्तू के तर्क को पथ-प्रदर्शक रूप में स्वीकार किया, और 'परिमाण', 'गुण', 'सम्बन्ध' और 'प्रकार' का भेद किया। अरस्तू के अनुकरण में ही उसने इन्हें कैटेगोरी' (वर्ग) का नाम दिया।

विज्ञान में कारण-कार्य का सम्बन्ध विशेष महत्त्व रखता है। लॉक और बर्कले ने इस सम्बन्ध को वस्तुगत माना था; ह्यूम ने इसे कल्पना-मात्र बताया। कांट ह्यूम के साथ मानता है कि अनुभव हमें बाह्य घटनाओं में पहले-पीछे आने का क्रम बताता है; इससे अधिक कुछ नहीं बताता। ह्यूम की युक्ति यह थी—

'सारा ज्ञान अनुभव से प्राप्त होता है,
अनुभव कारण-कार्य की बाबत नहीं बताता,
इसलिए, कारण-कार्य सम्बन्ध की वास्तविक सत्ता नहीं।'

कांट ने अपनी युक्ति को निम्न रूप दिया—

'कारण-कार्य का सम्बन्ध असंदिग्ध है,
अनुभव कारण-कार्य सम्बन्ध का ज्ञान नहीं देता,
इसलिए, सारा ज्ञान अनुभव से प्राप्त नहीं होता।'

ह्यूम ने इतना कहने पर सन्तोष किया कि अनुमान कारण-कार्य सम्बन्ध की बाबत कुछ नहीं बताता; कांट ने अनुभव की अयोग्यता का कारण बताया—अनुभव की तो संभावना ही कारण-कार्य सम्बन्ध पर निर्भर है। दस नहीं, दस लाख दृष्टान्त

देखने पर भी, हम निश्चितता से कह नहीं सकते कि जो कुछ अब तक होता रहा है, आगे भी होगा। अनुभव यह तो बताता है कि किसी विशेष कारण से क्या कार्य व्यक्त होता है, परन्तु अपनी खोज का हम आरम्भ ही इस धारणा से करते हैं कि प्रत्येक कार्य के लिए कारण की आवश्यकता है। यह धारणा अनुभव से पूर्व विद्यमान होती है; अनुभव पर निर्भर नहीं होती।

लॉक ने बोधों के सम्बन्ध में अन्दर और बाहर का भेद किया था; सक्रियता और निष्क्रियता का भेद किया था, और एकत्व और बहुत्व का भेद किया था। बर्कले ने अन्दर और बाहर का भेद अस्वीकार किया; ह्यूम ने सक्रियता और निष्क्रियता का भेद अस्वीकार किया। कांट ने इन तीनों भेदों को स्वीकार किया, और इन्हें इन्द्रिय और बुद्धि के भेद के साथ जोड़ दिया। उसके विचार में—

इन्द्रिय बाहर से सम्बद्ध है, बुद्धि का काम अन्दर होता है;
इन्द्रिय में ग्रहण-योग्यता है, बुद्धि में क्रियाशीलता है;
इन्द्रिय बहुत्व देती है, बुद्धि बहुत्व को एकत्व में बदल देती है;
बुद्धि में बहुत्व को एक बनाने की क्षमता है, क्योंकि यह आप एक है।

बुद्धि से ऊपर विवेक का स्थान है। विवेक का काम अनुमान करना है। न्याय में अनुमान के दो प्रकार बताये जाते हैं—एक में किसी निर्णय या वाक्य से परिणाम निकाला जाता है; दूसरे में दो निर्णयों के योग से परिणाम निकाला जाता है। जब मैं कहता हूँ—'सब मनुष्य मर्त्य हैं', तो यह भी कह सकता हूँ कि 'कुछ मर्त्य मनुष्य हैं।' वास्तव में यहाँ कोई नया ज्ञान नहीं मिलता; पहले वाक्य की व्याख्या ही होती है। अनुमान में दो वाक्यों का संयोग होता है, और उनमें एक पद साझा (उभयगामी) होता है।

'सारे मनुष्य मर्त्य हैं,
गोपाल मनुष्य है,
इसलिए, गोपाल मर्त्य है।'

इस प्रकार के तर्क का प्रयोग गणित और तत्त्व-ज्ञान में होता है।

रेखागणित में हम कहते हैं—

'त्रिभुज की कोई दो भुजाएँ मिलकर तीसरी भुजा से बड़ी होती हैं'। यह ज्ञान हमें कैसे प्राप्त होता है?

अनुभववाद का उत्तर तो स्पष्ट ही है—हम अनेक त्रिभुजों की हालत में ऐसा देखते हैं, और किसी हालत में भी इसके विपरीत नहीं देखते। हम कहते हैं कि यह सभी त्रिभुजों की वावत सत्य है; परन्तु यह सम्भावना तो बनी रहती है कि कल कोई ऐसा त्रिभुज सामने आ जाय, जिसकी हालत में यह सत्य न हो। जॉन स्टुअर्ट मिल ने कहा कि हमारा अनुभव उन त्रिभुजों तक सीमित है, जो पृथिवी पर खींचे जाते हैं। यदि हम ऐसे त्रिभुज का चिन्तन करें, जिसकी आधार-रेखा पृथिवी पर है, और जिसकी शिखा सूर्य्य में है, तो उसकी बावत निश्चय से कह नहीं सकते। इस विचार के अनुसार, ज्यों ज्यों हमारा अनुभव विस्तृत होता जाता है, हमारा विश्वास दृढ़ होता जाता है। परन्तु पूर्ण निश्चितता हमारी पहुँच से बाहर है; सम्भावना की मात्रा बढ़ती जाती है। ह्यूम ने कहा कि यही गणितज्ञों का भी मत है। ह्यूम ने गणितज्ञों के साथ अन्याय किया है। कोई गणितज्ञ यह नहीं समझता कि यह अनुमान उदाहरणों की गिनती का फल है; यह तो दोष-रहित युक्ति या तर्क का परिणाम है। एक त्रिभुज की बावत विवेक-बुद्धि तथ्य को देख लेती है, तो अधिक परीक्षण या तर्क की आवश्यकता नहीं रहती। गणित के अनुमान में व्यापकता और अनिवार्यता, दो प्रमुख चिह्न होते हैं, और अनुभव की कोई मात्रा इन्हें दे नहीं सकती। गणित में हम अपने प्रत्ययों की बावत तर्क करते हैं। यदि यह तर्क निर्दोष हो, तो भ्रान्ति की सम्भावना ही नहीं रहती।

गणित को छोड़कर अब तत्त्व-ज्ञान की ओर आयें। ऊपर हमने एक साधारण निगमन को लेकर देखा है कि यदि सारे मनुष्य मर्त्य हैं और गोपाल मनुष्य है, तो उसके मर्त्य होने में कोई सन्देह नहीं हो सकता। एक पुरुष कहता है कि गोपाल का मर्त्य होना अनिवार्य अनुमान तो है, परन्तु सारे मनुष्यों का मर्त्य होना क्यों मान्य है? इसका उत्तर देने के लिए हम एक नये निगमन को ढूँढ़ते हैं, जिसका परिणाम यह निर्णय हो। हम कहते हैं—

'सारे प्राणधारी मर्त्य हैं—
सारे मनुष्य प्राणधारी हैं,
इसलिए, सारे मनुष्य मर्त्य हैं।

इस निगमन के प्रथम वाक्य की बावत भी प्रश्न उठता है कि यह क्यों मान्य है। हम कुछ दूर तक जा सकते हैं, परन्तु क्या ऐसे स्थान पर पहुँच सकते हैं, जहाँ आगे जाना आवश्यक ही नहीं? हमारी बुद्धि प्रकटनों की जंजीर को ही देखती है,

या उस खूँटी को भी देख सकती है, जिससे अन्तिम कड़ी लटकी हुई है ? अन्य शब्दों में, क्या हमारा ज्ञान प्रकटनों से परे भी जा सकता है ?

कांट कहता है कि हमारा स्पष्ट ज्ञान, जो बुद्धि की देन है, प्रकटनों से परे नहीं जाता, परन्तु इसके अतिरिक्त अस्पष्ट ज्ञान भी है, जो दूसरे प्रकार की बुद्धि की देन है। जब विशुद्ध बुद्धि इन हदों से परे जाना चाहती है, तो यह विरोधों में फँस जाती है। हम देखते हैं कि जगत् की घटनाओं में कारण-कार्य सम्बन्ध है। यह सम्बन्ध इन्द्रियग्राह्य बोधों में मौजूद नहीं; मन उन बोधों को समझने के लिए, उन्हें इस सम्बन्ध में देखता है। हर एक घटना का आरम्भ होता है। हम समस्त जगत् की बाबत पूछते हैं कि क्या इसका भी आरम्भ हुआ है। हम देखते हैं कि पक्ष और प्रतिपक्ष दोनों की सिद्धि और दोनों के निषेध में एक जैसे हेतु दिये जा सकते हैं। यदि समस्त जगत् का आरम्भ नहीं, तो यह अनन्त है। परन्तु समस्त के अर्थ में ही सान्त होना पाया जाता है। यदि कहें कि इसका किसी समय आरम्भ हुआ, तो कहना पड़ेगा कि उस कालबिन्दु से पहले शून्य-काल विद्यमान था। यदि ऐसा था तो समस्त सत्ता का आरम्भ नहीं हुआ; कुछ तो पहले ही मौजूद था।

कांट कहता है कि इस स्थिति में विशुद्ध बुद्धि को स्वीकार करना चाहिये कि अनुभव की सीमाओं को बढ़ाते जाना इसका काम है; अनुमान से परे का ज्ञान इसकी पहुँच में नहीं। विवेक हमें ऐसे प्रत्यय दे सकता है, जो ज्ञान को व्यवस्थित बना सकते हैं। इससे अधिक ये प्रत्यय भी कुछ नहीं कर सकते।

यह 'विशुद्ध बुद्धि की आलोचना' का मत है।

कांट ने अपने सामने यह प्रश्न रखा था—

'ज्ञान-सामग्री को, जो बाहर से प्राप्त होती है, ज्ञान बनाने में मन का भाग क्या है ?'

उसका उत्तर यह है—

1. जो संवेदन या इन्द्रिय-गृहीत बोध प्राप्त होते हैं; मन उन्हें देश और काल के ढाँचों से गुजार कर, वस्तु-ज्ञान या प्रत्यक्ष बनाता है। इस क्रिया में अनेकों का संयोग भी होता है।

2. मन का दूसरा काम प्रत्यक्षों को संयुक्त करके निर्णयों का बनाना है। प्रकटन सब असम्बद्ध होते हैं। जगत् को सुबोध बनाने के लिए मन उन्हें एक दूसरे के साथ बाँधता है। इसका परिणाम चार प्रकार के वाक्यों में व्यक्त होता है। पहले प्रकार के वाक्यों में हम उद्देश्य की मात्रा की बाबत कहते हैं। दूसरे प्रकार में हम देखते हैं कि वाक्य भावात्मक है या निषेधात्मक। तीसरे में उद्देश्य और विधेय के सम्बन्ध का वर्णन होता है, और चौथे में वाक्य का प्रकार दिखाया जाता है।

3. विशुद्ध बुद्धि प्रकटनों से परे नहीं जाती। विवेक परे जाता है, परन्तु इसका काम कुछ ऐसे प्रत्यय देना है, जो हमारे ज्ञान को व्यवस्थित बना देते हैं। अन्तिम सत्ता की बाबत निश्चित ज्ञान ये भी नहीं दे सकते।

5. 'व्यावहारिक बुद्धि की आलोचना'

विवेकवादियों ने गणित को ज्ञान का नमूना बनाया था; अनुभववादियों ने परीक्षण और निरीक्षण का सहारा लिया। गणित हमारे मानसिक प्रत्यक्षों का आन्तरिक सम्बन्ध देखता है; इसलिए व्यापकता और अनिवार्यता दे सकता है। अनुभव प्रकटनों के क्षेत्र में बन्द रहता है। कांट ने कहा कि मानव ज्ञान को इन दो श्रेणियों तक सीमित करना ठीक नहीं; इनके अतिरिक्त भी एक प्रकार का ज्ञान है, जो अन्तिम सत्ता को विवेचन का विषय बनाता है। इसका विशेष सम्बन्ध नीति या कर्तव्य-शास्त्र से है। जहाँ विशुद्ध बुद्धि के लिए सत्य और असत्य का भेद मौलिक तथ्य है, वहाँ व्यापारिक बुद्धि के लिए भद्र और अभद्र, शुभ और अशुभ का भेद मौलिक तथ्य है। अनुभव हमें यह भेद नहीं देता; यह हमारे मन में आरम्भ से ही विद्यमान है। अनुभव तो हमें इसे घटनाओं के जगत् में लागू करने का अवसर देता है। हम देखते हैं कि एक पुरुष अपनी माता को पीट रहा है। यह एक मनोवैज्ञानिक तथ्य है। हम उस पुरुष की क्रिया से घृणा करते हैं। यह एक और मनोवैज्ञानिक तथ्य है। पहला तथ्य हमारी आँख ने बाह्य जगत् में देखा था; दूसरा हमने अपने अन्दर दृष्टि डाल कर देखा है। हम कहते हैं—'यह मनुष्य बुरा काम कर रहा है।' अब हम मनोविज्ञान को छोड़कर नीति के क्षेत्र में दाखिल हो गये हैं। हम बुराई को बाहर देखते नहीं; हम एक कसौटी का प्रयोग करके बाहरी घटना के गुण-दोष की बाबत निर्णय देते हैं। कांट के विचार में मानव प्रकृति का सब से गम्भीर चिह्न यह है कि वह भले-बुरे में भेद करती है। मनुष्य अपने आपको, बुद्धि-

मान् जन्तु की स्थिति में, भलाई का पक्ष लेने के लिए बाध्य पाता है। मनुष्य अपने तत्त्व में नैतिक प्राणी है।

कौन मनुष्य ? सारे मनुष्य, जो बुद्धि से वंचित नहीं, एक ही श्रेणी में हैं। मृत्यु की तरह, नैतिक जीवन भी सब मनुष्यों को एक स्तर पर रखता है। कोई मनुष्य ऐसा नहीं, जो मनुष्यता के अधिकारों से वंचित हो; कोई मनुष्य ऐसा नहीं, जो मनुष्यत्व के कर्त्तव्यों से ऊपर हो। सारे मनुष्य, बुद्धिमान् होने की स्थिति में, साध्य हैं; कोई भी निरा साधन नहीं। नैतिक आदेश निरपेक्ष आदेश हैं; इसका अधिकार अन्य सब आदेशों से ऊपर है। मानव जीवन में कर्त्तव्य और कामना का संघर्ष जारी रहता है। पशु-पक्षी कर्त्तव्य के स्तर तक पहुँचते ही नहीं; देव, यदि वे हैं, इस संघर्ष से ऊपर हैं। मनुष्यों का धर्म यही है कि हर हालत में कर्त्तव्य के अधिकार को प्रथम अधिकार मानें।

कांट कहता है कि मनुष्य की नैतिक प्रकृति मौलिक तथ्य है। यदि हम इस धारणा में उसके साथ हैं, तो हम उसके साथ आगे चल सकते हैं; यदि इस धारणा को स्वीकार नहीं करते, तो उससे अभी अलग हो जायँ।

कांट 'व्यावहारिक बुद्धि की आलोचना' में मनुष्य की स्वाधीनता, आत्मा की अमरता और परमात्मा के अस्तित्व पर विचार करता है, और बताता है कि मानव की नैतिक प्रकृति इन प्रश्नों पर क्या प्रकाश डालती है। यह प्रश्न ही दार्शनिक विवेचन में प्रमुख प्रश्न है।

स्वाधीनता

पहली 'आलोचना' का उद्देश्य विज्ञान को ह्यूम के आक्रमण से सुरक्षित करना था। विज्ञान का अधिष्ठान कारण-कार्य सम्बन्ध है। ह्यूम ने कहा—'यह सम्बन्ध कहीं दिखाई नहीं देता।' कांट ने कहा—'यह सम्बन्ध विद्यमान तो है; तुम इसे अनुचित स्थान में ढूँढ़ते रहे हो।' कारण-कार्य का सम्बन्ध स्थापित करके, कांट ने विज्ञान को वैयक्तिक सम्मति के स्तर से ऊपर उठा दिया। दूसरी 'आलोचना' में कांट का उद्देश्य नीति को और किसी हद तक धर्म को ह्यूम और अन्य आलोचकों के आक्रमण से सुरक्षित करना था।

बाह्य जगत् में हम नियम का राज्य पाते हैं। बाढ़ में नदी वृक्षों को बहा लाती

है। ये वृक्ष कितने वेग से और किस दिशा में बहते हैं, यह धारा के वेग और इसकी स्थिति पर निर्भर है। नदी का वेग भी इसकी इच्छा पर निर्भर नहीं : इसकी तो कोई इच्छा है ही नहीं। पशु-पक्षी जो कुछ करते हैं, अपने स्वभाव के अधीन करते हैं। मनुष्य प्राकृत जगत् में रहता है, जहाँ तथ्य प्रधान हैं। वह तथ्यों से असन्तुष्ट होकर उन्हें बदलना चाहता है, और यह परिवर्तन आदर्शों को दृष्टि में रखकर करता है। इसी को ध्यान में रखकर कांट ने कहा है कि अन्य पदार्थ नियम के अधीन चलते हैं, मनुष्य नियम के प्रत्यय के अधीन भी चल सकता है। अन्य शब्दों में, उसके लिए आदर्श बनाना और उनपर चलना सम्भव है।

ऐसा प्रतीत होता है कि हम स्वाधीन हैं। हम नदी में गिर पड़ें, तो वृक्ष की तरह बहने नहीं लगते, तैरने लगते हैं, कभी धारा के दायें-बायें, कभी धारा के विपरीत। धारा के साथ चलें तो भी मुख को पानी के बाहर रखने के लिए यत्न करते हैं। मानसिक क्रिया में भी स्वाधीनता दिखाई देती है। वर्तमान अध्याय का आरम्भ करते समय, मैंने निश्चय कर लिया था कि कांट की बाबत जो कुछ मुझे मालूम है, उसमें से क्या लेना है और क्या छोड़ना है। ऐसे स्वाधीन चुनाव का स्पष्ट उदाहरण नैतिक क्रिया में मिलता है। इसमें किसी प्रलोभन का मुकाबला करना होता है। विलियम जेम्स ने तो नैतिक कर्म का लक्षण ही यह किया है कि यह 'अधिक से अधिक प्रतिरोध की दिशा में चलना है।'

अनुभववादी कह सकता है कि इन सब हालतों में स्वाधीनता कल्पना मात्र है। कांट मनोवैज्ञानिक अनुभव का सहारा नहीं लेता; वहाँ तो हम तथ्यों के क्षेत्र में ही रहते हैं। वह कहता है कि यदि हमारी नैतिक प्रकृति धोखा नहीं, तो स्वाधीनता में सन्देह नहीं हो सकता। 'तुम्हें करना चाहिये; इसलिए, तुम कर सकते हो।' स्वाधीनता के अभाव में कर्त्तव्य का कोई अर्थ ही नहीं। कर्त्तव्य के प्रत्यय के साथ स्वाधीनता भी जुड़ी हुई है।

अमरत्व

नैतिक चेतना कहती है कि हमें कर्त्तव्य का पालन करना चाहिए। कर्त्तव्य-पालन का फल अन्तिम उद्देश्य तक पहुँचना है। यह उद्देश्य पूर्णता है; जब तक त्रुटि का लेश रहता है, हमारा काम पूरा नहीं हुआ। यह उद्देश्य अनन्त है, इस-

लिए, कांट कहता है, इसकी पूर्ति के लिए अनन्त काल की आवश्यकता है। हम इसके निकट पहुँचते जाते हैं, परन्तु सीमित काल में उस तक पहुँच नहीं सकते।

कांट की युक्ति को अधिक बल देने के लिए कुछ विचारक मूल्य के प्रत्यय को आगे ले आते हैं। एक पुरुष उम्र भर के यत्न से कुछ नैतिक मूल्य पैदा करता है। क्या यह मूल्य उसके शरीरांत के साथ समाप्त हो जायगा ? विज्ञान में सबसे अधिक मान्य सिद्धान्त 'एनर्जी की स्थिरता' है। नैतिक जगत् में भी इसी प्रकार का नियम मान्य है। मूल्य का उत्पादन विशिष्ट होने के लिए नहीं होता। यदि जगत् में भद्र और अभद्र का भेद तात्त्विक हैं, तो अमरत्व भी युक्तियुक्त प्रतीत होता है।

ईश्वर का अस्तित्व

धर्म और नीति पर विचार करनेवालों में अच्छी संख्या नीति को धर्म पर आधारित करती है। कांट ने इसके विपरीत, धर्म को नीति पर आधारित किया। ईश्वर की सत्ता ऐसा स्पष्ट प्रत्यय नहीं कि इसके विपरीत कल्पना ही न कर सकें। इसलिए इस विश्वास के लिए किसी अधिष्ठान की आवश्यकता है। कांट इस अधिष्ठान को नैतिक चेतना में देखता है। यह चेतना कहती है कि कर्त्तव्यपालन और सुख में अनुकूलता होनी चाहिए। शुभाचरण का फल सुख होना चाहिए, और इन दोनों में सादृश्य होना चाहिए। दूसरी ओर दुराचरण और दु:ख में भी अटूट सम्बन्ध होना चाहिए। ऐसा सम्बन्ध करना हमारे वश में नहीं, न किसी अन्य सीमित व्यक्ति के वश में है। यदि नैतिक चेतना की माँग को पूरी होना है, तो कोई शक्ति, जिसमें इसे पूरा करने की क्षमता है, विद्यमान होनी चाहिए।

6. 'निर्णय शक्ति की आलोचना'

कांट ने बाह्य जगत् में नियम का राज्य स्वीकार किया, और इस तरह 'यन्त्रवाद' का समर्थन किया। उसने मानव-जीवन के नैतिक उत्तरदायित्व को देखा, और स्वाधीनता से युक्त 'प्रयोजनवाद' को देखा। यहाँ तक सत्ता के दो पृथक् और स्वतन्त्र भाग हमारे सम्मुख रहे हैं। क्या यह सम्भव है कि इन दोनों का मेल हो जाय ? अन्य शब्दों में, क्या यह सम्भव है कि यन्त्रवाद और प्रयोजनवाद विरोधी नहीं, अपितु एक दूसरे के पूरक समाधान हों ? यह प्रश्न कांट की तीसरी 'आलोचना' का विषय है।

जगत् की घटनाएँ एक जंजीर के रूप में देखी जाती हैं—प्रत्येक कड़ी दोनों ओर अन्य कड़ियों से गठित है। किसी घटना से पूर्व आनेवाली घटनाएँ इस घटना तक पहुँचाती हैं, और यह घटना आनेवाली घटनाओं तक ले जाती है। किसी घटना के समाधान में पीछे और आगे दोनों ओर देख सकते हैं। विज्ञान पीछे की ओर देखता है। वैज्ञानिक समाधान का उद्देश्य उन स्थितियों का वर्णन है, जो किसी घटना को प्रस्तुत कर सकी हैं। प्रयोजनवाद आगे की ओर देखता है। मैं यह लेख लिख रहा हूँ। क्यों? विज्ञान कहेगा कि कुछ एनर्जी मेरे मस्तिष्क से चली है, और तन्तुजाल से गुजर कर अंगुलियों तक पहुँची है। यह एनर्जी कागज पर सीधी टेढ़ी रेखाएँ खींचने का रूप ग्रहण करती है। मैं कहता हूँ, मैं तो अपने विचारों को अन्य मनुष्यों तक पहुँचाने के लिए लिख रहा हूँ। दोनों समाधान ठीक हैं—एक पीछे की ओर देखता है, दूसरा आगे की ओर देखता है। कांट के समय में भौतिक विज्ञान अच्छी उन्नति कर चुका था, प्राणिविद्या और सामाजिक विद्याएँ अभी प्रथम अवस्था में थीं। कांट ने कहा कि भौतिक विज्ञान में यन्त्रवाद से काम चल जाता है, परन्तु प्राणिविद्या की हालत में यह समाधान पर्याप्त नहीं। मनुष्य का शरीर एक संघटन है, जिसके भाग एक दूसरे पर निर्भर हैं शायद यह यन्त्र की बाबत भी कह सकते हैं, परन्तु यन्त्र को संघटित किया गया है, वह अपने आपको संघटित नहीं करता। मनुष्य का शरीर एक अनोखा यन्त्र है—यह अपने आपको बनाता भी है। यह अपनी मरम्मत कर लेता है, और नाकारा होने के पूर्व अपने जैसे अन्य यन्त्र भी बना लेता है। इस अवस्था में बुद्धि का हाथ प्रतीत होता है। कांट यह दावा नहीं करता कि ऐसी चेतन शक्ति अवश्य विद्यमान है; वह इतना ही कहता है कि हमारे मन की बनावट जीवित पदार्थों को देखकर ऐसी शक्ति की ओर देखती है। दर्शन जिस किसी परिणाम तक पहुँचता है, मानव चेतना से चलकर ही पहुँचता है।

कांट ने पहली 'आलोचना' में बुद्धि को प्रकटनों से परे जाने के अयोग्य बताया। उसने यह नहीं कहा कि इनसे परे कुछ नहीं; केवल यही कहा कि इन सीमाओं से परे जाने के लिए हमें मानव प्रकृति के अन्य अंशों की ओर देखना चाहिए; व्यावहारिक बुद्धि और ललित कला हमारी सहायता करती हैं। कांट ने आप कहा—'मैंने अन्तिम सत्ता के सम्बन्ध में बुद्धि को एक ओर रखा है, ताकि श्रद्धा के लिए स्थान मिल सके। ■

चौदहवाँ परिच्छेद

फ़ीख़टे और हेगल

कांट ने मन और बाह्य जगत्, ज्ञाता और ज्ञेय को एक दूसरे के निकट लाने का यत्न किया था। उसने कहा कि बाह्य जगत् का स्वाधीन अस्तित्व तो है, परन्तु जिस रूप में वह हमें दीखता है, वह मन की देन है। मन आरम्भिक बोधों को देश और काल की आकृतियों में देखता है; संवेदनाओं को युक्त करके प्रत्यक्ष (वस्तु-ज्ञान) बनाता है; प्रत्यक्षों को सम्बद्ध करके निर्णय प्रस्तुत करता है; और इनके आधार पर अनुमान करता है। कांट ने ज्ञाता और ज्ञेय का भेद कायम रखा; और ज्ञान के विषय में भी स्वयं-सत् और प्रकटन का भेद किया। अब हम दो ऐसे दार्शनिकों से परिचित होते हैं, जिन्होंने स्थिति को सरल करने का यत्न किया।

कांट ने कहा था—"मैं 'अपनी दुनिया' का रचयिता तो नहीं, परन्तु निर्माता अवश्य हूँ।" 'उसने यह भी कहा—"मैं यह तो जानता हूँ कि प्रकटनों से परे कोई सत्ता विद्यमान है, परन्तु उसका स्वरूप मुझसे छिपा है।" फ़ीख़टे ने रचना और निर्माण का भेद अस्वीकार किया, और ज्ञान की एक नयी मीमांसा पेश की। हेगल ने कहा कि हम सत्ता को इसके असली रूप में जानते हैं। अब हम इन दोनों दार्शनिकों के दृष्टिकोणों को समझने का यत्न करेंगे।

1. फ़ीख़टे

1. जीवन की झलक

जान फ़ीख़टे (1762–1814) कांट की तरह निर्धन घराने में पैदा हुआ था। उसने एक उदार पुरुष की सहायता से आरम्भिक शिक्षा प्राप्त की। पीछे उच्च शिक्षा का भी प्रबन्ध हो गया। शिक्षा प्राप्त कर चुकने के बाद कुछ वर्ष शिक्षक का काम किया। कानिग्सबर्ग में उसे कुछ समय तक कांट की संगति का अवसर भी मिला।

वहीं 1792 में, 'समस्त दैवी-प्रकाशन की आलोचना' नाम की पुस्तक उसने अपना नाम दिये बिना प्रकाशित की। इसके नाम के कारण पहले लोगों को भ्रम हुआ कि यह कांट की रचना है। पुस्तक अच्छी थी। 1793 में, फ़ीख़टे जेना में दर्शन का प्रोफ़ेसर नियुक्त किया गया। कुछ वर्ष पीछे उसने अपनी पत्रिका में एक लेख लिखा, जिसमें उन हेतुओं का जिक्र किया जो संसार में ईश्वरीय शासन के पक्ष में दिये जाते हैं। इस लेख में उसने परमात्मा को 'संसार की नैतिक व्यवस्था' का नाम दिया। उसपर नास्तिकता का आरोप लगाया गया, और एक जाँच-कमेटी नियुक्त हुई। फ़ीख़टे ने इस अपमान के कारण त्यागपत्र दे दिया, और अपनी सफाई प्रकाशित करने के बाद जेना को छोड़कर बर्लिन चला गया। 1805 में अर्लैंगन में प्रोफ़ेसर नियुक्त हुआ; और जब 1810 में बर्लिन विश्वविद्यालय की स्थापना हुई, वह वहाँ प्रोफ़ेसर बन गया।

इन वर्षों में नेपोलियन ने प्रशिया को पराजित कर दिया था। अभी फ्रांसीसी सैनिक बर्लिन में ही थे, जब फ़ीख़टे ने 'जर्मन जाति के नाम वक्तव्य' नाम की पुस्तक प्रकाशित की। इस पुस्तक में देश को फिर स्वाधीन करने का आन्दोलन छेड़ने का आग्रह किया गया था। स्वाधीनता-प्राप्ति में फ़ीख़टे का अच्छा भाग था। इस पहलू में उसका व्यवहार गेटे, हेगल और शापनहावर के व्यवहार से बहुत भिन्न था।

उसकी पत्नी अस्पताल में रोगी सैनिकों की सेवा का काम करती थी। उसे अस्पताली ज्वर हो गया। फ़ीख़टे की देख-रेख से वह तो बच गयी, परन्तु फ़ीख़टे आप रोगग्रस्त हो गया और बच न सका।

आयु के पहले 30 वर्ष आगे आने में व्यतीत हुए; 22 वर्ष जो प्रकाश में गुजरे, शीघ्र गति में गुजरे—यश के बाद यश प्राप्त होता रहा।

2. फ़ीख़टे का मत

फ़ीख़टे का दावा था कि वह कांट को समझनेवाला पहला विचारक था। उसने कांट की व्याख्या में एक पुस्तक भी लिखी, परन्तु वह कांट से आगे भी बढ़ा।

कांट ने कई स्वतःसिद्ध धारणाएँ स्वीकार की थीं; फ़ीख़टे ने ऐसी धारणाओं को तीन निम्नलिखित धारणाओं पर सीमित किया—

1. 'प्रत्येक वस्तु वही है, जो वह है'

2. 'जो कुछ किसी वस्तु से भिन्न है, वह वह वस्तु नहीं हो सकती।'

3. 'प्रत्येक वस्तु कुछ अंश में अपने आपसे भिन्न है; 'इससे भिन्न' भी कुछ अंश में यह वस्तु है।'

चिह्नों का प्रयोग करें, तो धाराणाओं को निम्नलिखित रूप दे सकते हैं—

1. 'क' 'क' है।' (अनन्यता का नियम)

2. 'क-अन्य' 'क' नहीं।' (अविरोध का नियम)

3. 'क' कुछ अंश में 'क-अन्य' है; 'क-अन्य' कुछ अंश में 'क' है। (अधिष्ठान का नियम (।

जब हम कहते हैं कि 'क' 'क' है', तो हमारा अभिप्राय होता है कि प्रत्येक वस्तु का अपना व्यक्तित्व (विशिष्टत्व) है, यह भी कि यह एक सरल भेद-रहित तथ्य है। गौ गौ है; घोड़ा घोड़ा है; मैं मैं हूँ; तुम तुम हो।

जब हम कहते हैं कि 'क' 'क' है, तो एक तरह से यह भी कह देते है कि 'क-अन्य' 'क' नहीं। यदि घोड़ा भी गौ हो, तो गौ को गौ कहने का अर्थ ही नहीं।

परन्तु संसार के पदार्थ एक ही संसार में विद्यमान हैं—हर एक एक स्वाधीन संसार नहीं। इसका अर्थ यह है कि वे सब एक दूसरे से सम्बद्ध हैं; एक दूसरे पर आश्रित हैं। 'क' में कुछ अंश 'क-अन्य' का है, और 'क-अन्य' में कुछ अंश 'क' का है।

फ़ीखटे इन नियमों को आत्मा पर लागू करता है—

1. 'मैं मैं हूँ'।

2. 'मैं अहं-अन्य नहीं हूँ।'

3. 'मैं कुछ अंश में अहं-अन्य हूँ; अहं-अन्य कुछ अंश में 'मैं' है।'

'मैं' या 'अहं' ज्ञाता है; अहं-अन्य ज्ञेय है। अपने अस्तित्व की बाबत तो सन्देह हो नहीं सकता; यह तो स्वीकृत तत्त्व है। अहं-अन्य या ज्ञेय कहाँ से आ पहुँचता है ? कांट ने कहा था कि यह भी स्वीकृत तत्त्व ही है; यह स्वयं-सत् का प्रकटन है। बर्कले

ने कहा था कि ज्ञेय परमात्मा की क्रिया का फल है। फ़ीखटे ने कहा कि ज्ञाता अपने विकास या सिद्धि के लिए ज्ञेय को भावित करता है; वह इसके अस्तित्व को मानने पर विवश होता है। अहं-अन्य या ज्ञेय ज्ञाता का अनिवार्य कार्य-क्षेत्र है। ज्ञाता और ज्ञेय एक दूसरे में प्रविष्ट हैं।

'मैं हूँ'; 'मैं ज्ञेय से भिन्न हूँ'; 'मैं और ज्ञेय एक दूसरे में ओत-प्रोत हैं'। ये तीन पग हेगल के सिद्धान्त में आधारशिला बने।

एक कठिनाई फ़ीखटे के सिद्धान्त में रह जाती है—इसे हम पहले भी अनुभव करते आये हैं। संसार का शेष भाग मेरे लिए कार्य-क्षेत्र है। परन्तु केवल मेरे लिए या किसी अन्य ज्ञाता के लिए भी? क्या फ़ीखटे के सिद्धान्त में एक से अधिक ज्ञाताओं के लिए स्थान है? जैसा हम देख चुके हैं, वर्कले के अनुसार, परमात्मा और मैं सारे अनुभव के समाधान के लिए पर्याप्त हैं। फ़ीखटे में, मैं ही पर्याप्त हूँ। कुछ विचारकों का ख्याल है कि स्थिति यही है; कुछ कहते हैं कि अनेक ज्ञाता हैं। वे सब 'एक' से प्रकट हुए, और अब एक दूसरे में ओत-प्रोत हैं। 'एक' की सत्ता 'पक्ष' है; 'एक' का 'अनेक' बनना 'प्रतिपक्ष' है; और सब का एक दूसरे में व्याप्त होना 'समन्वय' है।

यहाँ फ़ीखटे हमें हेगल के सुपुर्द कर देता है।

2. हेगल

1. जीवन की झलक

जार्ज विलियम फ्रेड्रिक हेगल (1770–1831) स्टुटगर्ट (जर्मनी) में पैदा हुआ। स्कूल की शिक्षा वहीं प्राप्त की। 1788 में ट्युनिगन के ब्रह्मविद्या-विद्यालय में भरती हुआ और पाँच वर्ष ब्रह्मविद्या और दर्शन के अध्ययन में व्यतीत किये। इसके बाद छह वर्ष प्राइवेट शिक्षक का काम किया। पिता की मृत्यु होने पर वह जेना चला गया। पिता ने उसके लिए पर्याप्त मात्रा में सम्पत्ति छोड़ी थी; इसलिए उसे फिर निश्चित रूप से दर्शन के अध्ययन का अवसर मिल गया। जब 1806 में जेना की लड़ाई ने प्रशिया को नेपोलियन के चरणों में डाल दिया, तो हेगल बैम्बर्ग चला गया, और एक समाचारपत्र में काम करने लगा। 1803 में नूर्नबर्ग के व्यायाम-स्कूल का अध्यक्ष नियुक्त हुआ, और 8 वर्षों तक

यह काम करता रहा । 1816 में जब वह 46 वर्ष का था, उसे हाइडलवर्ग में दर्शन के प्रोफेसर का पद मिला । दो वर्ष बाद उसे वर्लिन में फ़ीखटे की कुर्सी मिली । यहाँ वह खूब चमका । वर्लिन उच्च विद्या का केन्द्र था; हेगल दार्शनिक आकाश पर छा गया । 1831 में वह अचानक हैजे का शिकार हुआ, और 61 वर्ष की उम्र में चल वसा । वह फ़ीख़टें के पास ही दफनाया गया ।

हेगल को अध्ययन के लिए पर्याप्त समय मिला था; इसका उसने बहुत अच्छा प्रयोग किया । कहते हैं, उसका मस्तिष्क अरस्तू के मस्तिष्क जैसा विशाल था । उसने तर्क, सौंदर्य शास्त्र, धर्म, कला, मनोविज्ञान, नीति, राजनीति और इतिहास पर पुस्तकें लिखीं । इतिहास में, दर्शन का इतिहास लिखा और इतिहास-विवेचन लिखा । अपने समस्त सिद्धान्त का चित्र भी एक पुस्तक के रूप में प्रकाशित किया । जब वह मरा, तो यश के शिखर पर था । उसके कुछ अंग्रेज भक्तों ने तो पीछे कहा कि कांट का काम केवल हेगल के लिए मार्ग साफ करना था । दूसरे सिरे पर उसके सहयोगी और कुछ समय के लिए साथी शापनहावर की राय है, जो अपने देशवासियों की मूर्खता का प्रसिद्ध प्रमाण इस बात में देखता था कि वे हेगल जैसे मनुष्य को भी दार्शनिकों में गिनते हैं । आम राय इन दोनों अत्युक्तियों से भिन्न है ।

2. हेगल का दृष्टिकोण

प्राचीन काल में बहुधा दर्शनशास्त्र का अर्थ तत्त्व-ज्ञान ही किया जाता था । यही मध्यकाल के विचारकों का और नवीन काल में यूरोप महाद्वीप के विचारकों का दृष्टिकोण रहा । लॉक ने तत्त्व-ज्ञान के स्थान में ज्ञान-मीमांसा को प्रमुख प्रश्न बनाया, और वर्कले तथा ह्यूम ने उसकी मौलिक धारणा से जो परिणाम निकल सकते थे, निकाले । कांट ने कहा—'तुम कहते हो, सारा ज्ञान अनुभव से मिलता है; पहले यह तो सोचो कि अनुभव कैसे बनता है ।' हेगल फिर तत्त्व-ज्ञान की ओर झुका, और उसने सत्ता का स्वरूप समझने का यत्न किया ।

जब हम पूछते हैं—'सत्ता क्या है ?', तो हमारे मन में ख्याल होता है कि यह कोई स्थिर वस्तु है । द्रव्य का ख्याल चिरकाल तक प्रमुख ख्याल रहा । नवीन काल में डेकार्ट ने पुरुष और प्रकृति के द्वैत को माना; स्पिनोजा ने कहा कि

द्रव्य तो एक ही हो सकता है। उसने अपने अकेले द्रव्य (सब्स्टैन्स) में विस्तार और चेतना को एक स्तर पर रखा। लाइबनिज़ ने अनेक चिद्बिन्दुओं में सत्ता को देखा। इन सब विचारकों के लिए स्थिरता अधिक महत्त्व की चीज थी। परन्तु स्थिरता के साथ अस्थिरता न हो, तो स्थिरता का कोई बोध ही नहीं हो सकता। हेगल ने अपना ध्यान अस्थिरता पर लगाया। उसने कांट की तरह सत्ता के एक कटाव को नहीं, अपितु इसके प्रवाह को विवेचन का विषय बनाया।

19वीं शताब्दी का सब से प्रमुख प्रत्यय जिसने ज्ञान की सभी शाखाओं पर प्रभाव डाला, विकास का प्रत्यय है। चार्ल्स डार्विन ने अपनी पहली प्रमुख पुस्तक 1859 में प्रकाशित की; हर्बर्ट स्पेन्सर ने अपना काम 1860 के बाद आरम्भ किया। हेगल का जीवन-कार्य विकासवाद का प्रसार ही था। डार्विन और स्पेन्सर के लिए विकास प्राकृतिक विकास था; हेगल ने जगत्-प्रवाह को आध्यात्मिक या अप्राकृतिक विकास के रूप में देखा। डार्विन और स्पेन्सर को पढ़े-लिखे लोगों में बहुत श्रोता मिल गये; हेगल के विचार इने-गिने लोगों तक सीमित रहे। कहते हैं, हेगल ने एक बार कहा—'मेरे एक शिष्य ने मुझे समझा है, और उसने ठीक नहीं समझा।' यह कथा प्रामाणिक नहीं, तो भी यह तो तथ्य ही है कि हेगल बहुत गम्भीर व्यक्ति था।

हेगल ने स्पिनोज़ा की तरह विस्तार और चिन्तन (जड़ और चेतन) को एक स्तर पर नहीं रखा; उसने चेतना को प्रमुख स्थान दिया। उसके विचार में सारा विकास चेतना का है। इस मौलिक तत्त्व के लिए उसने 'नोशन' शब्द का प्रयोग किया है। 'नोशन' के विकास की कथा क्या है ?

3. विकास-कथा

विकास-कथा को समझने के लिए हमें यह कभी नहीं भूलना चाहिये कि विकसित होने वाला तत्त्व चेतना या बुद्धि है। संसार में जो कुछ हो रहा है, बुद्धि के अधीन हो रहा है। बुद्धि का प्रमुख काम चिन्तन करना है। इस चिन्तन को हम अपने अन्दर देखते हैं और बाहर भी देख सकते हैं; क्योंकि वहाँ भी जो कुछ हो रहा है, इसी की क्रिया है। हेगल का मौलिक सिद्धान्त यह है—

'जो विवेकयुक्त है, वह वास्तविक है; जो वास्तविक है, वह विवेकयुक्त है।'

बुद्धि की प्रक्रियाओं का अध्ययन तर्क या न्याय का काम है; सत्ता की बाबत विचार करना तत्त्व-ज्ञान का काम है। चूँकि बाहर और अन्दर जो कुछ हो रहा है, एक ही चेतना का खेल है, इसलिए न्याय और तत्त्व-ज्ञान में कोई भेद नहीं। हम अन्दर देखें या बाहर देखें, एक ही देखेंगे, यदि हमारे देखने में कोई दोष न हो।

इन दोनों में कोई विधि भी अपनायें, हम देखते क्या हैं ?

एक कवि ने कहा है—

'बड़ा मज़ा उस मिलाप में है, जो सुलह हो जाय जंग होकर।'

हेगल इन शब्दों को सुनता, तो पुकार उठता—'क्या कह रहे हो ? यह तो निरन्तर हो ही रहा है। जगत्-प्रवाह का रूप यही है कि अविरोध में विरोध निहित है; विरोध व्यक्त होता है और संघर्ष का रूप लेता है। विरोधी शक्तियाँ कुछ देर लड़ती हैं, और फिर उनमें सुलह हो जाती है।'

व्यापक इतिहास और वर्तमान दशा में, हर कहीं हेगल इस नियम को काम करते देखता है। विरोध कहीं बाहर से नहीं आता; यह तो प्रत्येक वस्तु और स्थिति के अन्दर अव्यक्त रूप में विद्यमान रहता है; यह उनके भाव का अनिवार्य अंश है।

यह विचार हेगल को उसकी त्रयी—'पक्ष' (धारणा), 'प्रतिपक्ष' (प्रति-धारणा), और 'समन्वय'—देता है। एक रूप से विभिन्नता प्रकट होती है, और इस विभिन्नता से एक नया सामंजस्य उत्पन्न होता है। अपनी बारी में यह सामंजस्य नयी धारणा बनता है, और एक नयी प्रतिधारणा प्रकट हो जाती है। यह क्रम जारी रहता है। चूँकि यह सब कुछ बुद्धि के नेतृत्व में होता है, इसलिए सारा परिवर्तन, दीर्घ दृष्टि में, उन्नति का रूप लेता है। सारी गति प्रगति है।

'नोशन' या मूल तत्त्व पहले प्रकाशन में अचेतन जगत् (नेचर) का रूप ग्रहण करता है। यह जगत् नियमानुसार चलता है, परन्तु उसे इस स्थिति का बोध नहीं होता। अन्य शब्दों में, बुद्धि नेचर में व्याप्त तो है, परन्तु सुषुप्त अवस्था में है। दूसरी मंजिल में, बुद्धि जागरण में होती है; यह मानव मन के रूप में

व्यक्त होती है। तीसरी और अन्तिम मंजिल में, 'नोशन' 'निरपेक्ष प्रत्यय' का रूप धारण करता है। वास्तव में निरपेक्ष आरम्भ से ही मौजूद होता है, परन्तु विकास की मंज़िल तै करके, अन्त में अपने विशुद्ध रूप को प्राप्त करता है। हेगल ने 'न्याय', 'जगत्-दर्शन' और 'मानव-दर्शन' पर पुस्तकें लिखीं। ये पुस्तकें तीनों मंज़िलों की बाबत उसके विचार प्रकट करती हैं। प्राकृत जगत् में प्रत्यय (आइडिआ) 'अपने आपमें' है; 'मन' में यह 'अपने लिए' है; आत्मा (स्पिरिट) में यह 'अपने आपमें और अपने लिए' है। निरपेक्ष आत्मा ही है। भौतिक जगत् में चेतना सुषुप्त होती है; मन में यह जागती है; आत्मा में बोध पूर्ण होता है।

4. कुछ उदाहरण

हेगल ने पक्ष, विपक्ष और समन्वय को सृष्टि-क्रम का तत्त्व बताया। उसका आशय स्पष्ट करने के लिए कुछ उदाहरण नीचे दिये जाते हैं। इन्हें राजनीति, नीति, अर्थशास्त्र और दर्शन से लेंगे।

(1) हाब्स ने कहा कि आरम्भ में व्यवस्था का पूर्ण अभाव था—प्रत्येक मनुष्य अन्य मनुष्यों का शत्रु था। हर एक दूसरों पर शासन करने के लिए उत्सुक था। यह अवस्था असह्य थी। इसमें अपने विनाश की शक्यता मौजूद थी। वह शक्यता प्रकट हुई, और लोगों ने निश्चय किया कि सभी अधिकार एक मनुष्य को दे दिये जायँ। दूसरों पर अधिकार करने की चेष्टा छोड़ने के साथ लोग अपने ऊपर अधिकार छोड़ने पर भी उद्यत हो गये। लंगर एक सीमा से दूसरी सीमा पर जा पहुँचा। अधिराज्य भी असह्य सिद्ध हुआ; और दोनों का समन्वय प्रजातन्त्र राज्य के रूप में व्यक्त हुआ।

(2) नीति में भोगवाद ने कहा कि व्यक्ति के लिए सुख-प्राप्ति का यत्न ही अकेला कर्त्तव्य है। विवेकवाद ने कहा कि नैतिक आचार में अनुभूति का कोई स्थान ही नहीं। सम्पूर्णतावाद इन दोनों का समन्वय है: इसके अनुसार अनुभूति न अकेला मूल्य है, न मूल्य-विहीन है; यह अच्छे जीवन में एक आवश्यक अंश है।

(3) अर्थशास्त्र में सम्पादन की विधि एक प्रमुख प्रश्न है। एक तरीका यह है कि कुछ लोगों को खरीदने और बेचने का अधिकार हो। इसे एकाधिकार कहते हैं। इस व्यवस्था में दोष दीखते हैं, और उनकी निवृत्ति के लिए बेरोक मुकाबले

का सहारा लिया जाता है। यह भी सन्तोषदायक सिद्ध नहीं होता, और दोनों का समन्वय, एक या दूसरे रूप में, उनका स्थान लेता है।

(4) नवीन काल में विवेकवादियों ने मनन को सारे ज्ञान का स्रोत बताया; अनुभव-वादियों ने कहा कि सारा ज्ञान बाहर से आता है। कांट का आलोचनवाद विवेकवाद और अनुभववाद का समन्वय है।

राजनीति, नीति, अर्थशास्त्र और दर्शन जीवन के पक्ष हैं। समस्त जीवन की बावत कल्पित-कथा भी इस सिद्धान्त की ओर संकेत करती है। एक यूनानी कथा के अनुसार, आरम्भ में पुरुष और स्त्री एक ही संयुक्त व्यक्ति थे। इस स्थिति में, युक्त व्यक्ति को न खाने-पीने की, न पूजा की सूझती थी। देवता ने क्रोध में युक्त व्यक्ति का विभाजन कर दिया, और पुरुषों और स्त्रियों को अव्यवस्थित समूह में फेंक दिया। इस विभाजन ने एक नयी असह्य स्थिति पैदा कर दी। सारे पुरुष-स्त्री समन्वय के यत्न में लगे हैं—विवाह की इच्छा अपने बिछुड़े साथी का ढूँढ़ना ही है।

5. इतिहास-विवेचन या दार्शनिक इतिहास

हेगल की पुस्तकों में 'तर्क' सबसे महत्त्वपूर्ण है; 'सौन्दर्यशास्त्र' कुछ लोगों की राय में सबसे अच्छी है; 'दार्शनिक इतिहास' सबसे सुबोध है। 'दार्शनिक इतिहास' का विषय आम दिलचस्पी का विषय भी है। पाठक को हेगल के निकट लाने के लिए इस पुस्तक की बावत कुछ कहना अनुचित न होगा।

यह पुस्तक दो नामों से प्रसिद्ध है। हेगल ने इसे 'दार्शनिक इतिहास' का नाम दिया, परन्तु यह वास्तव में इतिहास का विवेचन है। इतिहास, जैसा हेगल कहता है, तीन प्रकार का होता है। पहले प्रकार का इतिहास, जिसे 'मौलिक विवरण' कहते हैं, घटनाओं को, जैसी वे हैं, वर्णन कर देता है। यह तो जाहिर है कि जहाँ वर्णन करने वाला स्वयं घटनाओं को देखता है, और कैमेरा की निष्पक्षता से चित्रों को ग्रहण करता है। दूसरे प्रकार के इतिहास में, लेखक प्रस्तुत सामग्री का प्रयोग करके आप एक चित्र तैयार करता है। ऐसे इतिहास को 'विचारयुक्त इतिहास' कहते हैं। इतिहास की पुस्तकों की एक बड़ी संख्या इस श्रेणी में आती है। लेखक विशेष घटनाओं को या सीमित समय की स्थिति को देखता है

और उसे स्पष्ट करने का यत्न करता है। इतिहास-लेखक यह भी कर सकता है कि वह मानव जाति की जीवन-क्रिया को अपने विवेचन का विषय बनाये, और यह देखने का यत्न करे कि जो कुछ होता रहा है, वह विकास था, या घटनाओं की परम्परा थी, जिसका क्रम भिन्न हो सकता था। इस भेद को एक उदाहरण से स्पष्ट कर सकते हैं। एक समाचारपत्र में एक पृष्ठ पर 20 समाचार छपे हैं। सम्पादक ने इन्हें प्रकाशन के योग्य समझा है, परन्तु जिस क्रम में इन्हें रखा है, उससे भिन्न क्रम भी हो सकता था। उसी अंक में एक कहानी भी छपी है, जिसके बीस पाद हैं। इन पादों के क्रम को बदल दें, तो वाक्य और उनके शब्द तो बने रहेंगे, परन्तु कहानी नहीं रहेगी। कल्पना करें कि किसी उपन्यास के परिच्छेदों को एक अनपढ़ पुरुष बिलकुल नये क्रम में रख देता है। ये परिच्छेद एक समूह तो होंगे, परन्तु उपन्यास नहीं होंगे। हमारे सामने इस समय प्रश्न यह है कि मानव जाति का इतिहास समाचारों का संग्रह है, या उपन्यास अथवा नाटक से मिलता है। हेगल ने कहा कि सार्वभौम इतिहास एक विकास है; घटनाओं की पंक्ति या परम्परा ही नहीं।

यदि हम इस धारणा को स्वीकार करें, तो इतिहास-लेखक के लिए प्रमुख प्रश्न यह जानना होता है कि इतिहास में किसी विशेष दिशा में गति होती रही है या नहीं; और यदि होती रही है, तो वह कौन-सी दिशा है। हेगल ने कहा था कि जगत् में बुद्धि का शासन है; और मानव-यात्रा बुद्धि के नेतृत्व में हुई है। बुद्धि आत्म-सिद्धि को उद्देश्य बताती है। यह सिद्धि व्यक्ति के यत्न का फल होती है—कहीं से न दान में मिलती है, न खरीदी जा सकती है। यह सिद्धि स्वतन्त्रता का दूसरा नाम ही है। मानव-इतिहास का मर्म स्वाधीनता के लिए निरन्तर यत्न है—इसका क्षेत्र विस्तृत करने के लिए संघर्ष होता है। इस संघर्ष में गति आगे की ओर ही जाती है। संसार उन्नति का क्षेत्र है, परन्तु भोग का नाटकगृह नहीं।

इस वृद्धि के सम्बन्ध में तीन बातें विचार के योग्य हैं—

(1) जो आत्मा (स्पिरिट) इस उत्थान का अधिष्ठान है, उसका स्वरूप क्या है ?

(2) वह उत्थान के लिए किन साधनों को बर्त्तती है ?

(3) आत्मा अन्त में क्या स्थूल रूप धारण करती है ?

आत्मा का तत्त्व अपने आपमें पर्याप्त होना है । इसी को स्वाधीनता कहते हैं ।

प्राकृत जगत् में शान्ति प्रधान है । बीज कली बनता है, कली से फल व्यक्त होता है । वृक्ष अपने बढ़ाव में मजे में झूमता और धूप सेंकता प्रतीत होता है । मानव इतिहास संघर्ष से बनता है—आत्मा को अपने साथ ही युद्ध करना पड़ता है। मनुष्यों के उद्वेग प्रयुक्त होते हैं, और अपने आपको नाकारा बनाने में तत्पर रहते हैं । हेगल इस अजीब क्रिया को एक उदाहरण से स्पष्ट करता है ।

भवन बनाने में पहला पग उसका रंग-रूप निश्चित करना है । इसके बाद आवश्यक सामग्री की आवश्यकता होती है । सामग्री के प्रयोग के लिए प्राकृतिक शक्तियों को वर्त्तना पड़ता है । अग्नि लोहे को पिघलाती है; वायु अग्नि को प्रचण्ड करती है; पानी लकड़ी काटने के लिए यन्त्र के पहियों को चलाता है । जब भवन बनता है, तो वायु, जिसने इसके बनाने में सहायता दी थी, भवन में घुसने नहीं पाती; वर्षा भी बाहर रोक दी जाती है; और अग्नि के आक्रमण से बचाने का भी उपाय होता है । इसी तरह मानव प्रकृति के उद्वेग अपने आपको तृप्त करते हैं; संघर्ष होता है; और इसके फलस्वरूप, उद्वेग अपने विरुद्ध ही न्याय और व्यवस्था को स्थापित कर देते हैं ।

आत्मा सिद्धि के लिए महापुरुषों का विशेष प्रयोग करती है । वे लोग उन्नति के लिए काम करते हैं; अपने वैयक्तिक हितों के लिए नहीं । वे न अपने सुख के लिए यत्न करते हैं, न उन्हें यह सुख मिलता है । सिकन्दर की तरह वे शीघ्र चल देते हैं; जूलियस सीजर की तरह मार डाले जाते हैं; नेपोलियन की तरह देश-निकाले के बाद कैद किये जाते हैं । परन्तु जिस काम के वे योग्य थे, वह काम आत्मा उन से ले लेती है ।

जो कुछ बाहर बड़े पैमाने पर समाज में होता है, वही छोटे पैमाने पर व्यक्ति में होता है । बच्चा निर्दोष होता है, और हम उसकी निर्दोषता की प्रशंसा करते हैं; परन्तु निर्दोषता और सदाचार में बहुत बड़ा अन्तर है । यौवन के आने पर यह निर्दोषता भंग होने लगती है, और व्यक्ति को अपनी शक्ति की जाँच करने का अवसर मिलता है । उसे अपने विरुद्ध लड़ना पड़ता है । इस युद्ध में विजयी होना ही सदाचार है; इसमें पड़ने से पहले तो मनुष्य पशु-स्तर पर ही था । नैतिक उत्थान में, पक्ष, विपक्ष और समन्वय निर्दोषता, पतन और वृत्त के रूप में व्यक्त होते हैं ।

उन्नति की यात्रा में आत्मा अन्त में राष्ट्र का रूप ग्रहण करती है। राष्ट्र नैतिक तथ्य है। किसी राष्ट्र की स्थिति को समझने के लिए हमें देखना होता है कि उसमें स्वाधीनता की स्थिति क्या है। जैसा ऊपर कह चुके हैं, स्वाधीनता ही आत्मा का सार है।

हेगल मानव जाति के इतिहास में तीन प्रमुख युग देखता है। पहले युग में स्वाधीनता का पूर्ण अभाव न था, परन्तु वह केवल एक मनुष्य में केन्द्रित थी। पूर्व के देशों में यह स्थिति थी : यहाँ केवल राजा स्वाधीन था; अन्य सभी पराधीन थे। दूसरी मंजिल में, कुछ लोग स्वाधीन थे। यह स्थिति यूनान और रोम में थी। यूनान के राज्यों में प्रजातन्त्र राज्य था। नागरिक इकट्ठे होकर निर्णय कर लेते थे, परन्तु नगरों में रहनेवाले सभी 'नागरिक' न थे। स्वाधीन नागरिकों के साथ उनसे अधिक संख्या में दास भी मौजूद थे। स्त्रियाँ और उच्च दो वर्गों के अतिरिक्त अन्य वर्गों के पुरुष भी नागरिकता के अधिकार से वंचित थे। तीसरी मंजिल में, स्वाधीनता का अधिकार सबके लिए है। ऐसी व्यापक स्वाधीनता का उज्ज्वल उदाहरण प्रशिया में मिलता है। हेगल ने अपने सिद्धान्त की बावत कहा कि वह दार्शनिक विवेचन में अन्तिम शब्द है; प्रशिया के शासन की बाबत कहा कि वह राजनीतिक उन्नति की पराकाष्ठा है। अपनी बुद्धि की बाबत तो बहुतेरे लोग ऐसा ही समझते हैं; परन्तु अपने समय के प्रशिया की बावत जो दावा हेगल ने किया, वह उसकी देशभक्ति थी, या शासन-भक्ति ही थी ?

यह तो स्पष्ट है कि हेगल ऐसा कहते हुए अपने सिद्धान्त के मौलिक पक्ष को भूल गया। हेगल का मत था कि प्रगति कहीं रुकती नहीं; यह निरन्तर जारी रहती है। जब 'पक्ष' और 'विपक्ष' के योग से 'समन्वय' प्रकट होता है, तो वह समन्वय एक नया पक्ष बन जाता है। चूँकि यह सब कुछ विवेक के नेतृत्व में होता है, कोई स्थिति अनावश्यक नहीं होती। दूसरी ओर किसी स्थिति का अधिकार नहीं होता कि वह डेरा डाले रहे। जब इसका काम पूरा हो जाता है, तो इसके टिके रहने का कोई अर्थ नहीं। बुराई वह भलाई है जो, अपना समय बीतने पर, चल नहीं देती। हेगल किसी विशेष स्थिति की बाबत यह नहीं बताता, न कोई और निश्चय से बता सकता है, कि कब उसका समय बीत चुकता है। जीवन में संघर्ष होता रहता है। एक दल वर्तमान स्थिति को कायम रखना चाहता है; दूसरा इसे समाप्त करके नयी स्थिति कायम करना चाहता है। दोनों यह मानते हैं कि

कोई स्थिति ऐसी नही, जिसमें कभी भी परिवर्तन की आवश्यकता न होगी। एक दल कहता है कि परिवर्तन का समय आ गया है; दूसरा कहता है, अभी नहीं आया। हेगल के सिद्धान्त को दोनों दलों ने अपना सहारा बनाया। क्रान्तिकारियों ने कहा—'हेगल कहता है कि परिवर्तन जीवन का सार है; पूँजीवाद का समय बीत चुका है; अब इसे ठहरा रहना नहीं चाहिये।' रूस का जार और उसके भक्त कहते थे—'हेगल कहता है कि मानव की उन्नति में हर एक स्थिति काम की चीज है; जो कुछ विद्यमान है, उसका मूल्य है, नहीं तो इसका आविर्भाव ही न होता।'

दूर क्यों जायँ, निकट भी उदाहरण मिलते हैं। भारत में स्वाधीनता के लिए संघर्ष हुआ। अंग्रेज कहते थे—'स्वाधीनता तुम्हारा अधिकार है, तुम्हें मिलेगी; परन्तु इसका समय तो आने दो'; भारतीय कहते थे—'वह समय तो कब का गुजर चुका है।' युवकों में अनुशासन की कमी का हर ओर वर्णन होता है। नवयौवन और यौवन के बीच के 5-6 वर्ष विशेष महत्त्व के होते हैं। नवयुवक समझता है, समय आ गया है कि वह अपना शासन अपने हाथ में ले; उसके माता-पिता और अध्यापक ख्याल करते हैं कि काल उतनी तेज़ी से नहीं चलता, जितनी तेज़ी से चलता उसे दिखाई देता है।

5. भाव, अभाव और अस्तित्व

भाव और अभाव का विवाद प्राचीन यूनान में एक प्रमुख विवाद था। यह विवाद परिवर्तन के साथ सम्बद्ध है, और 'एक और अनेक', 'स्थिरता और अस्थिरता' को भी अपना विषय बनाता है।

पार्मेनाइडीस ने देखा कि सारे पदार्थ निरन्तर परिवर्तन में हैं। जो कुछ अस्थिर हो, उसका यथार्थ ज्ञान सम्भव नहीं। उसने सत् को, जो व्यापक अस्थिरता के नीचे स्थिर है, जानना चाहा। उसका मौलिक विचार यह था कि अभाव से भाव की उत्पत्ति नहीं हो सकती। सत्ता के लिए भूत, वर्तमान और भविष्य का भेद नहीं; यह अनादि और अनन्त है। इसका विच्छेद भी नहीं हो सकता, क्योंकि इसके अतिरिक्त इसे तोड़ने-वाला कुछ है ही नहीं। इसे 'यह' या 'वह' भी नहीं कह सकते; इसका एकमात्र गुण इसका होना है। इसी विचार के अनुसार, परिवर्तन के अस्तित्व से इनकार किया गया। तीर क से ख तक जाता नहीं; क और ख के बीच अगणित स्थानों पर स्थित होता है।

इसके विरुद्ध हिरैक्लिटस ने कहा कि सारी सत्ता परिवर्तन में ही है : स्थिरता हमारी कल्पना है। मनुष्य का शरीर स्थिर दीखता है, परन्तु इसके घटकों में कुछ प्रति क्षण विनष्ट होते हैं और कुछ नये उसका भाग बनते हैं। इन घटकों में भी स्थिरता नहीं; हर एक में निरन्तर परिवर्तन हो रहा है। प्रत्येक वस्तु भाव और अभाव का मेल है; इसके अस्तित्व का अर्थ ही यह है कि यह एक साथ 'है' और 'नहीं' है।

हेगल ने कहा है कि भाव में ही अभाव विद्यमान है; पहले अव्यक्त होता है; पीछे व्यक्त हो जाता है। फिर इनके पुनः मिलाप से पदार्थों का अस्तित्व बनता है। हेगल ने अपने सूत्र के प्रयोग से इस पुराने विवाद को समाप्त किया।

■

पन्द्रहवाँ परिच्छेद

शापनहावर और नीत्शे

प्लेटो और अरस्तू के साथ एथेन्स की प्रतिष्ठा समाप्त हो गयी। कांट और हेगल ने जर्मनों को जिन ऊँचाइयों तक पहुँचा दिया, वह उनके पीछे उन ऊँचाइयों पर स्थिर नहीं रह सकी। वर्त्तमान अध्याय में हम शापनहावर और नीत्शे का वर्णन करेंगे। ये कांट और हेगल की कोटि के विचारक न थे, परन्तु ये भी मानव विचारों पर अपनी छाप लगा गये हैं।

अन्य विचारकों की तरह कांट और हेगल दोनों ने दार्शनिक विवेचन में बुद्धि को महत्त्व का स्थान दिया था। कांट के विचारानुसार, सत्य-ज्ञान बुद्धि के प्रयोग से ही प्राप्त होता है; हेगल के अनुसार विवेक सत्ता का तत्त्व है। 'जो कुछ विवेकमय है, वह वास्तविक है; जो कुछ वास्तविक है वह विवेकमय है।' शापनहावर और नीत्शे दोनों ने महत्त्व का स्थान बुद्धि को नहीं, अपितु प्रयत्न और शक्ति को दिया। इन दोनों में भी भेद था, जिसे हम अभी देखेंगे।

1. शापनहावर

1. व्यक्तित्व

आर्थर शापनहावर (1788–1860) डैनजिग में पैदा हुआ। उसका पिता एक सफल व्यापारी था और माता एक योग्य लेखिका थी। यौवन में उसने अपने कुछ मित्रों के साथ पर्याप्त समय इङ्गलैण्ड और फ्रांस में गुजारा, और दोनों देशों की भाषाओं तथा साहित्य में अच्छी योग्यता प्राप्त कर ली। 1809 में वह गार्टिंगन विश्वविद्यालय में दाखिल हुआ, और उसने अपने प्रोफेसर के परामर्श पर प्लेटो तथा कांट पर अपना ध्यान केन्द्रित कर दिया। 1811 में वह बर्लिन में फ़ीख़टे के पास पहुँचा, परन्तु उसकी शिक्षा से सन्तुष्ट न हुआ। 1813 में जेना विश्वविद्यालय से

एक निबन्ध के आधार पर डाक्टर की उपाधि प्राप्त की। इसके बाद कुछ समय के लिए बेमर में गेटे के पास रहा। यहीं उसने वेदान्त का भी कुछ अध्ययन किया और भारतीय विचारों का प्रशंसक बन गया। बाद में तो वह सोने से पहले, उपनिषदों का कुछ पाठ किया करता था।

1814 से 1818 तक ड्रेसडन में रहा, और वहीं उसने अपनी पुस्तक 'विश्व प्रयत्न और विचार के रूप में' लिखी। प्रकाशक को हस्तलिपि के साथ एक पत्र भेजा, जिसमें लिखा कि जब कोई पुरुष कोई बड़ी पुस्तक लिखता है, तो जनता के स्वागत और आलोचकों के प्रतिकूल आलोचन की इतनी ही परवाह करता है, जितनी स्वस्थ-चित्त मनुष्य पागलखाने में पागलों के कटु वचनों की करता है। 15 वर्ष के बाद प्रकाशक ने उसे लिखा कि पुस्तकों का बड़ा भाग रद्दी में बेच दिया गया है।

बर्लिन में उसे प्राइवेट अध्यापक का पद यूनिवर्सिटी में मिला, परन्तु वह जल्दी ही जाता रहा। वह हेगल को मूढ़ समझता था, और हेगल जर्मनी के दार्शनिक आकाश पर छाया हुआ था। 1831 में बर्लिन में हैजा पड़ा; और हेगल और शापनहावर दोनों वहाँ से चले गये। हेगल तो लौट आया और हैजा का शिकार हो गया; शापनहावर ने जीवन के शेष 29 वर्ष फ्रैंकफ़र्ट के एक होटल में व्यतीत किये। वहाँ सफेद रंग का एक कुत्ता उसका अकेला बन्धु था। शापनहावर ने उसे 'आत्मा' का नाम दिया था; कुछ लोग उसे 'छोटा शापनहावर' कहते थे। वहाँ कुछ और पुस्तकें लिखीं, और लोगों ने अनुभव किया कि उन्होंने एक बड़े दार्शनिक को पहचाना न था। 1860 में एक प्रातः सेविका ने उसे काफ़ी दी, उसने पी। एक घंटे के बाद सेविका ने देखा कि शापनहावर कुर्सी पर बैठा है, परन्तु वह मृत शापनहावर था। यह मृत्यु उसकी आशा के अनुकूल थी।

2. शापनहावर का दृष्टिकोण

शापनहावर के कमरे में दो प्रतिमाएँ थीं—एक कांट की, दूसरी गौतम बुद्ध की। विशुद्ध विवेचन में वह कांट के प्रभाव में था; जीवन के मूल्य की बाबत उसका दृष्टिकोण बुद्ध के दृष्टिकोण से मिलता था। शापनहावर नवीन काल का सबसे बड़ा अभद्रवादी समझा जाता है। लाइबनिज़ ने कहा था कि 'विद्यमान

दुनिया अच्छी से अच्छी सम्भव दुनिया है ।' शापनहावर को इसमें बुराई के अतिरिक्त कुछ दिखाई नहीं दिया । आम स्थिति पर मनन भी इस नतीजे पर पहुँचने का कारण हुआ होगा, परन्तु प्रमुख कारण तो उसकी स्थिति थी । वह 17 वर्ष का था कि उसका पिता नहर में गिर पड़ा और तुरन्त डूब गया । आम ख्याल यह था कि उसने अपनी इच्छा से अपनी पत्नी को विधवा बना दिया । नयी विधवा सुन्दर और शौकीन युवती थी । वह वेमर में रहने चली गयी । वहाँ भोगविलास के सारे सामान मौजूद थे । माँ और बेटा दोनों एक दूसरे से घृणा करते थे । शापनहावर ने एक बार उससे मिलने की इच्छा की, तो उसने लिखा—'मैं तुम्हारे कुशल का समाचार तो सुनना चाहती हूँ; परन्तु अपनी आँखों से देखना नहीं चाहती । तुम असह्य हो; मत आओ ।' 24 वर्ष माता और पुत्र एक दूसरे से न मिले । माता तो मर गयी, परन्तु बेटे के जीवन का कड़आपन बना रहा । इस तजुर्बे के बाद शापनहावर के लिए सम्भव ही न था कि वह विवाह की बाबत सोचता । उसने 29 वर्ष एक होटल में बिता दिये । यह तो घरेलू जीवन की हालत थी । बाहर की दुनिया में भी स्थिति ऐसी ही थी । वह समझता था कि कांट और उसके बीच कोई दार्शनिक नहीं हुआ ; किसी विश्वविद्यालय में उसके लिए स्थान न था, और उसकी प्रमुख पुस्तक रद्दी के भाव बेची गयी । जब अन्त में उसे सम्मान प्राप्त हुआ, तो बुढ़ापे ने उसका रक्त सर्द कर दिया था । ऐसे पुरुष के लिए अभद्रवादी होना स्वाभाविक ही था ।

3. विश्व 'विचार' के रूप में

विश्व के रूप की बाबत, प्रकृतिवाद और अध्यात्मवाद में दृष्टिकोण का मौलिक भेद है । प्रकृतिवाद के अनुसार जड़ प्रकृति में शक्ति है कि अपने परिवर्तन में जीवन और चेतना को पैदा कर दे । अध्यात्मवाद के अनुसार प्रकृति मानव विचारों के अतिरिक्त कुछ है ही नहीं; यह किसी अन्य वस्तु को पैदा क्या करेगी ? शापनहावर अध्यात्मवाद का समर्थक है । प्रकृतिवाद कहता है—'प्रकृति पर चिन्तन करो, तुम्हें इसमें चेतना की शक्यता दिखाई देगी ।' शापनहावर कहता है—'यहाँ चिन्तन तो पहले ही आ गया है; पीछे व्यक्त होने का प्रश्न ही नहीं उठता ।'

प्रकृति का तत्त्व कर्तृत्व में है । किसी प्राकृत पदार्थ के अस्तित्व का अर्थ यही है कि वह दूसरे पदार्थों पर प्रभाव डालता है और दूसरे पदार्थ उसपर प्रभाव

डालते हैं। कांट ने कहा था—'प्रकृति वह वस्तु है, जो अवकाश में स्थान-परिवर्तन कर सकती है।' स्थान-परिवर्तन या गति काल में हो सकती है—यह देश और काल का संयोग ही है। गति ज्ञान का विषय है। ज्ञाता के विना ज्ञेय का चिन्तन ही नहीं हो सकता। प्रकृति के मुकाबिल, आन्तरिक दुनिया में बुद्धि है, जिसकी अकेली प्रक्रिया कर्त्तृत्व को जानना है। इन्द्रियों को गुणों का बोध होता है; इस बोध को संवेदन कहते हैं। बुद्धि इन बोधों को मिलाकर वस्तु-ज्ञान देती है; इसे प्रत्यक्षीकरण कहते हैं। स्मरण और कल्पना भी बुद्धि की क्रियाएँ हैं। पशु स्तर पर इनकी सम्भावना है। मनुष्य की बुद्धि विवेचन भी कर सकती है।

प्राकृत पदार्थों में एक पदार्थ—हमारा शरीर—ऐसा है, जिसका ज्ञान स्पष्ट होता है; अन्य पदार्थों का ज्ञान शरीर के किसी अंग के प्रयोग पर निर्भर होता है। अन्य पदार्थों को हम देखने, छूने पर जान सकते हैं; अपने शरीर की बावत जानने के लिए किसी बाहरी सहायता की आवश्यकता नहीं होती।

कारण-कार्य सम्बन्ध प्रकटनों में होता है। ज्ञान में ज्ञाता और ज्ञान के विषय युक्त होते हैं। प्रकृतिवाद दोनों को अलग करता है, और प्रकृति से सब कुछ निकालता है; फ़ीख़टे दोनों को अलग करके, सब कुछ ज्ञाता से निकालता है। सन्देहवाद इन दोनों के भेद का लाभ उठाकर ज्ञान की सम्भावना से ही इनकार करता है। असन्दिग्ध तथ्य तो ज्ञान या विचार है, और यही दुनिया है।

4. विश्व 'प्रयत्न' के रूप में

शापनहावर की सम्मति में बुद्धि का सार भी प्रयत्न में है। मनोविज्ञान में प्रयत्न का अर्थ ऐसा उद्योग है जो किसी नियत प्रयोजन की सिद्धि के लिए किया जाता है। शापनहावर संकल्प के अतिरिक्त अन्य क्रियाओं को भी इसके अन्तर्गत ले आता है। मनुष्य में यह क्रिया इच्छापूर्त्ति के लिए भी होती है; पशु आगे से आकृष्ट नहीं होते, प्राकृत प्रवृत्तियों से धकेले जाते हैं। वनस्पति की हालत में ये प्रवृत्तियाँ भी नहीं होतीं; वह आघात होने पर उपयोगी प्रक्रिया कर देती है। जड़ प्रकृति में हम शक्ति को ताप, प्रकाश, आकर्षण, बिजली आदि अनेक रूपों में देखते हैं। कुछ वैज्ञानिक कहते हैं कि प्रयत्न भी एक प्रकार की शक्ति है; शापनहावर कहता है कि प्राकृतिक शक्ति भी अचेतन प्रयत्न है।

प्रयत्न चेतन और अचेतन है। चेतन प्रयत्न में भी विवेक-विहीनता प्रमुख है। व्यापक प्रयत्न नेत्रहीन शक्ति है। सबसे ऊँचे स्तर पर यह मनुष्य के संकल्प में व्यक्त होती है। अन्धी शक्ति से जो कुछ आशा की जा सकती थी, वही इसकी क्रिया में हर ओर दिखाई देता है। मनुष्यों में बुद्धिमान् पहले भी इने-गिने थे, अब भी इने-गिने हैं। जो कुछ वे पहले कहते थे, वही अब भी कहते हैं। बहुसंख्या पहले की तरह अब भी मूर्खों की है, और पहले की तरह अब भी वे अकल की बात नहीं सुनते। जिन वस्तुओं की कोई कीमत नहीं, उनके पीछे पागलों की तरह लगे हैं।

व्यापक शक्ति तो एक ही है, यह थोड़े काल के लिए यहाँ और वहाँ, इस रूप में और उस रूप में, व्यक्त होती है और फिर लुप्त होती है। मनुष्य अज्ञान में व्यक्ति के पैदा होने पर बाजे बजाते हैं; उसकी मृत्यु पर रोते हैं। दोनों प्रकार का व्यवहार मूर्खता है। सर्वोत्तम गति तो यह है कि आने जाने का झगड़ा ही उठ जाय।

5. शापनहावर का अभद्रवाद

जीवन में अनेक क्लेश हैं; बुद्ध ने ठीक कहा था कि जीवन दुःखमय ही है। जन्म दुःख में होता है; मृत्यु दुःख में होती है, और बीच में जीवन दुःख में गुजरता है। सब लोग भट्ठी में पड़े हैं; भेद इतना ही है कि कोई मध्य में भुना जा रहा है, कोई किनारे के निकट पक रहा है।

कई पश्चिमी विचारकों को कुछ आश्चर्य होता है कि प्राचीन भारत में स्वर्ग का चित्र तो खींचा गया था, नरक की बाबत विवेचन नहीं हुआ। शापनहावर ने इस स्थिति का एक सरल समाधान देखा। वह कहता है कि पुराने हिन्दू इस दुनिया को ही नरक के रूप में देखते थे; किसी अन्य नरक की कल्पना काहे को करते? वह उपनिषदों को इसलिए पसन्द करता था कि ये भी अभद्रवाद का समर्थन करते हैं। बुद्ध ने जीवन का मर्म समझा था। जैसा हम कह चुके हैं, कांट और बुद्ध की प्रतिमाएँ शापनहावर के कमरे की शोभा थीं।

जीवन बुरा है; इससे चिपटे रहने की इच्छा इससे भी बुरी है। जो कुछ हम प्राप्त कर सकते हैं, उससे बहुत अधिक प्राप्त करना चाहते हैं। जब कुछ प्राप्त होता है, तो हम उससे उकताने लगते हैं, और किसी अन्य वस्तु के पीछे भटकने लगते हैं; सारा जीवन दुःख और उकताने में बीत जाता है। बुद्धि मौजूद

तो है, परन्तु नेत्रहीन प्रयत्न उसकी चलने नहीं देता। बुद्धि की मानें, तो कड़ुए तजुर्बे से सीख कर क्लेश को स्थायी न बनायें; परन्तु प्रवृत्ति ऐसा करने नहीं देती। कुदरत यौवन में स्त्री को आकर्षण दे देती है, और पुरुष की बुद्धि पर परदा डाल देती है। चल देने से पहले, मनुष्य अन्य मनुष्यों को पैदा कर देता है।

आत्महत्या को कुछ लोग रोग का इलाज समझते हैं, परन्तु जितना समय दो आत्महत्याओं के जीवन के बीच गुजरता है, उतने में सहस्रों की वृद्धि हो जाती है। बुद्ध ने ठीक समझा था कि जीवन का उद्देश्य निर्वाण या जीवन की निरपेक्ष समाप्ति है। इसका एकमात्र उपाय यह है कि सन्तानोत्पत्ति बन्द हो जाय।

जब तक बुद्धि अन्धे प्रयत्न के मुकाबले में अशक्त है, जीवन-व्यापार में हम क्या कर सकते हैं ?

शापनहावर के विचार में, साधारण स्तर पर नीति का आदेश यही है कि जहाँ तक बन पड़े, दुःख की मात्रा को कम करने का यत्न करें। ऊँचे स्तर पर, सर्वोत्तम भावना यह है कि जीवन की इच्छा ही न रहे।

मेधावी पुरुष का चिह्न यही होता है कि उसमें इच्छाएँ बहुत निर्बल होती हैं, और मनन प्रबल होता है।

शापनहावर ने कहा है कि मनुष्य को योग्यता माता से प्राप्त होती है, और चरित्र पिता से प्राप्त होता है। उसकी माता समझती थी कि उसकी बुद्धि का बहुत थोड़ा अंश उसके पुत्र को पहुँचा। शापनहावर ने एक बार उसे कहा कि कोई उसे याद करेगा, तो आर्थर की माता होने के कारण ही करेगा। पिता की व्यावहारिक सूझ-बूझ का पर्याप्त अंश उसे मिला। जो सम्पत्ति उसे पिता से मिली थी, उसके उचित प्रयोग से उसने 55 वर्ष निश्चिन्त गुजार दिये। वह कहता था कि जीवन की कोई कीमत नहीं। सम्भवतः यह धारणा साधारण मनुष्यों के सम्बन्ध में थी; आप तो सोते समय तकिये के नीचे पिस्तौल रख लेता था, और नाई के उस्तरे को उसने कभी गरदन के निकट पहुँचने नहीं दिया।

2. नीत्शे

1. व्यक्तित्व

फ्रेड्रिक नीत्शे (1844–1900) प्रशिया के नगर रोकन में पैदा हुआ। उसका जन्म प्रशिया के राजा फ्रेड्रिक विलियम IV के जन्मदिन हुआ। पिता ने राज-

भक्ति के प्रभाव में नये बालक का नाम फ्रेड्रिक रखा। नीत्शे कहता है कि नाम के इस चुनाव का एक लाभ उसे अवश्य हुआ; बाल्यावस्था समाप्त होने तक, उसका जन्मदिन भी देश भर में समारोह से मनाया जाता रहा। उसका पिता पादरी था। नीत्शे अभी 7 वर्ष का था, जब उसके पिता का देहान्त हो गया। उसे पिता से भद्दा, निर्बल, रोगी शरीर मिला। उसकी अवस्था एक ऐसे टीले की सी थी, जिसके अन्दर 'लावा' (संतप्त द्रव) भरा हो, और चंचल अवस्था में हो। उसके अशान्त, व्याकुल और सबल मन के लिए, उसका निर्बल और रोगी शरीर उचित निवास-स्थान न था।

18 वर्ष की उम्र में नीत्शे के विचारों में एक बड़ा परिवर्तन हुआ; ईसाइयत में उसका विश्वास उठ गया। 1865 में उसे शापनहावर की पुस्तक का ज्ञान हुआ, और उसने इसे ध्यान और श्रद्धा से पढ़ा।

वह भी अभद्रवादी बना, परन्तु थोड़े समय के बाद ही उसके विचार बदल गये। 23 वर्ष की उम्र में वह अनिवार्य भरती में ले लिया गया, परन्तु घोड़े से गिर पड़ने पर सेना से अलग कर दिया गया। उसने विश्वविद्यालय में उच्च शिक्षा समाप्त की, और 25 वर्ष की उम्र में ही वाल विश्वविद्यालय में प्राचीन भाषाविज्ञान का प्रोफेसर नियुक्त हुआ। 1872 में उसने अपनी पहली पुस्तक 'शोकप्रधान नाटक का जन्म' लिखी। प्राचीन यूनान की ट्रैजिडी में एक ख्याल प्रधान है—नायक पर दैवी मुसीबतें आती हैं, परन्तु वह गिरता नहीं; साहस से उन्हें सहता है। नीत्शे का नायक ही उसकी दृष्टि में आदर्श मनुष्य था। 1870 में फ्रांस और जर्मनी में युद्ध होने लगा, और नीत्शे ने अपने आपको सैनिक सेवा के लिए पेश कर दिया। अल्पदृष्टि होने के कारण उसे घायलों की सेवा का काम दिया गया। वह यह भी न कर सका, और निराश हो विश्वविद्यालय में लौट आया। उसके चंचल मन ने उसे 10 वर्ष के काम के बाद अध्यापक पद छोड़ने पर मजबूर कर दिया। इसके अनन्तर 10 वर्ष तक उसने लेखक का काम किया। किस विषय पर लिखता? उसकी मानसिक चंचलता निश्चय करनेवाली थी। उसने कला पर लिखा, फिर मनोविज्ञान पर, फिर नीति पर, फिर राजनीति पर। चालीस वर्ष की उम्र में उसने अपनी प्रमुख पुस्तक 'जरतुश्त के कथन' लिखी। स्वयं उसका ख्याल था कि जो कुछ भी काम की बातें प्राचीन पुस्तकों में पायी जाती हैं, उन सब से जरतुश्त का एक प्रवचन

अधिक मूल्य का है। लोगों की राय का पता इस बात से लगता है कि पुस्तक की 40 प्रतियाँ बिकी, 7 भेंट की गयीं, 1 की स्वीकृति हुई, और किसी ने प्रशंसा न की। 1890 में लोगों को इसके महत्त्व का ज्ञान हुआ, पर उस समय नीत्शे के अन्तिम 10 वर्षों का पागलपन आरम्भ हो चुका था। इस पुस्तक ने जर्मनी में क्षत्रियत्व की भावना सब हृदयों में भर दी। जर्मनी को पहले महायुद्ध में धकेलने का एक कारण 'जरतुश्त' भी था।

पहले वह पागलखाने में भेजा गया। फिर उसकी बहिन और बूढ़ी माता ने उसकी देखभाल की। 1900 में उसका देहान्त हुआ। अपनी योग्यता के लिए इतनी बड़ी कीमत शायद ही किसी और को देनी पड़ी हो।

2. नीत्शे का दृष्टिकोण

नीत्शे का चंचल मन असन्तुष्ट था। असन्तोष का एक कारण तो उसका अपना जीवन ही था; परन्तु यूरोप की स्थिति भी एक बड़ा कारण थी। शापनहावर ने भी अनुभव किया था कि स्थिति भयावनी है, परन्तु उसे ऐसा प्रतीत हुआ कि इसका सुधार हो नहीं सकता। जहाँ मरम्मत न हो सके, वहाँ गिराना ही पड़ता है। अभद्रवाद ने उसे निर्वाण की गोद में धकेल दिया था। नीत्शे भी उधर झुका, परन्तु शीघ्र ही सँभल गया। उसने कहा--'स्थिति भयावनी है, परन्तु इसका सुधार सम्भव है। आवश्यकता इस बात की है कि अनुचित दृष्टिकोण त्याग कर उचित दृष्टिकोण अपनाया जाय। दर्शन और धर्म दोनों ने इस लोक को अपमानित कर दिया है— धर्म परलोक की बाबत कहता रहता है, और दर्शन स्वयं-सत् और प्रकटनों के भेद पर जोर देता है। यह लोक ही हमारी श्रद्धा का पात्र है। हमें मृत्यु के लिए नहीं, जीवन के लिए प्रयत्न करना चाहिये; और निराशावादी नहीं, अपितु आशावादी बनना चाहिये। यूरोप का सबसे बड़ा खतरा 'नवीन बौद्ध मत' है।

वर्त्तमान स्थिति के लिए ईसाई धर्म सब से अधिक उत्तरदायी है। इसने नम्रता, संवेदन आदि को शक्ति, साहस आदि गुणों से ऊँचा पद देकर इस लोक में बढ़ने की भावना को समाप्त सा ही कर दिया है। लोकवाद और इसके साथ शक्ति की पूजा को फिर इनका उचित स्थान मिलना चाहिये। यह कैसे हो सकता है?

3. स्वामी-नीति और दास-नीति

समाज स्वभाव से ही दो वर्गों में बँटा होता है—उच्च वर्ग और निम्न वर्ग। इन वर्गों का सम्बन्ध रेलगाड़ी के इंजन और डब्बों के सम्बन्ध से मिलता-जुलता है। उच्च वर्ग अल्पसंख्या में होते हैं; निम्न वर्ग बहुसंख्या में होते हैं। उच्च वर्ग का काम शासन करना है;, जनता इस शासन में चलती है। यह व्यवस्था चिर काल तक जारी रही। तब पतन का आरम्भ हुआ। यहूदियों ने इसे आरम्भ किया और ईसाई मत ने, जो कमी थी, उसे पूरा कर दिया। मानव जाति में जो प्राकृत भेद हैं, उन्हें अस्वीकार किया गया और इस सिद्धान्त का प्रसार होने लगा कि सब मनुष्य बराबर हैं, और जो नैतिक नियम एक पर लागू है, वही दूसरों पर भी लागू है। राजनीति में यह विचार जनतन्त्रवाद के रूप में प्रकट हुआ। बहुसंख्या सदा मूर्खों और निर्बलों की होती है। जहाँ सम्मतियों को गिनना ही हो, उनको तौलना न हो, वहाँ अनिवार्य रूप से निर्बलों और अयोग्यों का शासन होगा। मानव जाति के इतिहास में सबसे बड़ी आपत्ति यह हुई कि स्वामी-नीति के स्थान में दास-नीति प्रभावशाली हो गयी। अब आवश्यकता यह है कि फिर स्वामी-नीति को उसका उचित स्थान दिया जाय। यह कैसे हो सकता है? इस प्रश्न का उत्तर नीत्शे ने जरतुश्त के मुख में डाला है।

4. 'जरतुश्त के कथन'

पुस्तक के चार भाग हैं, और उनमें 80 प्रवचन हैं। पहला प्रवचन यों आरम्भ होता है—

मैं तुम्हें आत्मा के तीन परिवर्तनों की बाबत बताता हूँ—किस तरह आत्मा ऊँट बनती है, किस तरह ऊँट शेर बनता है, और अन्त में किस तरह शेर मनुष्य का बच्चा बनता है।

आत्मा के लिए अनेक भारी बोझ हैं—बलवान् आत्मा के लिए, जो बोझ उठाने की योग्यता रखती है, और श्रद्धावान् है। इसकी शक्ति भारी और अति भारी बोझों की माँग करती है।

बोझ उठानेवाली आत्मा पूछती है—'कौन सी वस्तु भारी है?' और ऊँट की भाँति घुटने टेक कर चाहती है कि उसे अच्छी तरह लाद दिया जाय।..........

इसके बाद दूसरा परिवर्तन होता है और आत्मा शेर बन जाती है। शेर अपने शिकार की भाँति स्वतन्त्रता को पकड़ना चाहता है, और अपने मरुस्थल में शासन करना चाहता है।........पहले शेर को आदेश मिलता था—'तुम्हें करना होगा'; अब वह कहता है—'मैं करूँगा'।

मेरे भाइयो ! आत्मा में शेर की आवश्यकता क्यों है ? त्याग करनेवाला और लद्दू पशु क्यों पर्याप्त नहीं ? नये मूल्यों का उत्पादन तो शेर भी नहीं कर सकता, परन्तु नये उत्पादन के लिए जिस स्वाधीनता की आवश्यकता है, उसे पैदा करने के लिए शेर की शक्ति पर्याप्त है।........

परन्तु मेरे भाइयो ! बताओ कि मनुष्य का बच्चा क्या कर सकता है, जो शेर भी नहीं कर सकता था ? फाड़नेवाले शेर को मनुष्य क्यों बनना चाहिये ?

मनुष्य का बच्चा निर्दोष है; वह भूत की विस्मृति है और नया आरम्भ है, वह एक खेल है; अपने आप घूमनेवाला पहिया है; आरम्भ की गति है; एक पवित्र अहंभाव है।

मानव के विकास में तीन मंजिलें हैं—पहली मंजिल आज्ञा-पालन की है; दूसरी स्वाधीनता की है; और तीसरी रचना की है। समाज में अब भी तीन वर्गों की आवश्यकता है; शासन करनेवाले उच्च वर्ग का काम शासन के नियम बनाना है; स्वयं उनके लिए उनकी इच्छा ही अकेला नियम है। शासन का साधन प्रबन्धकों या सैनिकों का वर्ग है—वे दासता से ऊपर उठ चुके हैं, परन्तु नियमबद्ध हैं। बहुसंख्या का काम अब भी नियमाधीन, जीवन-निर्वाह का सामान पैदा करना है। यहाँ नीत्शे प्लेटो की वर्ग-व्यवस्था को ही दुहरा रहा है।

ऐसे शासक जो अपने लिए आप ही नियम हों, और समाज को उन्नति के मार्ग पर चला सकें, अब विरले ही मिलते हैं। नेपोलियन ने कुछ समय के लिए यूरोप में क्षत्रियत्व को सत्कार का पात्र बनाया था। फ्रांस की सभ्यता यूरोप में काम की सभ्यता है; अंग्रेज व्यापारियों ने तो जनतन्त्र को बढ़ावा देकर सभ्यता को बहुत नीचे पहुँचा दिया है। ऐसी स्थिति में यदि आशा की रेखा कहीं है, तो भविष्य में आनेवाले अति-मानव में ही है। नीत्शे का सारा प्रयत्न अति मानव की बाबत बताना था। इसे समझने का यत्न करें।

5. 'अतिमानव'

शापनहावर की प्रमुख पुस्तक 1818 में प्रकाशित हुई; नीत्शे की पहली पुस्तक 1872 में प्रकाशित हुई। बीच के 54 वर्षों में विवेचन की दुनिया में एक बड़ा परिवर्तन हो चुका था। बेकन ने कहा था—'कुदरत की बावत कल्पना करना छोड़ो; उसे देखो।' इंग्लैण्ड में चार्ल्स डार्विन और हर्बर्ट स्पेन्सर ने बेकन की आवाज सुनी, और कुछ ही वर्षों में विकासवाद सारे यूरोप में प्रमुख प्रत्यय बन गया। डार्विन की पुस्तक 1859 में प्रकाशित हुई; स्पेन्सर ने 1860 में अपने 'समन्वयात्मक दर्शन' का प्रकाशन आरम्भ किया। नीत्शे पर विकासवाद का बहुत प्रभाव पड़ा। डार्विन और स्पेन्सर दोनों ने बताया कि वर्त्तमान स्थिति कैसे प्रकट हुई है। सजीव जगत् में उन्होंने संघर्ष और उसके परिणाम योग्यतम के बच रहने पर बल दिया। नीत्शे ने इस नियम को भविष्य के परदे पर फेंक कर देखना चाहा कि भावी स्थिति क्या हो सकती है।

जरतुश्त ने आरम्भिक प्रवचन में, जो पुस्तक की भूमिका ही है, श्रोताओं से कहा—

'मैं तुम्हें अति-मानव (शुभ्र-मनुष्य) की बावत बताता हूँ। मनुष्य ऐसी वस्तु है कि इसे ऊपर उठाया जाय। तुमने इसके लिए क्या किया है ?

अभी तक सभी वस्तुओं ने अपने से उत्तम को जन्म दिया है। क्या तुम मनुष्य से ऊपर उठने के स्थान में फिर पशु की निचाई पर पहुँचना चाहोगे ?

वन्दर मनुष्य की दृष्टि में क्या है ? हँसी या लज्जा का पदार्थ है। इसी तरह अति-मानव की अपेक्षा मनुष्य हँसी या लज्जा का पदार्थ होगा।

तुमने कीड़े से मनुष्य तक का मार्ग तय किया है, और अब भी तुममें बहुतेरा अंश कीड़ा ही है। कभी तुम बन्दर थे; और अब भी तुममें किसी बन्दर से भी अधिक वानरी-प्रवृत्ति मौजूद है। तुममें से सबसे बुद्धिमान् मनुष्य में भी कर्कशता है; वनस्पति और प्रेत का योग है। क्या मैं तुम्हें वनस्पति या प्रेत बनने का आदेश देता हूँ ? देखो ! मैं तुम्हें अति-मानव की शिक्षा देता हूँ ?'

अभी तक विचारक मानव-जाति की बावत सोचते और कहते रहे थे; और सब मनुष्यों को एक स्तर पर रखते थे। जान स्टुअर्ट मिल ने कहा—'दूसरों

के साथ ऐसा व्यवहार करो, जैसा तुम दूसरों से अपने प्रति चाहते हो।' नीत्शे कहता है—यह तो मिल ने गँवारों की बात कही है। उसने फर्ज कर लिया है कि प्रत्येक के व्यवहार की कीमत एक ही है। यह तथ्य नहीं; समाज की प्राकृत बनावट शुंडाकार स्तम्भ की-सी है; स्तर का भेद मिट नहीं सकता। भूत काल में जो कुछ हुआ है, वह 'मनुष्य-जाति' ने नहीं किया, महापुरुषों ने किया है। अति-मानव के आगमन के लिए यत्न करना वर्त्तमान का प्रमुख काम है।

महापुरुष आसमान से नहीं गिरते; उनके पूर्वजों को उनके आगमन की पूरी कीमत देनी होती है। ऐसे पुरुष के प्रकट होने के लिए आवश्यक है कि—

(1) उसे सुयोग्य, स्वस्थ, सबल माता-पिता मिलें।

(नीत्शे देखता था कि इस पहलू में उसके साथ कितना कठोर व्यवहार हुआ है।)

(2) उसकी आरम्भिक शिक्षा-दीक्षा उसे लोहे के समान कठोर बना दे। वह सुख के पीछे न भागे; शक्ति प्राप्त करे, ताकि कड़ा समय आने पर हर प्रकार की कठिनाई का मुकाबला कर सके। उसकी शिक्षा उसे शासन करने के योग्य बनाये। इस योग्यता के लिए कड़े अनुशासन की आवश्यकता है। जो पुरुष सद्भावनापूर्वक आज्ञापालन नहीं कर सकता, वह आज्ञापालन करा भी नहीं सकता।

(3) वह केवल इसी योग्य न हो कि खतरों का मुकाबला कर सके; बल्कि उसमें खतरों को आमन्त्रित करने का शौक भी हो।

6. 'शक्ति की आकांक्षा'

दार्शनिक बहुधा यही सोचते आये थे कि सत्ता का स्वरूप क्या है। उनके विचार में सत्ता कोई स्थिर अवस्था है और हमारा काम उसे देखना है। हेगल ने कहा—'जो कुछ हो रहा है, बुद्धि के नेतृत्व में हो रहा है'; शापनहावर ने कहा—'जो कुछ हो रहा है, अन्धी आकांक्षा के अधीन हो रहा है।' दोनों ने मनुष्य को अशक्त द्रष्टा बना दिया। नीत्शे के विचार में, बलवान् पुरुष यह नहीं पूछता कि सत्ता भद्र रूप है, या अभद्र रूप है; वह यह निश्चय करता है कि वह इसका क्या बनाना चाहता

है। इस निश्चय के बाद अपनी सारी शक्ति से वांछित परिवर्तन करने में लग जाता है, और यह परवाह नहीं करता कि उसके यत्न का फल क्या होगा। योद्धा युद्ध में विश्वास करता है; हर एक युद्ध जो साहस से लड़ा जाय, अपने उद्देश्य को अच्छा बना देता है। अचेतन जगत् में भी प्रत्येक अणु सारे विश्व में व्याप्त होने का यत्न करता है, परन्तु अन्य अणुओं के ऐसे यत्न की उपस्थिति में ऐसा कर नहीं सकता। इसलिए समझौते के तौर पर, सीमित स्थान पर सन्तोष करता है। सजीव पदार्थों की हालत में भी शक्ति की आकांक्षा प्रत्यक्ष दीखती है। मनुष्यों का संघर्ष बच रहने के लिए नहीं होता, दूसरों पर शासन की योग्यता प्राप्त करने के लिए होता है। इतिहास को देखें, तो यह तो नहीं पाते कि मनुष्य पहले से अच्छे हैं या सुखी हैं; यही देखते हैं कि उनकी शक्ति बढ़ गयी है। ऊँच-नीच की अकेली पहचान यह है कि किसी व्यक्ति में कितनी शक्ति है। कोयले ने हीरे से कहा—'मेरे भाई! हम दोनों एक ही तत्त्व (कार्बन) हैं; तुम इतने कठोर क्यों हो?' हीरे ने कहा—'मेरे भाई! हम दोनों एक ही तत्त्व हैं; तुम इतने कोमल क्यों हो?'

शक्ति प्राप्त करो; इसे बढ़ाते जाने का यत्न करो।

7. शोषण

नीत्शे ने डार्विन के जीवन-संघर्ष के तत्त्व को समझा, और इनके परिणामों को डार्विन और स्पेन्सर की अपेक्षा अधिक उदारता से स्वीकार किया। संघर्ष का इतना महत्त्व है, तो जीवन का उद्देश्य जीवन का कायम रखना नहीं, जीवन को सशक्त बनाना है। जातियों की हालत में प्रत्येक जाति का काम आगे बढ़ना है, और जो भी रुकावट मार्ग में आये, ठोकर लगाकर परे कर देना है। दुनिया में निर्बलों का भला भी इसी में है कि बलवानों को अधिक बलवान बनने में सहायता दें। भेड़ चिल्लाती है—'हाय, शेर मुझे खा जायगा।' 'मूर्ख भेड़! इससे बढ़कर तेरा भाग्य क्या हो सकता है कि तू शीघ्र ही शेर के शरीर का अंश बन जायगी?'

जीवन में छोटा-सा क्षेत्र, परन्तु महत्त्व का क्षेत्र, परिवार है। यह पुरुष और स्त्री के संयोग का फल है। नीत्शे शापनहावर की तरह आयु भर कुँवारा रहा।

शापनहावर को उसकी माँ के दुराचरण ने स्त्रियों के इतना विरुद्ध कर दिया कि उसे विवाह का ख्याल ही नहीं आ सकता था। वह यह नहीं समझ सका कि 'छोटे कद की, दोषयुक्त बनावट की' स्त्री को सुन्दरी कैसे कह सकते हैं। नीत्शे ने एक बार विवाहित होने का यत्न किया परन्तु दूसरी ओर उसने उसमें कोई आकर्षण न देखा। ऐसा पुरुष स्त्रियों की बावत जो कुछ कहे, उसकी कीमत के विषय में मतभेद होना स्वाभाविक ही है। परन्तु वह कहता क्या है ? सुनिये :

'स्त्री में सब कुछ एक पहेली है, और सब कुछ का उद्देश्य एक ही है—सन्तान उत्पन्न करना।

पुरुष स्त्री के लिए साधन है; उद्देश्य सदा बच्चा है। परन्तु स्त्री पुरुष के लिए क्या है ?

सच्चा पुरुष दो चीजों की चेष्टा करता है—खतरा और खेल। इसलिए वह स्त्री को सब से अधिक भयंकर क्रीड़ा-वस्तु के रूप में चाहता है।

पुरुष को युद्ध के लिए दीक्षित होना चाहिये; और स्त्री को योद्धा के मनोरञ्जन के लिए; शेष सब कुछ मूर्खता है।'

यहाँ भी शक्ति-सिद्धान्त ही विद्यमान है। आरम्भ से अन्त तक, प्रतिष्ठा का आधार शक्ति ही है। शोषण, अर्थात् निर्बलों का अपने अर्थ के लिए प्रयोग करना, उन्नति का आवश्यक साधन है।

8. कुछ वचन

नीत्शे ने कहा—'मैं केवल ऐसी पुस्तक पढ़ना चाहता हूँ जिसे लेखक ने अपने रक्त से लिखा हो।' स्वयं नीत्शे ने अपने रक्त से लिखा। जैसा उसने एक पत्र में लिखा, वह डेस्क पर काम करने के अयोग्य था; बहुधा चलते-चलते कागज के टुकड़े पर लिख देता था और फिर उसकी प्रतिलिपि ले ली जाती थी। उसकी प्रमुख पुस्तकें सूक्तियों के रूप में हैं। इसका लाभ यह है कि पढ़नेवाला एक पृष्ठ पढ़े, तो भी उसे नीत्शे का परिचय हो जाता है। नीचे 'जरतुश्त' और 'शक्ति की आकांक्षा' से कुछ सूक्तियाँ नमूने के तौर पर दी जाती हैं—

1. 'महान् आत्माओं के लिए स्वाधीन जीवन अब भी स्वाधीन जीवन ही है। उनके पास बहुत थोड़ी सम्पत्ति होती है, परन्तु उनपर दूसरों का प्रभाव इससे भी थोड़ा होता है। सीमित, हल्की गरीबी की जय हो !'

2. 'बहुत-सी घटनाएँ मेरे सम्मुख अकड़ी हुई आयीं, परन्तु मेरी दृढ़ता ने उनसे भी अधिक अकड़ कर उनसे बात की। तब वे घटनाएँ अपने घुटनों पर झुक गयीं।'

3. 'जो पुरुष उड़ना सीखना चाहता है, उसे पहले खड़ा होना, चलना, दौड़ना, पर्वतों पर चढ़ना और नाचना सीखना चाहिये। उड़ना सीखने की विधि यह नहीं कि मनुष्य आरम्भ से ही पर मारने लगे।'

4. भिखारी ने जरतुश्त से कहा—'इन गौओं ने कमाल कर दिया है; इन्होंने जुगाली करना और धूप सेंकना दो बड़े आविष्कार किये हैं। सोच-विचार के क्लेश से भी, जिनके कारण हृदय के आसपास उफारा हो जाता है, ये अलग रहती हैं।'

जरतुश्त ने कहा—'चुप रहो। मेरे जन्तुओं, उकात्र और साँप, को भी देखो। आज इनका सादृश्य पृथ्वी पर नहीं मिलता।'

5. 'जब कभी मैंने अपना मार्ग दूसरों से पूछा है, तो अपनी इच्छा के प्रतिकूल, किया है—ऐसा करना मेरे स्वभाव के अनुकूल नहीं। मैंने आप अपने लिए मार्गों की खोज और उनकी जाँच की है। मेरी सारी यात्रा खोज और परीक्षण ही रही है।

'मैं अब दैवयोग के प्रभाव से परे हो गया हूँ।'

6. 'भय से भरा जीवन व्यतीत करो। अपने नगरों को विसूवियस पर्वत की कक्षा में बनाओ। जहाज उन समुद्रों में भेजो, जिनकी खोज अभी नहीं हुई। युद्ध के लिए तैयारी करो।'

7. 'शिखर पर टिके रहने के लिए, जितनी रुकावट पर विजय पाने की आवश्यकता है, वह व्यक्तियों और समाजों की स्वाधीनता का मापक है। स्वाधीनता का अर्थ भावनात्मक शक्ति या शक्ति की आकांक्षा ही है।'

8. 'सशक्त बनने का तरीका क्या है ?'

निश्चय करने में उतावली न की जाय; और जब निश्चय कर लिया जाय, तो उसपर दृढ़ता से जमे रहें। शेष सब कुछ आप ही हो जाता है। उत्तेजना में काम करना और निश्चय पर कायम न रहना निर्बलों के चिह्न हैं।'

9. 'पृथ्वी पर जितना क्लिष्ट जीवन मनुष्य का जीवन है, उतना किसी अन्य प्राणी का नहीं। इसीलिए उसने अपने लिए हँसने का आविष्कार किया है।'

10. 'जिस किसी वस्तु की बाजारी कीमत है, उसकी कुछ कीमत नहीं।'

11. 'बहुत से लोग मरना नहीं जानते, क्योंकि उन्हें जीना नहीं आता।'

■

सोलहवाँ परिच्छेद

हर्बर्ट स्पेन्सर

1. व्यक्तित्व

ह्यूम के बाद हम इङ्गलैण्ड से जर्मनी पहुँचे थे। 19वीं शताब्दी में हम फिर इङ्गलैण्ड की ओर लौटते हैं। पिछली शताब्दी के इंगलैण्ड ने दर्शनशास्त्र को सब से बड़ा अंश विकासवाद के रूप में दिया। विकासवाद के सम्बन्ध में दो नाम प्रमुख हैं—चार्ल्स डार्विन और हर्बर्ट स्पेन्सर। डार्विन वैज्ञानिक था और उसने अपनी खोज प्राणिविद्या तक सीमित रखी; स्पेन्सर दार्शनिक था और उसने सारे विश्व को, अव्यक्त प्रकृति से लेकर मानव समाज तक, अपने अनुसन्धान का विषय वनाया।

हर्बर्ट स्पेन्सर (1820–1903) डर्बी में पैदा हुआ। उसका पिता और चचा दोनों अध्यापन का काम करते थे। इसपर भी स्पेन्सर ने केवल तीन वर्ष चचा के पास विधिवत् शिक्षा प्राप्त की। नवीन काल में, जैसा हम देख चुके हैं, दार्शनिक विवेचन यूनिवर्सिटी के प्रोफेसरों के हाथ में चला गया था। कांट, फ़ीख़टे, हेगल, नीत्शे सभी प्रोफेसर थे; शापनहावर ने भी यूनिवर्सिटी में काम आरम्भ किया, परन्तु अपने स्वभाव के कारण अधिक देर ठहर न सका। स्पेन्सर की स्थिति भिन्न थी; वह आप कहता है कि 40 वर्ष तक उसका जीवन मिश्रित जीवन था—जो कुछ कहीं से मिला, ले लिया। 37 वर्ष की उम्र में उसने अपना जीवनकार्य निश्चित किया और फिर 40 वर्ष तक उसी में लगा रहा। इसका परिणाम 'समन्वयात्मक दर्शन' के 8000 पृष्ठों के रूप में विद्यमान है।

स्पेन्सर ने यह काम वहुत कठिनाई में सम्पन्न किया। 35 वर्ष की उम्र में ही वह अपना स्वास्थ्य खो बैठा। दिन के समय शोर से बचने के लिए उसे कान बन्द करने पड़ते; रात को सोने के लिए अफीम खानी पड़ती। पहली बड़ी

पुस्तक का अच्छा भाग नाव में लिखा गया। स्पेन्सर 5 मिनट चप्पू चलाता और 15 मिनट लेखक को लिखवाता। अन्तिम वर्षों में तो एक साथ 10 मिनट से अधिक और दिन में 50 मिनट से अधिक लिखवाना असम्भव हो गया। वह निर्धन था। पुस्तक के प्रकाशन में बड़ी कठिताई थी; अमेरिका में कुछ विद्याप्रेमियों ने प्रबन्ध करके काम के बीच में ही बन्द हो जाने को रोक दिया। स्पेन्सर का तारा खूब चमका; परन्तु जीवन में ही स्पेन्सर ने इसे डूबते भी देख लिया।

स्पेन्सर को स्वाधीनता का प्रेम अपने पिता और चचा से मिला। उसके पिता ने कभी किसी पुरुष के सामने टोपी नहीं उठायी। अन्य विचारकों के प्रति स्पेन्सर की भावना भी इसी प्रकार की थी। उसने प्राणि-विद्या, मनोविज्ञान, समाजविद्या, नीति पर लिखा, परन्तु प्रत्येक विषय पर एक-दो पुस्तकों का पढ़ना पर्याप्त समझा। प्राचीन विचारकों के लिए भी उसके मन में श्रद्धा न थी। उसे कला और कविता में कोई दिलचस्पी न थी। वह अपने समय के वैज्ञानिक रंग में रँगा हुआ था। कुछ लोगों की सम्मति में तो वह अपने काल का सबसे अच्छा चित्र है। यह कथन समझने के लिए हमें उस समय की स्थिति पर दृष्टि डालने की आवश्यकता है।

2. सांस्कृतिक स्थिति

(1) धर्म और विज्ञान का भेद तीव्र हो रहा था; डार्विन के सिद्धान्त ने इसे और तीव्र कर दिया। प्राकृतिक नियम की व्यापकता विज्ञान का मौलिक सिद्धान्त था; चमत्करण के रूप में दैवी दखल ईसाई विश्वास का आवश्यक अंश था।

(2) विकास में प्रगति का प्रत्यय निहित है; परिवर्तन में स्थिति बेहतर होती जाती है। स्पेन्सर भी आशावादी था। मैल्थस की पुस्तक ने सन्देह पैदा कर दिया—खाद्य पदार्थों की अपेक्षा मनुष्यों की संख्या अधिक वेग से बढ़ रही है, और भूखों मरना अनिवार्य है।

(3) अर्थशास्त्र में श्रमविभाजन के विचार ने विशेष महत्त्व प्राप्त कर लिया था।

(4) व्यक्ति की स्वाधीनता और समाज के अधिकार का प्रश्न एक सजीव

प्रश्न बन गया था। हर एक के लिए व्यक्तिवाद और समाजवाद में चुनने का समय आ गया था।

स्पेन्सर के लिए आवश्यक था कि अपने सिद्धान्त की व्याख्या में इन सब प्रश्नों पर कहे और अपना विकास-सूत्र हर एक क्षेत्र में लागू करके दिखाये। स्पेन्सर ने ऐसा करने का यत्न किया।

3. स्पेन्सर का मत

स्पेन्सर के अनुसार हमारा ज्ञान तीन स्तरों पर होता है। सबसे निचले स्तर पर वह ज्ञान है जिसमें ज्ञात तथ्यों में कोई सम्बन्ध नहीं होता। इससे ऊपर के स्तर पर वह ज्ञान है जिसमें ज्ञात तथ्य व्यवस्था में गठित होते हैं, परन्तु वे एक सीमित क्षेत्र से सम्बन्ध रखते हैं। ऐसे ज्ञान को विज्ञान कहते हैं। रसायन-विद्या एक विशेष प्रकार के तथ्यों को गठित करती है; मनोविज्ञान एक अन्य प्रकार के तथ्यों को गठित करता है। तीसरे और सबसे ऊँचे स्तर पर यह रोक नहीं रहती—सारा ज्ञान एक लड़ी में पिरोया जाता है। इसे दर्शन कहते हैं। स्पेन्सर ऐसे सूत्र की खोज में था, जो समस्त ज्ञान को संघटित कर सके। ऐसा सूत्र उसने विकासवाद में देखा।

उसने 'मौलिक नियम' में विकासवाद के रूप को व्यक्त किया, और 9 जिल्दों में इसे प्राणिविद्या, मनोविज्ञान, समाजशास्त्र और नीति के क्षेत्रों में लागू किया। 'मौलिक नियम' ने शिक्षित समाज के विचारों में बड़ा परिवर्तन कर दिया। कई विदेशी भाषाओं में इसका भाषान्तर हुआ; यह आक्सफोर्ड में पढ़ायी जाने लगी; और इसने स्पेन्सर को इंग्लैंड में 19वीं शताब्दी का प्रथम दार्शनिक बना दिया। स्पेन्सर के ग्रन्थों में यह सबसे अधिक स्थायी मूल्य की चीज है।

4. 'मौलिक नियम'

'मौलिक नियम' के दो भाग हैं :

अज्ञेय या ज्ञानातीत,

ज्ञेय।

पहले भाग का उद्देश्य धर्म और विज्ञान का विरोध दूर करना और उनके सम्मिलित मूल को स्पष्ट करना है। दूसरे भाग में निम्नलिखित विषयों पर लिखा है—

विज्ञान की मूल धारणाएँ, विकास का स्वरूप, विकास का समाधान। इसी क्रम में हम इन चारों विषयों को लेंगे।

(क) धर्म और विज्ञान का मेल

स्पेन्सर पुस्तक का आरम्भ करते हुए कहता है 'हम अकसर भूल जाते हैं कि न केवल बुराई में भलाई का तत्त्व विद्यमान होता है, अपितु असत्य में भी प्रायः सत्य का अंश मिला होता है।' मनुष्य के कुछ विश्वास सर्वथा असत्य प्रतीत होते हैं, परन्तु ध्यान से देखें, तो पता लगेगा कि आरम्भ में उनमें सत्य का अंश विद्यमान था, और शायद अब भी विद्यमान है। किसी विशेष विषय के सम्बन्ध में जो विविध विचार प्रचलित हैं या प्रचलित रहे हैं, उन सबको एक साथ देखने पर हम उनकी मिली-जुली नींव को देख सकते हैं। धार्मिक विश्वासों को ऐसे परीक्षण का विषय बनायें, तो पता लगेगा कि ये सब एक गुप्त, अस्पष्ट रहस्य पर आधारित हैं। ये ऐसी सत्ता की ओर संकेत करते हैं जिसके अस्तित्व की बावत सन्देह नहीं हो सकता, परन्तु जिसके स्वरूप का जानना हमारी पहुँच से बाहर है। सारे धर्म ऐसी सत्ता को मानने में सहमत हैं; उनमें भेद तब प्रकट हो जाता है, जब वे इस सत्ता को निश्चित रूप देने का यत्न करते हैं। सारे विवाद का कारण यह मिथ्या धारणा है कि हम अन्तिम सत्ता को कोई भी निश्चित रूप दे सकते हैं। धर्म को बचान का उपाय यही है कि हम अन्तिम सत्ता को अज्ञेय समझ लें—अज्ञात नहीं, अज्ञेय। ज़ो कुछ आज अज्ञात है, वह कल जाना जा सकता है; परन्तु जो अज्ञेय है, वह प्रकटनों की दुनिया से परे होने के कारण जाना ही नहीं जा सकता।

विज्ञान प्रकटनों की दुनिया तक अपने आपको सीमित करता है; परन्तु यह दृष्ट दुनिया भी अपना समाधान आप नहीं कर सकती—यह अपने से परे अदृष्ट की ओर संकेत करती है। विज्ञान में मौलिक प्रत्यय देश, काल, प्रकृति, गति, और शक्ति हैं। इनमें से किसके तत्त्व की बावत हमें स्पष्ट ज्ञान है? देश और काल मानसिक अवस्थाएँ हैं, या इनका वस्तुगत अस्तित्व है? हम इन्हें कैसे जानते हैं? हमें किसी पदार्थ का ज्ञान उसके गुणों से होता है, अर्थात् उस प्रभाव से जो वह हमारी चेतना पर डालता है। देश में पदार्थ भरे पड़े हैं; काल में घटनाएँ होती हैं। पदार्थों और घटनाओं के गुण तो हैं; देश और काल का अपना कोई गुण नहीं। जो कुछ हम जानते हैं, उसकी सीमा होती है। देश और काल को सीमित

समझें, तब कठिनाइयाँ खड़ी हो जाती हैं; इन्हें निस्सीम कल्पना करें, तो भी कठिनाइयाँ खड़ी हो जाती हैं। यही अवस्था अन्य प्रत्ययों की है। हम अपना काम चलाने के लिए इनका प्रयोग करते हैं, परन्तु विश्लेषण इनके तत्त्व को अचिन्तनीय दिखाता है। जिस परिणाम पर हम धर्म के विवेचन में पहुँचे थे, उसी परिणाम पर विज्ञान के मौलिक प्रत्ययों के विश्लेषण में पहुँचते हैं। विज्ञान दृष्ट से परे नहीं जाता; परन्तु दृष्ट अदृष्ट की ओर अनिवार्य संकेत करता है। प्रकटन किसी अप्रकट सत्ता का प्रकटन हो सकता है। वह सत्ता आज ही अप्रकट नहीं, सदा अप्रकट रहेगी। यह उसका तत्त्व है। विज्ञान का अन्तिम शब्द भी, धर्म की तरह, गुप्त अस्पष्ट रहस्य है। दोनों का आधार एक ही है। दोनों इसे अनुभव कर लें, तो विवाद और विरोध का अवकाश ही नहीं रहता।

यह स्पेन्सर के विचार में धर्म और विज्ञान का मेल है। मेल करानेवालों का काम कठिन होता है। स्पेन्सर के समाधान को पादरियों ने आघात के रूप में देखा। आस्तिक समझता है कि वह परमात्मा के स्वरूप की बाबत जान सकता है, और परमात्मा उसे प्रकाश दे सकता है। यदि परमात्मा सर्वथा अज्ञेय है और हम उसकी सत्ता को भी अपनी मानसिक बनावट से मजबूर होकर मानते हैं, तो ऐसा बोध जीवन के व्यापार में सहायता नहीं दे सकता। वैज्ञानिक अपने आपको प्रकटनों की दुनिया तक सीमित रखते हैं। उन्हें ऐसे निरपेक्ष में कोई दिलचस्पी नहीं, जो प्रकटनों से परे है, और जिसकी बाबत कुछ जानना हमारी पहुँच से बाहर है। स्पेन्सर के समाधान से धर्म और विज्ञान का विवाद समाप्त न हुआ; विकासवाद ने उसे और तीव्र कर दिया।

अब हम ज्ञेय की ओर चलते हैं :

(ख) विज्ञान की सामान्य धारणाएँ

विज्ञान की प्रत्येक शाखा किसी विशेष क्षेत्र के तथ्यों को संग्रथित करती है; अन्य क्षेत्रों के तथ्यों की ओर उदासीन रहती है। रेखागणित को खाद्य पदार्थों के उत्पादन से कोई काम नहीं; अर्थशास्त्र इस बात की बाबत नहीं सोचता कि त्रिभुज का क्षेत्रफल कैसे जान सकते हैं। 'विशेष क्षेत्र' और 'अन्य-क्षेत्र'—इन शब्दों का प्रयोग फर्ज कर लेता है कि तथ्यों में समानता और असमानता है, और हमें इसका बोध होता है। अनुभव के प्रत्यय में ही यह बोध निहित है। स्पेन्सर के विचार में,

दर्शनशास्त्र का काम विज्ञान की शाखाओं को संग्रथित करना है। परन्तु क्या ऐसे संग्रन्थन की संभावना भी है ? विज्ञान की प्रत्येक शाखा कुछ मौलिक धारणाओं पर आश्रित होती है। क्या कोई ऐसी धारणाएँ भी हैं, जिन्हें सारी शाखाएँ स्वीकार करती हैं ? यदि हैं, तो इनकी स्थिति दार्शनिक धारणाओं की है। स्पेन्सर के विचार में ऐसी व्यापक धारणाएँ विद्यमान हैं। वह निम्नलिखित धारणाओं का वर्णन करता है—

(1) 'प्रकृति अनश्वर है।'

हम यह नहीं कह सकते कि प्रकृति कैसे विद्यमान हो गयी; परन्तु यह विद्यमान है और विज्ञान कहता है कि इसका विनाश नहीं होता। साधारण मनुष्य अपने व्यवहार में प्रकृति को अनश्वर मानता है। वह बाजार से दो गज कपड़ा लाता है, पाँच सेर लोहा लाता है; घर पहुँचने पर भी वह उन्हें उतनी मात्रा में ही पाता है। वैज्ञानिक, विश्व की प्रकृति की बाबत भी यही मानते हैं; उनके सारे निरीक्षण इसी विश्वास पर आधारित होते हैं।

(2) 'गति की निरन्तरता'

प्राकृत जगत् के पदार्थ या तो कहीं टिके होते हैं या गति में होते हैं। स्थिति का परिवर्तन अपने आप नहीं होता; यह किसी बाह्य प्रभाव का फल होता है। न्यूटन ने गति के प्रथम नियम को यों बयान किया है—

'प्रत्येक पदार्थ के लिए आवश्यक है कि वह अपनी स्थिरता की अवस्था या सीधी रेखा में अभिन्न गति को कायम रखे, सिवाय उस हालत के जब कोई बाहर की शक्तियाँ उसे अपनी स्थिति बदलने के लिए बाध्य कर दें।'

वास्तविक जगत् में यह नियम कहीं लगता दिखाई नहीं देता, क्योंकि बाह्य शक्तियाँ सदा अपना प्रभाव डालती ही रहती हैं। इस पर भी विज्ञान की सभी शाखाएँ इसे सत्य स्वीकार करती हैं।

(3) 'शक्ति की स्थिरता'

हम गति को देखते हैं। यह शक्ति का प्रकाशन है। शक्ति अपना रूप बदलती है, परन्तु इसका अभाव नही होता। यह प्रकट भी होती है और अप्रकट

भी । हमें इसका बोध कैसे होता है ? मैं कुर्सी पर बैठा हूँ; कुर्सी मेरे बोझ को उठाये रखती है, और मुझे गिरने नहीं देती । मैं दीवार में से गुजर कर बाहर जाना चाहता हूँ; दीवार इसपर राजी नहीं होती । प्रत्येक प्राकृत पदार्थ शक्ति का संचय है, और वह शक्ति विरोध या रुकावट के रूप में व्यक्त होती है । मैं भी बाहर के दबाव का मुकाबला करने के लिए शक्ति का प्रयोग करता हूँ । शक्ति का स्पष्ट बोध हमें आक्रमण करने या आक्रान्त होने पर होता है ।

शक्ति अपने रूप बदलती है—गर्मी, प्रकाश, बिजली आदि एक दूसरे के रूप में परिणत होते हैं । विज्ञान की धारणा है कि इस परिवर्तन में शक्ति की मात्रा घटती-बढ़ती नहीं, स्थिर रहती है ।

(4) 'शक्तियों का परिवर्तन और उनकी बराबरी'

शक्ति के रूप-परिवर्तन को कारण-कार्य सम्बन्ध का नाम दिया जाता है । इन दोनों में शक्ति की मात्रा पहले सी बनी रहती है । गर्मी में पानी भाप बनता है; वायु उसे उड़ाकर अन्य स्थानों में ले जाती है; सर्द स्थानों में पहुँच कर भाप फिर पानी के कतरे बनती है । वर्षा होती है, और पानी फिर आकर्षण के अधीन समुद्र में जा पहुँचता है । यह सब शक्ति-परिवर्तन का परिणाम है; परन्तु इस सारे खेल में जो शक्ति एक रूप में लुप्त होती है, वही दूसरे रूप में व्यक्त हो जाती है ।

मिश्रित पदार्थों का बनना और टूटना, फिर बनना और फिर टूटना, यह हर कहीं और सदा होता ही रहता है । सीमित पदार्थों की हालत में तो हम इसे देखते ही हैं; स्पेन्सर के विचार में समस्त जगत् की बाबत भी यह होता है । सृष्टि के बाद प्रलय, प्रलय के बाद सृष्टि । नीत्शे ने भी कहा कि काल की गति चक्कर काटती है; चलने का स्थान ही गन्तव्य भी है; और फिर चक्कर लगने लगता है ।

(ग) विज्ञान का नियम

परिवर्तन संसार का तत्त्व है । इस परिवर्तन में प्रकृति और शक्ति का नया विभाजन होता है । हम वनस्पति, वृक्षों, फूलों, फलों को अनेक रूपों में देखते हैं; पशु-पक्षियों को भी अनेक रूपों में देखते हैं । डार्विन ने यह बताने का यत्न

किया कि यह विविधता अनादि नहीं, विकास का फल है। स्पेन्सर ने सजीव पदार्थों की विविधता को नहीं, व्यापक विविधता को भी समझने का यत्न किया। उसने विश्व के समस्त विकास-क्रम का सूत्र प्रस्तुत किया। स्पेन्सर के विचार में परिवर्तन एक नियम के अनुकूल होता रहा है, और उसी नियम के अनुकूल अब भी हो रहा है। इस धारणा को स्वीकार करें, तो खोज का काम सुगम हो जाता है। हम किसी वृक्ष की वर्तमान स्थिति को देखकर कह देते हैं कि यह 510 वर्ष का वृक्ष है; पहाड़ी को देखकर कहते हैं कि कोई विशेष परिवर्तन इसमें कब हुआ। विकासक्रम समझने के लिए हम मनुष्य शरीर को देखें।

मनुष्य का शरीर एक घटक से आरम्भ होता है। इस घटक में रज और वीर्य का संयोग हो चुका है। यह घटक विभक्त होती है और इसकी दो घटकें बनती हैं; दो से चार, चार से आठ। बच्चे के जन्म तक करोड़ों की संख्या हो जाती है। संख्या ही नहीं बढ़ती, गुण-भेद होने के कारण विविधता भी प्रकट हो जाती है। आँख बनानेवाली घटकें एक प्रकार की क्रिया करती हैं; नासिका बनानेवाली घटकें दूसरे प्रकार की क्रिया करती हैं। परन्तु इस बनावट और व्यवहार के भेद के होते हुए भी आँख और नासिका एक ही शरीर के अंग हैं, और उसके कल्याण के लिए एक दूसरे से सहयोग करती हैं। समानता से असमानता प्रकट होती है, और असमानता में एक नये प्रकार की एकता व्यक्त होती है। जीवन इसी दोहरे व्यवहार का नाम है। यही व्यवहार हर कहीं और हर स्तर पर विकास का चिह्न है।

प्राकृतिक जगत् में इस समय हम चकित करनेवाला नानात्व देखते हैं। यह सब विकास का फल है। आरम्भ में प्रकृति भेदरहित एकरूप थी। यह एकरूपता टूटी, और अनेकता और विविधता ने उसका स्थान ले लिया।

जड़ प्रकृति आरम्भ में पतली थी, इसमें घनापन बहुत थोड़ा था, इसकी आकृति भी अनिश्चित थी। विकास में बिखरे हुए अणु केन्द्रित हुए, और इस एकाग्रता के साथ आकार की निश्चितता भी आयी। इस परिवर्तन के साथ एक और महत्त्वपूर्ण परिवर्तन यह हुआ कि गति या एनर्जी बिखर गयी। प्रकृति का एकाग्र होना और एनर्जी का बिखरना एक साथ चले, और प्रकृति का बिखरना और एनर्जी का केन्द्रित होना एक साथ चले। इसका एक सरल उदाहरण हम मेघ में देख सकते हैं। मेघ अभी एक परिमाण और आकृति का है। गर्मी के प्रभाव से

यह फैलता है और अदृष्ट भी हो जाता है। यहाँ एनर्जी केन्द्रित हुई है और इसके साथ परिमाण में वृद्धि हुई है। वही मेघ ठंडे पहाड़ पर से गुजरता है; अपनी गर्मी से वंचित हो जाता है, और भाप सिकुड़ कर पानी के कतरे बन जाती है। प्रकृति का एकाग्र होना और गर्मी का बिखरना, प्रकृति और गति का नया विभाजन, प्राकृतिक विकास में मौलिक परिवर्तन है। इसके साथ विचित्रता आती है, निश्चितता आती है, और व्यवस्था आती है।

ऊँचे स्तरों पर भी हम इस नियम के अनेक प्रकाशन देखते हैं। मनुष्य शरीर की बावत तो हम देख ही चुके हैं कि इसके विविध अंग हैं; वे एक दूसरे से बनावट और क्रिया में भिन्न हैं तथा अपना-अपना निश्चित स्वरूप रखते हैं; और सभी मिलकर काम करते हैं। समाज की अवस्था में भी हम यही देखते हैं। आरम्भ में मनुष्य छोटे-छोटे समूहों में रहते हैं; ये समूह मिलकर बड़े समूह बनाते हैं, और अन्त में जातियाँ बनती हैं। इस संघ का फल यह होता है कि आवश्यक-ताओं को पूरा करने के लिए श्रम-विभाजन होता है—कुछ लोग अनाज उगाते हैं, कुछ इसे पीसते हैं, कुछ रोटी पकाते हैं, और कुछ इसे बेचते ही हैं। अनाज पैदा करनेवाले की अन्य आवश्यकताएँ अन्य लोग पूरी करते हैं। यहाँ मनुष्यों का मिलकर रहना प्रथम परिवर्तन है; इसके साथ कर्म की विभिन्नता आती है; कर्म उपयोगी होने लगता है और मनुष्य एक संघटित समाज बन जाते हैं।

इस व्याख्या के वाद, हम स्पेन्सर के विकास-सूत्र को समझ सकते हैं। स्पेन्सर इसे यों वयान करता है—

'विकास प्रकृति का केन्द्रित होना, और इसके साथ गति का बिखरना है। इस परिवर्तन में प्रकृति अनिश्चित, अव्यवस्थित, एकता को छोड़कर. निश्चित, गठित विभि-न्नता को प्राप्त करती है; और जो गति इसमें टिकी रहती है, उसमें भी समानान्तर
परिवर्तन में प्रकृति अनिश्चित, अव्यवस्थित, एकता को छोड़कर, निश्चित, गठित विभि-न्नता को प्राप्त करती है; और जो गति इसमें टिकी रहती है, उसमें भी समानान्तर
परिवर्तन होता है।

(घ) विकास का समाधान

विकास में एकरूपता का स्थान अनेकरूपता लेती है। स्पेन्सर ने अपनी व्याख्या में बताया है कि यह परिवर्तन कैसे होता है; यह नहीं बताया कि परिवर्तन का आरम्भ

ही क्यों होता है। विकास-क्रम का वर्णन विज्ञान का काम है; दर्शन का विशेष अनुराग समाधान में है। विकास का आरम्भ ही क्यों हुआ ? विकासारम्भ से पहले की अवस्था क्यों कायम नहीं रही ? जो कारण पहले काम कर रहे थे, उनमें से कोई लुप्त हो गया, या कोई नया कारण प्रस्तुत हो गया ?

स्पेन्सर इस सम्बन्ध में तीन बातों की ओर संकेत करता है—

(1) एकरूप प्रकृति में ही एकरूपता टूटने का कारण मौजूद है; यह स्थिर रह नहीं सकती।

(2) जो शक्ति मूल प्रकृति के विभिन्न भागों पर प्रभाव डालती है, वह आप भी विभिन्न शक्तियों में बँट जाती है।

(3) समान अणुओं में, असमान अणुओं से अलग होकर, अपने समान अणुओं से युक्त हो जाने की क्षमता है। सोने के परमाणु सोना बन जाते हैं; लोहे के लोहा। समाज-स्तर पर, एक पेशा के लोग एकत्र हो जाते हैं।

इनमें पहली धारणा अधिक महत्त्व की है। यह प्रश्न पहले भी एक से अधिक बार हमारे सम्मुख आ चुका है। गति का आरम्भ कैसे हुआ ?

अरस्तू ने इसके लिए प्रथम गतिदाता (परमात्मा) की शरण ली। परमाणुवादियों ने कहा कि सभी परमाणु भारी होने के कारण नीचे की ओर गिरते हैं। बड़े परमाणु, अधिक वेग से गिरने के कारण, छोटे परमाणुओं को आ पकड़ते हैं, और टक्कर से उनका मार्ग बदल देते हैं। इससे परिवर्तन आरम्भ होता है। पीछे उन्हें किसी तरह पता लगा कि शून्य में भारी और हलकी चीजें एक ही वेग से गिरती हैं। उन्होंने परमाणुओं को अपना मार्ग बदल लेने की कुछ क्षमता दे दी, और इस तरह प्राकृतिक नियम के अटल होने से इनकार कर दिया। स्पेन्सर के लिए वे दोनों द्वार बन्द थे। वह प्रथम गतिदाता को नहीं मानता था, और परमाणुओं को मौलिक, अव्यक्त स्वाधीनता देने के लिए भी तैयार न था। उसने कहा कि एकरूप प्रकृति की एकरूपता अस्थिर है; स्वयं उसमें इस अस्थिरता के टूटने का कारण मौजूद है। वह कहता है—

'एकरूप जोड़ की एकरूपता किसी बाहरी दबाव के कारण समाप्त नहीं होती;

इसके अंगभूत भाग अपने क्रम को स्थिरता में कायम नहीं रख सकते। उनके लिए आपसी सम्बन्धों का तुरन्त बदलना अनिवार्य होता है।'

इस कथन में 'तुरन्त' शब्द का विशेष महत्त्व है। स्पेन्सर का अभिप्राय यह प्रतीत होता है कि एकरूपता व्यक्त होते ही टूटने लगती है। ऐसी हालत में प्रश्न होता है कि एकरूपता व्यक्त काहे को हुई? आरम्भ ही विविधता से क्यों नहीं हुआ? स्पेन्सर का उद्देश्य विविधता का समाधान करना था। वह इसमें सफल नहीं हुआ। यदि 20 अंश एकरूप के इकट्ठे हों, तो यह समझ में नहीं आता कि यह स्थिति क्यों अवश्य बदलनी चाहिये?

5. प्राणिविद्या, मनोविज्ञान, नीति, और समाज-शास्त्र

'मौलिक नियम' में स्पेन्सर ने अपने सिद्धान्त की व्याख्या की है। शेष 9 जिल्दों में विकास नियम को प्राणिविद्या, मनोविज्ञान, नीति, और समाजशास्त्र के क्षेत्रों में लागू किया है। स्पेन्सर दार्शनिक था, वैज्ञानिक न था। प्राणिविद्या और मनोविज्ञान दोनों विज्ञान के भाग हैं, और स्पेन्सर के समय से बहुत आगे निकल गये हैं; आज स्पेन्सर के ग्रन्थों की कीमत बहुत कम है। नीति और समाज-शास्त्र में विवेचन का अंश प्रधान होता है। इसलिए इन विषयों पर उसके विचार महत्त्व रखते हैं।

आम ख्याल के अनुसार, नैतिक उन्नति नीति में उन्नति है; नैतिक भावना अधिक प्रबल हो जाती है। विकासवादी स्पेन्सर के अनुसार नीति अनैतिक दशा से उत्पन्न होती है। हम आचरण को मानव क्रिया तक सीमित करते हैं; स्पेन्सर पशु-पक्षियों की क्रिया को भी आचरण के अन्तर्गत ले आता है। स्पेन्सर की राय में जीवन का उद्देश्य स्वयं जीवन है—लम्बाई और चौड़ाई में। जो क्रिया जीवन को बढ़ावा देती है, वह शुभ है; जो इसे कम करती है, वह अशुभ है। स्पेन्सर जीवन की मात्रा की ओर ही देखता है; इसके गुण-दोष को नहीं देखता। हमारी नैतिक चेतना, जीवन की लम्बाई और चौड़ाई की अपेक्षा जीवन की गहराई को अधिक महत्त्व देती है।

स्वार्थवाद और सर्वार्थवाद के सम्बन्ध में स्पेन्सर ने कहा कि विकास आगे बढ़ता है; स्वार्थ और सर्वार्थ का विरोध कम हो रहा है, और अन्त में बिलकुल मिट जायगा।

तब व्यक्ति के लिए, दूसरों के कल्याण के निमित्त, यत्न करना उतना ही स्वाभाविक होगा, जितना अपने कल्याण के लिए करना होगा।

समाजशास्त्र के सम्बन्ध में स्पेन्सर विकासवाद और स्वाधीनता में चिर काल तक चुन नहीं सका; अन्त में स्वाधीनता ने उसे अपनी ओर खींच लिया। विकास व्यक्ति की परवाह नहीं करता, वर्ग की चिन्ता करता है। इस शेर या उस शेर का महत्त्व नहीं; शेर-वर्ग का महत्त्व है। इसी तरह मनुष्य जाति साध्य है, व्यक्ति तो साधन मात्र हैं। इसके विपरीत व्यक्तिवाद व्यक्ति को साध्य बताता है। शासन का काम उसकी स्वाधीनता को सुरक्षित रखना है। स्पेन्सर के विचारानुसार किसी अन्य उद्देश्य के लिए शासन का कर लेना अन्याय है। स्पेन्सर शासन को पुलिस-शासन तक सीमित रखना चाहता था। अन्य सारे काम जनता को आप सहयोग से करने चाहिये।

स्पेन्सर पुस्तकों की पाण्डुलिपि यन्त्रालय को आप जाकर देता था; डाक-विभाग की निपुणता पर उसे बहुत विश्वास न था। शासन निपुण हो, तो भी व्यक्ति की स्वाधीनता इस निपुणता से अधिक मूल्य रखती है।

■

सत्रहवाँ परिच्छेद

हेनरी बर्गसाँ

1. जीवन की झलक

नवीन दर्शन का जन्म फ्रांस में हुआ; रैने डेकार्ट इसका पिता माना जाता है। पिछले कुछ अध्यायों में हमने देखा है कि डेकार्ट के सिद्धान्त की आलोचना ने क्या क्या रूप धारण किये। ऐसा प्रतीत होता था कि तत्त्व-ज्ञान और ज्ञान-मीमांसा दोनों में जो कुछ कहा जा सकता था, वह कह दिया गया; और अब विचारकों के लिए टीका-टिप्पणी से अधिक कुछ रह नहीं गया। वर्गसाँ के काम ने इस आशंका को निर्मूल सिद्ध कर दिया। अब जब कि हम यूरोप के दर्शन के अन्त के निकट पहुँच रहे हैं, हमें फ्रांस फिर नवीन विवेचन के जन्मस्थान की ओर आवाहन करता है। वीसवीं शताब्दी के दार्शनिकों में वर्गसाँ का स्थान शिखर पर है।

हेनरी वर्गसाँ (1859–1941) पैरिस में पैदा हुआ, और उसने अपना 82 वर्ष का जीवन दो बराबर के भागों में, 19वीं और 20वीं शताब्दी में व्यतीत किया। यह भी कह सकते हैं कि उसके जीवन का प्रथमार्द्ध परिपक्व होने में लगा, और दूसरा भाग विचारों का प्रसार करने में। उसने 1881 में अपनी शिक्षा समाप्त की। आरम्भ में उसे गणित और विज्ञान में रुचि थी, परन्तु पीछे दर्शन-शास्त्र ने उसे मोहित कर लिया, और यही उसके अध्ययन का प्रमुख विषय बन गया। कालेज छोड़ने पर उसे एंगर्स, क्लर्मांट फैरंड, और पैरिस में दर्शन पढ़ाने का अवसर मिला। छात्रावस्था में वह हर्बर्ट स्पेन्सर का भक्त और प्रकृतिवाद का समर्थक था। अध्यापन के इन वर्षों में उसका दृष्टिकोण बदल गया और उसने एक नये समाधान को अपनाया। 1900 में वह 'फ्रान्सीय कॉलेज' में प्रोफेसर नियुक्त हुआ, और 40 वर्ष तक उसने वहीं काम किया। जब हिटलर ने यहूदियों को जर्मनी से निकाला, तो आइनस्टाइन और फ्रायड को भी अन्य देशों में आना

पड़ा। फ्रांस में शासन ने 1940 में आदेश दिया कि यहूदी प्रोफेसर विश्वविद्यालयों से अलग कर दिये जायँ। बर्गसाँ से कहा गया कि यह आदेश उस पर लागू नहीं होगा, परन्तु उसने इस अपमान में यहूदी प्रोफेसरों के साथ रहना ही पसन्द किया। एक वर्ष के बाद उसका देहान्त हो गया।

बर्गसाँ ने अनेक पुस्तकें लिखीं। पहली पुस्तक 'काल और स्वाधीनता' 1889 में प्रकाशित हुई। दूसरी पुस्तक 'प्रकृति और स्मृति' 1897 में प्रकाशित हुई। उसकी प्रमुख पुस्तक 'उत्पादक विकास' 1907 में प्रकाशित हुई, और इसने बर्गसाँ को यूरोप का प्रथम दार्शनिक वना दिया। स्पेन्सर ने जो कुछ लिखा था, एक ही विचार, विकासवाद, की व्याख्या में लिखा था। बर्गसाँ के ग्रन्थ एक मनुष्य की रचना थे, और इसलिए उनमें दृष्टिकोण की समानता स्वाभाविक थी; परन्तु ये ग्रन्थ स्वतन्त्र देदीप्यमान निवन्ध थे। उसकी लेखशैली अति रोचक थी। जब 1917 में उसे नोबेल पारितोषिक मिला, तो यह साहित्य सेवा के लिए मिला।

2. नया दृष्टिकोण

प्लेटो ने कहा था कि स्थिर सत्ता प्रत्ययों की दुनिया है; संसार अस्थिरता का रूप है। प्रत्यय असल हैं; विशेष पदार्थ उसकी दोषयुक्त नकलें हैं। दर्शनशास्त्र का काम प्रत्ययों के यथार्थ रूप का पहचानना है। संसार के किसी अंश की बाबत जो कुछ कोई मनुष्य जान सकता है, वह उसकी निजी राय है। यह द्विधाभाव दार्शनिक विवेचन से चिमटा रहा है। दार्शनिकों ने स्थिर सत्ता को अपने विवेचन का विषय बनाया है, और अस्थिर जगत् को अपने विचार का पात्र नहीं समझा। हम सब रहते तो अस्थिर जगत् में हैं; इस जगत् ने विज्ञान को आकृष्ट किया। दार्शनिकों ने परिवर्तनशील जगत् को गौण स्थान दिया था; वैज्ञानिकों ने प्रत्ययों के स्वतन्त्र जगत् को अस्वीकार ही कर दिया। नवीन काल में जब विज्ञान चमका, तो इसके मुकाबले में दर्शन की प्रतिष्ठा कम होने लगी। फ्रांस में आगस्ट काम्ट ने कहा कि दर्शनशास्त्र का युग बीत चुका है; हर्बर्ट स्पेन्सर ने वैज्ञानिक दर्शन का चित्र तैयार किया। 19वीं शताब्दी से पहले विज्ञान भौतिक विज्ञान के अर्थों में ही लिया जाता था; और भौतिक विज्ञान यंत्र-विद्या का पर्यायवाची समझा जाता था। समाज के जीवन में यंत्रों ने प्रमुख स्थान प्राप्त कर लिया। इसके फलस्वरूप वैज्ञानिकों ने विश्व को और मनुष्य को भी, यंत्र के रूप में देखना आरम्भ

किया। प्राकृतिक नियम का राज्य व्यापक है; कोई वस्तु भी ऐसी नहीं जो इस नियम से बाधित न हो।

डेकार्ट ने पुरुष और प्रकृति का स्वतन्त्र अस्तित्व माना था; उसके पीछे इन दोनों में रस्सा खींचने का खेल होता रहा। नवीन काल में प्राणिविद्या एक नयी और स्वतन्त्र विद्या के रूप में प्रस्तुत हुई। यदि सारी सत्ता पुरुष और (या) प्रकृति की है, तो जीवन का स्थान कहाँ है? जो लोग द्वैतवाद से सन्तुष्ट थे, उनमें से किसी ने इसे नीचे खींच कर प्रकृति के साथ रख दिया; किसी ने ऊपर खींच कर पुरुष के पास पहुँचा दिया।

एक और परिवर्तन नवीन काल में यह हुआ कि विकास का प्रत्यय बौद्धिक आकाश पर छा गया। स्पेन्सर ने अपने सिद्धान्त को 'समन्वयात्मक दर्शन' का नाम दिया; परन्तु वह इसे 'विकासवाद' का सरल नाम भी दे सकता था। विकास का तत्त्व 'नियत दिशा में, निरन्तर गति' है। स्पेन्सर की पुस्तकों पर एक चित्र अंकित होता था—एक चट्टान से वृक्ष निकलता है और उस पर एक तितली बैठी है। अच्छा तो यह होता कि तितली को वृक्ष पर बिठाने के स्थान में इसे वृक्ष से निकाला जाता। स्पेन्सर का मत तो यही है कि प्रकृति ही अकेली सत्ता है और इसके परिवर्तित होने पर जीवन और पीछे चेतना व्यक्त हो जाती हैं। बर्गसाँ ने भी सत्ता को प्रकृति, जीवन और चेतना की तीन तहों में देखा, परन्तु प्रकृति को प्रथमता नहीं दी। उसके विचारानुसार, संसार में प्रमुख पद जीवन का है; जीवन की क्रिया ही समग्र विकास है। 'उत्पादक विकास' इस विचार की व्याख्या ही है।

3. 'काल और स्वाधीनता'

बर्गसाँ ने यह पुस्तक 30 वर्ष की उम्र में लिखी, और कुछ आलोचकों की राय में यह उसकी सबसे अच्छी पुस्तक है। इसमें बर्गसाँ ने देश और काल का भेद प्रकट किया है और अनिवार्यवाद को अमान्य सिद्ध करने का यत्न किया है।

देश और काल का सम्बन्ध घनिष्ठ है। आम तौर पर हम इनमें से एक की जाँच दूसरे की सहायता से करते हैं। कोई हमसे दो स्थानों का अन्तर पूछता है, तो हम कह देते हैं—'एक घंटा समझो।' एक घंटे से अभिप्राय वह समय है, जिसमें

घड़ी की सूई एक स्थान से दूसरे स्थान पर जा पहुँचती है। देश और काल में कुछ प्रसिद्ध भेद हैं। देश या आकाश के भाग एक दूसरे के बाहर हैं; जहाँ एक भाग समाप्त होता है, वहाँ दूसरा आरम्भ होता है। कोई भाग अपना स्थान बदल नहीं सकता। अवकाश में विशेष पदार्थों का स्थान-परिवर्तन होता हो, तो भी स्वयं अवकाश में ऐसे परिवर्तन की कोई सम्भावना नहीं। अवकाश स्थिरता का रूप ही है। दूसरी ओर, काल में स्थिरता का लेश नहीं। यही नहीं कि एक घटना के बाद दूसरी आती है; स्वयं घटना भी अस्थिर है। हम अवस्थाओं का जिक्र करते हैं; परन्तु तथ्य यह है कि आन्तरिक अस्थिरता इनमें भी मौजूद है। अवकाश में प्रत्येक भाग अन्य भागों के बाहर होता है; काल में जो कुछ होता है, उसमें इस प्रकार की पृथक्ता और बाह्यता नहीं होती। काल के भाग एक दूसरे में ओत-प्रोत, एक दूसरे में प्रविष्ट होते हैं। अवकाश में जो पदार्थ पड़े हैं, उन्हें हम गिन सकते हैं, क्योंकि जहाँ एक है, वहाँ किसी दूसरे का होना सम्भव नहीं। काल की हालत में ऐसी गिनती सम्भव नहीं। मैं कुछ समय से यह लेख लिख रहा हूँ। इस समय अनेक चेतनाएँ उठी हैं और चली गयी हैं। मैं यह कह नहीं सकता कि कितनी चेतनाएँ प्रकट हुई हैं। वे एक दूसरे से अलग हैं ही नहीं; एक धारा के अंश हैं। उनकी गिनती करना उनके वास्तविक रूप को अयथार्थ बनाना है। बुद्धि ऐसा करती है, क्योंकि इसका सम्बन्ध देश से है, और यह काल को देश के रूप में देखना चाहती है।

अवकाश में जो पदार्थ पड़े हैं, वे अपना स्थान छोड़ सकते हैं और फिर वहीं आ सकते हैं। इसका फल यह है कि चीजें टूटती हैं और फिर बन सकती हैं। काल की घटनाएँ एक ही दिशा में चलती हैं, और उनका क्रम उलट नहीं सकता। जो हो चुका, वह सदा के लिए हो चुका; उसका अभाव अब सम्भव नहीं।

इस तरह काल के तीन प्रमुख चिह्न हैं, जो इसे देश से विभिन्न करते हैं—

(1) काल में स्थिरता का अंश नहीं; यह सदा गति में है।

(2) यह गति सदा आगे की ओर होती है।

(3) काल के भाग एक दूसरे के बाहर नहीं; एक दूसरे में धँसे हैं।

जीवन गति है; इसे अवकाश के चिह्नों से चिह्नित करना बुद्धि की भूल है।

अनिवार्यता और स्वतन्त्रता का अर्थ क्या है ?

हमें ज्योतिष का कुछ ज्ञान हो, तो हम जान सकते हैं कि एक वर्ष या पचास वर्षों के बाद पहला सूर्य-ग्रहण कब होगा और कितनी देर रहेगा। कारण यह कि प्रकृति नियम के अनुकूल चलती है और यह नियम अबाध्य है। अपने पड़ोसी की बाबत मैं हिसाब लगाकर यह नहीं बता सकता कि वह कल 10 बजे क्या कर रहा होगा। मेरा विश्वास है कि जहाँ प्राकृतिक पदार्थों के लिए बाधक नियम विद्यमान है, वहाँ मेरे पड़ोसी में स्वाधीनता का अंश मौजूद है। मैं यह लेख लिख रहा हूँ। मेरा विश्वास है कि मैं चाहता तो लिखना आरम्भ न करता; या किसी अन्य विषय पर लिखने लगता। अब आगे लिखना और न लिखना दोनों सम्भव हैं। अनि-वार्यवाद कहता है कि मेरा विश्वास निर्मूल है। मेरी हालत में भी, मेरी क्रिया सर्वथा मेरे चरित्र और मेरे वातावरण पर निर्भर है। यदि किसी ज्ञाता को इन दोनों का पूर्ण ज्ञान हो, तो मेरे भावी आचरण में भी कोई अनिश्चित अंश नहीं रहता। चूँकि प्रत्येक अवस्था पूर्व अवस्था और वातावरण पर आधारित है, इसलिए अनिवार्यवाद के अनुसार, जो कुछ भी हो रहा है, आरम्भिक स्थिति के गर्भ में विद्यमान था।

यह यन्त्रवाद का सिद्धान्त है। इसके अनुसार प्रकृति, जीवन और चेतना में कोई मौलिक भेद नहीं। बर्गसाँ इस दावे को स्वीकार नहीं करता। उसके विचार में, जहाँ प्रकृति के लिए कोई वास्तविक नूतनता सम्भव नहीं, वहाँ नूतनता जीवन और चेतना का सार है। जीवन वृद्धि है। जड़ पदार्थ के लिए बढ़ने का कोई अर्थ नहीं; इसका कोई इतिहास नहीं। हमारी चेतना बर्फ के गोले से मिलती है, जो पर्वत के पहलू पर लुढ़कता आता है और नीचे आते-आते बड़ा होता जाता है। हमारा भूत विनष्ट नहीं होता; यह वर्त्तमान में विद्यमान है, और हमारी चेतना प्रतिक्षण नयी बन रही है। इसका पूर्वज्ञान सम्भव ही नहीं। अपने प्रत्येक कार्य में हम अनुभव करते हैं कि कार्य हमारा कार्य है; चेतना और अबाध्यता का बोध एक ही है।

जिस अनिवार्यवाद की ओर ऊपर संकेत किया है, उसे प्राकृतिक अनिवार्यवाद कहते हैं। एक दूसरे प्रकार का अनिवार्यवाद पीछे की ओर नहीं, अपितु आगे की ओर देखता है। इसके अनुसार जो कुछ भी हम करते हैं, वह भाग्य या प्रारब्ध के रूप में पहले से किसी चेतन शक्ति की ओर से निश्चित हो चुका है। इस प्रकार का विचार पूर्व में बहुत प्रचलित है। बर्गसाँ इसे भी अमान्य समझता

हैं और इसके विरुद्ध भी यही हेतु देता है कि यह विचार जीवन और चेतना को नूतनता से वंचित कर देता है।

प्राकृतिक अनिवार्यवाद को स्वाधीनता के विरुद्ध आपत्ति है कि यह जगत् में एक नियम के स्थान में दो नियम स्थापित कर देती है। मेरा शरीर प्राकृतिक नियम के अधीन तो अन्य पदार्थों की तरह है ही; इसे मेरे संकल्प के अधीन भी कर देना इसे दोहरे शासन में रखना, और स्थिति को असरल बना देना है। बर्गसाँ का उत्तर यह है कि तत्त्व-ज्ञान का काम सत्य को जानना है; उसे तोड़-मोड़कर अपनी सुविधा या अनुराग के अनुकूल बनाना नहीं।

प्रकृतिवाद कारण-कार्य नियम के व्यापक शासन को घोषित करता है। इस नियम के अनुसार, यदि कारण क कार्य ख को आज उत्पन्न करता है, तो समान स्थिति में यह सदा ऐसा करेगा और सदा ऐसा करता रहा है। बर्गसाँ कहता है कि चेतन अवस्थाओं की हालत में तो यह शर्त कभी पूरी होती ही नहीं : किसी चेतनावस्था के लिए एक ही रूप में दुहराया जाना सम्भव ही नहीं। हर एक अवस्था अनोखी होती है, और इसलिए कारण-कार्य नियम इसपर लागू ही नहीं होता।

4. 'प्रकृति और स्मृति'

यह पुस्तक 1896 में प्रकाशित हुई। इसमें बर्गसाँ ने द्वैतवाद का दृष्टिकोण अपनाया है, क्योंकि स्मृति आत्मा का प्रमुख चिह्न है। स्मृति ही भूत को वर्त्तमान में प्रविष्ट करती और उसका अंग बनाती है। बर्गसाँ का यत्न इतना ही है कि पुरुष और प्रकृति को वह जितना निकट ला सकता है, ले आये।

'काल और स्वाधीनता' में बर्गसाँ ने कहा था कि अवकाश स्थिरता का नमूना है; और जीवन और चेतना में अस्थिरता प्रमुख है। यहाँ प्रश्न उठता है कि इस समाधान में बाहरी जगत् में गति का क्या बनता है? क्या यह आभास ही है, या इसका वास्तविक अस्तित्व है? पहले समाधान के अनुसार, तीर क से ख तक जाता नहीं; यह अगणित स्थानों पर ठहरता है। बर्गसाँ इस ख्याल को स्वीकार नहीं करता; वह प्रकृति को गति के रूप में ही देखता है। चेतना की तरह, प्रकृति भी प्रवाह या धारा है। हमारी बुद्धि, जो जीवन-क्रिया में सहायक होने के लिए व्यक्त और प्रफुल्ल हुई है, इस प्रवाह को आवश्यकता के अनुसार विशेष

पदार्थों में विभक्त करती है। भारत तो एक है; हम उसे अनेक प्रदेशों में और प्रदेशों को ग्रामों में विभक्त करते हैं। प्रकृति के जितने भाग से मेरा काम है, उतने भाग को मैं एक विशेष वस्तु के रूप में देखता हूँ; वास्तव में वे एक दूसरे से पृथक् नहीं। जो वस्तुएँ कुदरती हालत में हैं, उनकी बाबत यह ठीक है। हम एक ही पर्वत की विविध चोटियों को अलग नाम देकर, उन्हें अनेक पर्वत कहने लगते हैं। परन्तु जिन वस्तुओं को मनुष्य आप बनाता है, उनपर तो यह ख्याल लागू नहीं होता। कुर्सी और मेज अब मेरे ध्यान देने पर एक दूसरे से पृथक् नहीं होते; ये तो हर एक दर्शक के लिए, चाहे उसे इनसे कोई काम हो या न हो, एक दूसरे से अलग ही हैं।

बर्गसाँ ने सारी सत्ता को दो प्रकार के प्रवाह के रूप में देखा।

स्मृति चेतन जीवन का तत्त्व है। स्मृति दो प्रकार की है—अभ्यास स्मृति और विशुद्ध स्मृति। मुझे जब शब्द-कोश में कोई शब्द देखना होता है, तो मैं पुस्तक को उचित स्थान के करीब खोलता हूँ, क्योंकि मुझे वर्णमाला का क्रम मालूम है, मुझे अब यह पता नहीं कि इस क्रम को कब याद किया था और कितने श्रम से याद किया था। अभ्यास ने इसे मस्तिष्क में सुरक्षित कर दिया है। विशुद्ध स्मृति में स्थिति ब्यौरे में याद रहती है। मुझे याद है कि कल सायं मैं व्याख्यान सुनने गया, और यह भी कि क्या सुना। बर्गसाँ के विचार में यह स्मृति मस्तिष्क में किसी चित्र के रूप में विद्यमान नहीं। स्मृति और चिन्तन में हम दिमाग की क्रिया पर निर्भर नहीं होते। शरीर (और मस्तिष्क) एक यन्त्र है, जिसे आत्मा, प्राकृत जगत् को प्रभावित करने के लिए, प्रयोग में लाती है।

5. 'उत्पादक विकास'

'उत्पादक विकास' (1907) बर्गसाँ की प्रमुख पुस्तक है। पुस्तक के नाम में ही, लेखक ने अपने सिद्धान्त का विशिष्ट चिह्न व्यक्त कर दिया है। वह बताना चाहता है कि स्पेन्सर के दृष्टिकोण और उसके दृष्टिकोण में क्या भेद है।

स्पेन्सर ने चेतना, जीवन और प्रकृति को एक दूसरे के ऊपर रखा था—प्रकृति से जीवन प्रकट होता है; और जीवन से चेतना उत्पन्न होती है। जो कुछ पहले अव्यक्त था, वह पीछे व्यक्त हो जाता है। त्रिविधता प्रकट होती है; किसी प्रकार

की नूतनता नहीं आती। बर्गसाँ ने नूतनता को विकास का मौलिक चिह्न बताया। उसने चेतना, जीवन और प्रकृति को एक दूसरे के ऊपर नहीं रखा, अपितु एक तने से निकली हुई तीन शाखाओं के रूप में दिखाया। मूल सत्ता अपने विस्तार में तीन दिशाओं में चली—प्रकृति के रूप में, जीवन के रूप में और चेतना के रूप में व्यक्त हुई।

स्पेन्सर ने कहा था कि प्रकृति के परिवर्तन में एक मंजिल पर जीवन उत्पन्न हो जाता है। बर्गसाँ इन दोनों में मौलिक भेद देखता है। इन भेदों की ओर कांट ने भी संकेत किया था। घड़ी के भाग एक दूसरे से सहयोग करते हैं, परन्तु इस सहयोग से पहले ये भाग बनाये जाते और विशेष क्रम में रखे जाते हैं। इनमें कोई दोष हो जाय, तो ये उसे आप दूर नहीं कर सकते। जीवित पदार्थ की स्थिति बहुत भिन्न है। इसके भाग अपने आपको बनाते नहीं, बनाये जाते हैं; अन्य भागों के बनाने में भी इनका हाथ होता है। बढ़ते जाना जीवन का प्रमुख चिह्न है। कोई अंग टूट जाय, तो जीवन-शक्ति उसे फिर बना देती है; यह न हो सके, तो कोई दूसरा अंग उसकी क्रिया करने लगता है। वृद्धि का प्रमुख रूप यह है कि जीवित पदार्थ अपने जैसे अन्य पदार्थों को जन्म देता है; कोई यन्त्र यह नहीं कर सकता। प्राणिविद्या को भौतिक विद्या और रसायन विद्या का अनुरूपक समझना तथ्यों की ओर से आँखें बन्द करना है।

अचेतन जीवन और चेतन जीवन में भी भेद स्पष्ट दिखाई देते हैं। चेतना, कुछ दूर चल कर, दो भिन्न मार्गों पर चलने लगी। पहले इसमें सहज-ज्ञान और बुद्धि घुली मिली थी; पीछे एक मार्ग पर सहज-ज्ञान में विशेष वृद्धि होने लगी, और दूसरे मार्ग पर बुद्धि में। पशु-पक्षियों में बुद्धि का अंश है, परन्तु उनका प्रवल पहलू सहज-ज्ञान है; मनुष्य में सहज-ज्ञान मौजूद है, परन्तु उसका प्रवल पहलू बुद्धि है। सहज-ज्ञान में चींटी और मधुमक्खी बहुत आगे निकल गयी हैं। सहज-ज्ञान की प्राप्ति के लिए व्यक्ति को खोज की आवश्यकता नहीं होती। बछड़ा पैदा होता है, तो उसे यह सीखने की आवश्यकता नहीं होती कि जीवित रहने के लिए स्तन चूसना चाहिये; और वह गौ की टाँगों या पूँछ को नहीं, अपितु स्तन को चूसने लगता है। पशुओं को जीवन-निर्वाह के लिए जितने ज्ञान की आवश्यकता होती है, वह उन्हें सहज-ज्ञान में मिल जाता है। मनुष्य की हालत में यह अपर्याप्त सिद्ध होता है, और तब बुद्धि आगे आती है। आक्रमण या रक्षा के लिए पशु-पक्षी अपने अंगों को सजीव अस्त्रों के रूप में बर्त्त लेते हैं; बुद्धि जड़ प्रकृति से भी अनेक प्रकार के अस्त्र बनाती

है। ये अस्त्र इतना महत्त्व प्राप्त कर लेते हैं कि मनुष्य 'अस्त्र बनानेवाला और अस्त्रों का प्रयोग करनेवाला' प्राणी ही समझा जाने लगता है।

शापनहावर ने कहा था कि विश्व में नेत्रहीन शक्ति का शासन है। बर्गसाँ जीवन-चिनगारी को अन्धी शक्ति नहीं समझता; हाँ, इतना कहता है कि यह सर्वज्ञ नहीं। इसलिए इसकी गति, हर हालत में, सीधी रेखा में प्रगति नहीं होती। प्राचीन यूनान में भी कुछ विचारकों ने गति को महत्त्व दिया था; परन्तु उनका ख्याल था कि यह गति वृत्ताकार में होती है—कालचक्र जहाँ से आरम्भ करता है, वहीं समाप्त भी होता है। नवीन काल में नीत्शे ने भी इसी प्रकार का विचार प्रस्तुत किया। बर्गसाँ के विचार में, जीवन-शक्ति नदी की तरह आगे को बढ़ती है; और जिस तरह नदी की मुख्य धारा से अलग होकर, कुछ जल दायें बायें जाता है और रुक कर ठहर जाता है, वैसे ही जीवन भी दायें बायें के संकुचित मार्गों में पड़ कर अचल हो जाता है। कई हालतों में तो उन्नति के स्थान में अवनति भी हो जाती है। जो जन्तु देखते थे, उनकी आँखें तो हैं, परन्तु वे दृष्टि खो बैठे हैं। जीवन-शक्ति अपना प्रयोग कर रही है; कभी कभी प्रयोग असफल भी हो जाता है।

6. प्रकृति, जीवन और चेतना

प्रकृति, जीवन और चेतना में हम चेतना को निकटतम देखते हैं। इसके परीक्षण में हम क्या देखते हैं ?

(1) प्रथम तो यह कि हम निरन्तर बदलते रहते हैं, कोई चेतनावस्था स्थिर नहीं रहती, और कोई अवस्था दुबारा लौट कर भी नहीं आती। अन्य कोई भेद न हो, तो इतना तो होता ही है कि यह लौट कर आयी है। जिसे हम अवस्था कहते हैं वह भी परिवर्तन ही है।

(2) भूत विनष्ट नहीं होता, यह विद्यमान रहता है। हमारी निरन्तरता का अर्थ यही है कि 'भूत भविष्य में कुतरता है और आगे बढ़ने में फैलता जाता है।' चेतना की गति एक ही दिशा में होती है; यह पलट नहीं सकती।

(3) चेतना में नूतनता सदा प्रकट होती रहती है। इसलिए यह संभव नहीं कि हम भविष्य को पूर्ण रूप से देख सकें। हम लगातार अपने आपको नया बनाने में लगे हैं।

प्राकृतिक पदार्थ में ये चिह्न दिखाई नहीं देते। इसमें परिवर्तन होता है तो यही कि न बदलने वाले अंश (परमाणु) बाहरी दवाव में स्थान वदल लेते हैं। ऐसे परिवर्तन के बाद यह सम्भव होता है कि पहली स्थिति फिर प्रस्तुत हो जाय। प्रत्येक स्थिति दुहरायी जा सकती हैं। इसके फलस्वरूप कोई मिश्रित पदार्थ बूढ़ा नहीं होता; इसका कोई इतिहास नहीं। प्राकृत पदार्थ के परिवर्तन में कोई नूतनता भी नहीं होती; हम हिसाब लगाकर बता सकते हैं कि आगामी सूर्यग्रहण कब होगा।

प्राकृत पदार्थों में एक पदार्थ विशेष स्थिति में है। जैसा ऊपर देख चुके हैं, हमारी बुद्धि प्रकृति को, जीवन की आवश्यकताओं के अनुसार अनेक पदार्थों में विभक्त करती है। हमारी क्रिया बुद्धि को बताती है कि कतरनी कैसे चलायें। हमारे शरीर की स्थिति विशेष अधिकारयुक्त है; इसे स्वयं प्रकृति ने अलग करके सीमित कर दिया है। इसके अनेक्र भाग एक दूसरे को पूर्ण करते हैं; इसके अंग ही बुद्धि को इस योग्य बनाते हैं कि वह प्रकृति में अन्य पदार्थों को उनका व्यक्तित्व दे। वास्तव में जीवित पदार्थ में ही व्यक्तिव हो सकता है। व्यक्तित्व का अर्थ यह है कि समग्र का कोई भाग उससे अलग न हो सके। पूर्ण व्यक्तित्व किसी वस्तु में पाया नहीं जाता। सन्तानोत्पत्ति में यही होता है कि जीवित पदार्थ का अंश उससे अलग होकर एक नया जीवित पदार्थ बना देता है।

जीवित पदार्थों में हमें चेतना के चिह्न दिखाई देते हैं। ये सदा बदलते रहते हैं; इनकी वृद्धि होती है; और इनके भविष्य की बाबत निश्चय से कह नहीं सकते। जीवन और चेतना का विस्तार एक ही तो नहीं? यदि ऐसा है तो जहाँ कहीं जीवन है, वहाँ चेतना भी विद्यमान है। वृक्ष सुषुप्ति की अवस्था में हैं; पशु और मनुष्य जागरण में हैं। कहीं कहीं तो बर्गसाँ प्रकृति को भी सत्ता का ऐसा भाग समझता है, जिसमें जीवन की चिनगारी बुझ चुकी है। द्वैतवाद और एकवाद के सम्बन्ध में कुछ लोग कहते हैं कि बर्गसाँ का द्वैतवाद एकवाद से बच नहीं सका; कुछ कहते हैं कि उसके एकवाद में द्वैत कहीं से घुस ही आता है।

7. बुद्धि और प्रतिभा

'ढूँढ़ो, और तुम्हें मिलेगा'—मनुष्य की बुद्धि ने इस परामर्श को श्रद्धा से सुना है। इसका प्रमुख काम ढूँढ़ना है और प्रायः इसे मिल ही जाता है। सहज-ज्ञान

ढूँढ़ने का फल नहीं होता; व्यक्ति अपने आपको इससे सम्पन्न पाता है। बुद्धि के प्रयोग की आवश्यकता इसलिए होती है कि सहज-ज्ञान पर्याप्त नहीं होता। सहज-ज्ञान में कुछ त्रुटियाँ हैं—

(1) इस ज्ञान में आत्म-बोध विद्यमान नहीं होता। बछड़ा गौ के स्तन को मुँह में लेकर चूसता है, परन्तु वह यह नहीं जानता कि वह ऐसा क्यों कर रहा है। उसे यह पता नहीं कि गौ के शरीर में दूध मौजूद है, न यह कि दूध इसे जीवित रखता है। वह अपनी प्रकृति की एक माँग पूरी कर रहा है।

(2) सहज-ज्ञान का क्षेत्र सीमित है। मधुमक्खियाँ विना सीखे छत्ता बना लेती हैं, परन्तु और कुछ नहीं बना सकतीं। वे देखती हैं, परन्तु उनका दृष्टि-क्षेत्र बहुत सीमित है।

(3) सहज-ज्ञान का सम्बन्ध व्यवहार से है। पशु-पक्षियों को जीवन कायम रखना होता है; इसके लिए सहज-ज्ञान उन्हें सहायता देता है। जो कुछ व्यवहार से असम्बद्ध है, वह उनके ज्ञान-क्षेत्र के वाहर है। हम कहते हैं—'ज्ञान को ज्ञान की खातिर प्राप्त करना चाहिये।' यह बात किसी पशु की समझ में आ नहीं सकती।

मनुष्य के लिए सम्भव है कि सहज-ज्ञान को इन त्रुटियों से ऊपर उठा दे। ऐसा होने पर सहज-ज्ञान अपने आपको समझता है, अपने क्षेत्र को विस्तृत करता है, और व्यवहार-बन्धन से विमुक्त हो जाता है। ऐसे आत्म-बोधयुक्त और निष्काम सहज-ज्ञान को प्रतिभा या 'इन्ट्यूशन' का नाम दिया जाता है। यह ज्ञान ढूँढ़ने की वस्तु नहीं; विशेष स्थिति में, यह आप ही तुरन्त प्राप्त हो जाता है।

सत्ता का स्वरूप पहचानने में बर्गसाँ ने प्रतिभा को बुद्धि से अधिक महत्त्व का स्थान दिया है। उसने तो यहाँ तक कह दिया है कि बुद्धि सत् को अयथार्थ रूप में दिखाती है। बर्गसाँ के सिद्धान्त में यह एक महत्त्व की बात है। इसपर कुछ विचार करें।

प्रतिभा के कई अर्थ लिए जाते हैं। मेरी आँखें खुली हैं; मैं सामने हरापन देखता हूँ। यह बोध मुझे तुरन्त होता है। मैं हरे और लाल रंग में भेद भी तुरन्त करता हूँ। इन दोनों हालतों में मेरा ज्ञान प्रतिमान है। तथ्यों के अतिरिक्त, कई नियम भी इसी तरह जाने जाते हैं। गणित और नीति के नियम ऐसे नियम हैं। एक और प्रकार का प्रतिमान किसी समग्र को एकाएक उसकी समग्रता में देखता है। इस

अवस्था में, ध्यान विभिन्न भागों से हटकर समग्र पर जमता है। बर्गसाँ के ध्यान में यह बोध प्रमुख है। सत्ता को जानने का यही उपयोगी तरीका है। बुद्धि व्यवहार की सेविका है। इसका काम अवकाश के पदार्थों की जाँच करना है। यह एकता को विभक्त करके अनेकता प्रस्तुत कर देती है। सत्ता का स्वरूप समझने के लिए हमें देश को ओर नहीं, अपितु काल की ओर देखना चाहिये। काल सदा गति में है और अभिन्न है। बुद्धि सत्ता को इसके अतिरिक्त रूप में देख नहीं सकती। बुद्धि बाढ़ की तीव्रता, उसके उतार-चढ़ाव और भँवरों को नदी के किनारे बैठे देखती है। प्रतिभा नदी में कूदकर मँझधार में जा पहुँचती है। वह धारा का भाग बनकर, उसकी गति से परिचित होती है। किसी दूसरे की स्थिति समझने के लिए सहानुभूति की आवश्यकता होती है। सहानुभूति का अर्थ यही है कि कि हम अपने आपको दूसरे की स्थिति में रखकर देखें कि वह पदार्थों को किस रूप में देखता है। बर्गसाँ कहता है कि जीवन-चिनगारी या जीवन-शक्ति का तत्त्व समझने के लिए जीवन-धारा का अंग बनना आवश्यक है। सहज-ज्ञान बुद्धि की अपेक्षा जीवन के अधिक निकट है। प्रतिभा के रूप में बदला हुआ सहज-ज्ञान ही हमें प्रवाहरूप सत्ता की बाबत ठीक बता सकता है।

कांट ने बुद्धि को प्रकटनों के जगत् में मान का स्थान दिया था; परमार्थ के ज्ञान के लिए व्यावहारिक बुद्धि की शरण ली थी। बर्गसाँ ने सत्ता और प्रकटनों में भेद नहीं किया। उसने सत्ता को प्रवाह के रूप में देखा और कहा कि बुद्धि इसके वास्तविक स्वरूप को बता नहीं सकती। कुछ आलोचक कहते हैं कि ऐसा करके बर्गसाँ ने दार्शनिक विवेचन को आगे नहीं बढ़ाया; कुछ पीछे ही धकेला है। कुछ लोग तो कहते हैं कि सहज-ज्ञान का महत्त्व मधुमक्खियों ने समझा है या बर्गसाँ ने।

बर्गसाँ के सिद्धान्त में चिन्तन को जीवन का यन्त्र बताया है, और जीवन को प्रवाह रूप में देखा है। अमेरिका के दार्शनिकों का दृष्टिकोण भी इसी प्रकार का था। अब हम उनकी ओर चलते हैं।

■

अठारहवाँ परिच्छेद

अमेरिका का दर्शन

पीअर्स, जेम्स, ड्यूई, सेंटायना

अमेरिका को नयी दुनिया कहते हैं। महाद्वीप तो पहले भी था, और लोग वहाँ बसते भी थे; परन्तु यूरोप की शाखा के रूप में यह नयी दुनिया ही है।

1607 में इंग्लैण्ड में दो कम्पनियों को शासनपत्र दिये गये, और उन्होंने नयी दुनिया में जाकर डेरे डाल दिये। 1620 में 1000 प्युरिटन 'यात्री' वहाँ जा पहुँचे। यह इंग्लैण्ड की नयी बस्तियों का आरम्भ था। लोग वहाँ जाने लगे और बस्तियाँ बढ़ने लगीं। इन लोगों में अधिकतर वे थे, जिन्हें अपने देश में आर्थिक या अन्य प्रकार की कठिनाई अनुभव होती थी। उपनिवेश-काल में इंग्लैण्ड और फ्रांस के युद्ध प्रमुख थे। इनमें उपनिवेश भी सम्मिलित थे। 1763 में सात वर्षीय युद्ध समाप्त हुआ, और पेरिस की सन्धि से कैनेडा इंग्लैण्ड के शासन में आ गया।

अब इंग्लैण्ड और संयुक्त राष्ट्रों में झगड़ा होने लगा, और 1783 में इंग्लैण्ड ने औपचारिक रूप से संयुक्त राष्ट्रों की स्वाधीनता स्वीकार कर ली। उस समय इन राष्ट्रों की संख्या 13 थी और आबादी 25 लाख के करीब थी। कोई 100 वर्ष पीछे जब आबादी दो करोड़ हो गयी, कवि वाल्ट ह्विट्मैन ने कहा कि आबादी 10 करोड़ पहुँचने पर, अमेरिका सारी दुनिया पर छा जायगा।

अमेरिका ने राजनीतिक स्वाधीनता तो प्राप्त कर ली, परन्तु इसकी संस्कृति कुछ समय के लिए यूरोप की संस्कृति ही रही। 19वीं शताब्दी में यह सम्बन्ध भी ढीला होने लगा। 19वीं शती में यूरोप में दो विचार प्रमुख रूप में प्रस्तुत हुए—

(1) शापनहावर और नीत्शे ने बुद्धि के स्थान में संकल्प को प्रमुख स्थान दिया।

(2) डार्विन और स्पेन्सर ने संघर्ष और परिवर्तन पर जोर दिया। पीछे वर्गसाँ ने उत्पादन के महत्त्व पर वल देकर विकास के प्रत्यय को अधिक सार्थक बना दिया।

ये दोनों विचार नयी दुनिया की स्थिति के वहुत अनुकूल थे। इन लोगों के सामने विस्तार के निस्सीम अवसर थे; इनके रक्त में साहस की अग्नि प्रचंड थी। ये इंग्लैण्ड को युद्ध में हरा चुके थे; अव उन्हें प्रकृति पर विजयी होना था। नीत्शे के शब्दों में, ऊँट शेर बन चुका था; अब रचना करने वाले मनुष्य को प्रकट होना था। इस मनोवृत्ति का प्रकाश अमेरिका के दार्शनिकों ने किया। तीन विचारकों के नाम विशेष महत्त्व के हैं—चार्ल्स पीअर्स, विलियम जेम्स, और जॉन ड्यूई। सेन्टायना में अमेरिकन स्पिरिट नहीं थी। वह बाल्यावस्था में स्पेन से वहाँ आया और अपना काम करके फिर यूरोप में जा रहा। उसकी गिनती अमेरिका के दार्शनिकों में केवल इसलिए है कि उसने जो कुछ लिखा, अमेरिका में लिखा

1. चार्ल्स पीअर्स

1. व्यक्तित्व

चार्ल्स सैंडर्स पीअर्स (1839–1914) केम्ब्रिज, मैसेच्युसेट्स में पैदा हुआ। उसका पिता हार्वर्ड में गणित और ज्योतिष का प्रोफेसर और अपने समय का प्रसिद्ध गणितज्ञ था। स्कूल की शिक्षा के वाद चार्ल्स हार्वर्ड गया, और वहाँ 1859 में उपाधि प्राप्त की। उसके पिता ने उसे गणित की शिक्षा दी।

पिता के प्रभाव के कारण उसे परिमाप-विमाग में काम मिल गया, और 1891 तक वह इस विभाग में काम करता रहा। यहाँ उसे अपना अध्ययन जारी रखने के लिए पर्याप्त समय मिल गया; और उसने न्याय, तत्त्व-ज्ञान, विज्ञान, इतिहास और कुछ अन्य शाखाओं में निपुणता प्राप्त कर ली। कभी-कभी दर्शन पर व्याख्यान देने का अवसर भी मिल जाता था। उसने पत्रिकाओं में अनेक लेख लिखे। 1891 में एक साधारण विरासत मिलने पर उसने नौकरी छोड़ दी, और मिलफोर्ड में जा रहा। यहाँ उसका जीवन दूसरों से अलग-थलग बीतता था। निर्वाह में कठिनाई होने लगी, तो पत्रिकाओं के लेखों पर गुजारा होने लगा। अस्वस्थ हो जाने पर यह द्वार भी बन्द हो गया; जेम्स और कुछ अन्य मित्रों की सहायता से

दिन कटने लगे। 1914 में जब उसकी मृत्यु हुई, तो हार्वर्ड विश्वविद्यालय ने उसके अप्रकाशित लेख उसकी पत्नी से खरीद लिये। पीछे प्रकाशित और अप्रकाशित लेख 6 जिल्दों में प्रकाशित किये गये। इसपर भी कई वर्ष बीत गये, जब पीअर्स के महत्त्व को लोगों ने समझना आरम्भ किया। अब तो अमेरिका के विचारकों में उसका स्थान शिखर पर है।

उसके जीवन में कोई पुस्तक उसके नाम पर प्रकाशित नहीं हुई। वह यत्न करता रहा, परन्तु उसे विश्वविद्यालय में कोई पद नहीं मिल सका। क्यों? उसका स्वभाव असामाजिक और झक्की था। विद्या सम्बन्धी स्थिति महत्त्व की न होने के कारण कोई प्रकाशक भी नहीं मिल सकता था। मिलता तो भी शायद पीअर्स लगातार प्रयत्नके योग्य न था। उसकी बुद्धि तीव्र थी, परन्तु उसकी क्रिया-शक्ति उसके साथ चलने में असमर्थ थी। पीअर्स की हालत अनोखी थी—शायद ही इतनी तीव्र बुद्धि का दूसरा मनुष्य, अमेरिका जैसे देश में जीवन-क्रिया में इतना असफल रहा हो। दर्शन-शास्त्र को अमेरिका की सबसे बड़ी देन 'व्यवहारवाद' या 'प्रैग्मेटिस्म' का प्रत्यय है। पीअर्स ने इस नाम को जन्म दिया; जेम्स ने इसे सर्वप्रिय बनाया। जिस रूप में जेम्स ने उसे पेश किया, वह पीअर्स के मौलिक विचार से बहुत भिन्न था। पीअर्स ने अपने विचार के लिए 'व्यावहारिकवाद' का नया नाम चुना, परन्तु यह चला नहीं। जेम्स ने सदा पीअर्स ओ नये विचार का जन्मदाता होने की प्रतिष्ठा दी। जेम्स ने पीअर्स के पहले व्याख्यान की बाबत, जो उसने सुना, कहा—'मैं व्याख्यान का एक शब्द भी समझ नहीं सका, परन्तु मैंने अनुभव किया कि उसमें मेरे लिए एक विशेष सन्देश है।' जेम्स का जीवन इस सन्देश को समझने और इसका प्रसार करने में व्यतीत हुआ।

2. पीअर्स का मत

1. 'व्यवहारवाद'

कांट दर्शनशास्त्र का प्रोफेसर था। वह अपने विद्यार्थियों से कहा करता था—'मैं दर्शन नहीं पढ़ाता; दार्शनिक विवेचन की विधि बताता हूँ।' इसी प्रकार की भावना पीअर्स की थी। वह कहता है—'मेरी पुस्तक का उद्देश्य किसी को कुछ बताना नहीं है। एक गणित की पुस्तक की तरह यह कुछ विचारों का सुझाव देगी और

यह बतायेगी कि मैं क्यों इन विचारों को सत्य मानता हूँ। यदि तुम इन विचारों को स्वीकार करोगे, तो इसका कारण यह होगा कि तुम मेरी युक्तियों को पसन्द करते हो और उत्तरदायित्व तुम्हारा है।....मेरी पुस्तक उन लोगों के लिए है, जो पता लगाना चाहते हैं। जो लोग चाहते हैं कि उन्हें दर्शन तैयार भोजन के रूप में परोसा जाय, उन्हें कहीं और जाना चाहिए। परमात्मा की कृपा से, हर एक कोने पर दार्शनिक जूस-ग्रह मौजूद हैं।'

इन शब्दों में व्यवहारवाद का तत्त्व आ गया है। पीअर्स ने कहा कि प्रतिभा किसी सत्य को स्पष्ट जान नहीं सकती। हमारी सारी धारणाएँ प्रतिज्ञा की स्थिति में होती हैं। प्रत्येक प्रतिज्ञा अपने आपको जाँच के लिए पेश करती है, और इस बात के लिए तैयार रहती है कि यदि वह जाँच में पूरी न उतरे, तो उसे त्याग दिया जाय। यह जाँच क्या है? डेकार्ट ने कहा था कि जब कोई विचार पूर्ण रूप में स्पष्ट, विरोधरहित हो, तो उसे सत्य स्वीकार कर लेना चाहिए। व्यवहारवाद कहता है कि देखना चाहिए कि धारणा को सत्य स्वीकार करने पर, हम किस प्रकार की क्रिया करने के लिए तैयार होते हैं; और उस क्रिया के परिणाम वास्तविकता के अनुकूल हैं या प्रतिकूल हैं। मुझे प्यास लगती है। जंगल में दूर पानी प्रतीत होता है। यदि मैं इसे पानी समझता हूँ, तो उधर चल पड़ता हूँ। वहाँ पहुँच कर दोनों हाथों के योग से प्याला बनाता हूँ, और उस वस्तु को उठाता हूँ। हाथ गीला हो जाता है और सामग्री तरल लगती है। पीने पर प्यास बुझती है। अब मेरी प्रतिज्ञा कि जो कुछ दूर से मुझे पानी प्रतीत हुआ था, वास्तव में पानी था, निरीक्षण से सिद्ध हो गयी है। पानी का अर्थ ही ऐसी वस्तु है जो विशेष क्रिया और प्रतिक्रिया करने की क्षमता रखती हो।

ऊपर के निरीक्षण में सन्देह का अवकाश मौजूद है। यह सम्भव है कि निरीक्षण करने वाला किसी मानसिक रोग के कारण भ्रम में रेत को गीला और तरल समझ रहा हो। यह सन्देह अन्य मनुष्यों के अनुभव से दूर हो जाता है। यदि वह वस्तु अन्य मनुष्यों को भी गीली और तरल लगती है और उनकी प्यास भी बुझाती है, तो वह पानी है। जिस प्रकार का प्रमाण प्राप्त होना सम्भव था, वह प्राप्त हो गया है। पीअर्स के शब्दों में, 'सत्य सार्वजनीन अनुभव है; किसी व्यक्ति विशेष का अनुभव ही नहीं।' सत्य का यह चिह्न पीअर्स और जेम्स के सिद्धान्तों में एक प्रमुख भेद बन गया।

(2) तत्त्व-ज्ञान

तत्त्व-ज्ञान का प्रथम काम विश्व की अनेकता को व्यवस्थित करना है। दृष्ट वहुत्व को कुछ अन्तिम श्रेणियों में क्रमवद्ध किया जाता है। हम कई प्राचीन और नवीन दार्शनिकों की हालत में ऐसे यत्न की वावत देख चुके हैं। पीअर्स भी व्यापक वर्गों की खोज करता हैं। उसके विचार में, हमारा सारा अनुभव और बाह्य पदार्थ तीन पक्ष दिखाते हैं। इन्हें एक दूसरे से पृथक् नहीं किया जा सकता, परन्तु परीक्षण के लिए इन्हें अलग-अलग देखा जा सकता है। पहला पक्ष सरल विद्यमानता है। हमें लाल रंग का बोध होता है। यह एक मौलिक, अमिश्रित अनुभव प्रतीत होता है। कल्पना करें कि रंगों में लाल एक रंग नहीं, परन्तु अकेला रंग है, और कोई वस्तु ऐसी नहीं जो लाल न हो। ऐसी दुनिया में लाल रंग का वोध तो होगा, परन्तु ज्ञाता को इसके लाल होने का बोध नहीं हो सकता। यदि कुछ वस्तुएँ लाल हों और कुछ लाल न हों, तो ज्ञाता लाल वस्तुओं की श्रेणी वना सकता है। यहाँ निरे गुण के साथ, सम्बन्ध भी प्रस्तुत हो गया है; एकत्व के साथ अनेकत्व भी व्यक्त हो गया है। अनेकत्व भी निरा अनेकत्व नहीं; इसमें व्यवस्था दीखती है। यह व्यवस्था न पूर्ण है, न स्थायी है। वहुधा वैज्ञानिक और दार्शनिक जव नियम का वर्णन करते हैं, तो उसे सर्वथा अभंग समझते हैं। अव विज्ञान की धारणा यह है कि प्रकृति अपनी क्रिया में अखण्ड नियम के अधीन काम नहीं करती; अनिवार्यता के साथ अनिश्चितता का कुछ अंश भी मिला है। पीअर्स कहता है कि नियम एक प्रवृत्ति है; संसार-क्रम अपने स्वभाव से व्यवस्था की ओर बढ़ रहा है। जैसे धीरे-धीरे आदत बनती जाती है, उसी तरह विश्व-व्यवहार में हो रहा है। समय की गति के साथ प्राकृत नियम दृढ़ होते जाते हैं, और उनका प्रभाव-क्षेत्र विस्तृत होता जाता है। नियम भी विकास के अधीन हैं। प्राकृत अनिश्चितता की बावत यह पीअर्स का समाधान है।

आदत की दृढ़ता भी सत्ता के सभी भागों में एक जैसी नहीं। जड़ जगत् में यह लगभग 100% बन चुकी है; इसलिए वहाँ नियम का पूर्ण शासन सा ही दिखाई देता है। चेतन आत्मा में नियम के साथ अनिश्चितता का अच्छा अंश भी मौजूद है। इस स्थिति का एक लाभ यह है कि आत्मा पुरानी आदत को त्याग कर नयी आदत बना सकती है।

पीअर्स की व्याख्या को पढ़कर हमारा ध्यान स्वभावतः सांख्य सिद्धान्त की ओर जाता है। सांख्य के अनुसार मूल प्रकृति में सत्त्व, रजस और तमस तीन गुण मौजूद हैं। यह रहते सदा एक साथ हैं परन्तु इनकी शक्ति एक दूसरे की अपेक्षा बढ़ती घटती रहती है। प्रकृति में तमस प्रधान हैं; इसमें अनिश्चितता का अंश बहुत कम है। रजस प्रधान होने पर क्रिया प्रमुख होती है; इसमें संघर्ष के परिणामस्वरूप व्यक्तित्व प्रमुख हो जाता है। सत्त्व के प्रबल होने पर व्यवस्था बढ़ती है, जिसमें अनेकत्व के साथ एक नये प्रकार की एकता व्यक्त होती है। सांख्य और पीअर्स दोनों में, मोह में तमस प्रधान होता है, कर्म में रजस प्रधान होता है, और ज्ञान में सत्त्व प्रधान होता है।

(3) ज्ञान-मीमांसा

डेकार्ट ने प्रतिभा को ज्ञान की आधार-शिला बनाया था; कुछ धारणाएँ ऐसी होती हैं, जिनमें सन्देह हो ही नहीं सकता। पीअर्स इस दावे को स्वीकार नहीं करता। यह ज्ञान कि प्रतिभा सारे ज्ञान की आधारशिला है, हमें कैसे प्राप्त होता है? यदि अनुभव से होता है, तो प्रतिभा आधार नहीं, आप आधारित है। यदि यह भी प्रतिभा की देन है, तो यह दूसरा प्रतिभान कैसे प्राप्त होता है? प्रतिभानों का क्रम कभी समाप्त नहीं होगा।

आम तौर पर समझा जाता है कि ज्ञान में ज्ञाता और ज्ञेय का स्पष्ट सम्पर्क होता है; यह दो पदों का सम्बन्ध है। पीअर्स यह नहीं मानता। उसके मतानुसार सारा ज्ञान अनुमान के रूप में होता है। मैं कहता हूँ—'मैं फूल देखता हूँ।' देखता रंग हूँ, और पिछले अनेक बार दुहराये हुए अनुभव की नींव पर तुरन्त कह देता हूँ कि दृष्टि का विषय फूल है। यहाँ भी आदत या अभ्यास का प्रभाव स्पष्ट है। यहाँ दो वस्तुओं का सम्बन्ध नहीं, तीन वस्तुओं का सम्बन्ध है। रंग चिह्न है; इस चिह्न को द्रष्टा फूल का संकेत बनाता है। इसी तरह धारणा और तर्क भी चिह्नों की व्याख्या है, जो व्याख्याकार करता है।

2. विलियम जेम्स

1. जीवन की झलक

विलियम जेम्स (1842--1910) न्यूयार्क में पैदा हुआ। वह एक चंचल

वालक था और इस दृष्टि से अपने भाई हेनरी से बहुत भिन्न था। उसका दादा आयरलैण्ड से आकर अमेरिका में बसा था। परिवार की जड़ें अभी अमेरिका में गहरी नहीं गयी थीं। विलियम और हेनरी के माता-पिता की तीव्र इच्छा थी कि अपने बच्चों को अच्छी से अच्छी शिक्षा, जो दिला सकते हों, दिलायें। वे उन्हें यूरोप ले गये, और लंडन, पैरिस, बोलोन, जेनीवा तथा बान की संस्थाओं में डुवकी लेने का अवसर दिया। इसका परिणाम यह हुआ कि दोनों भाइयों का ज्ञान-क्षेत्र विस्तृत तो हो गया, परन्तु गहराई से वंचित रहा। एक परिणाम यह हुआ कि दोनों को भाषाओं का अच्छा ज्ञान हो गया, और दोनों ने अच्छा लेखक बनने की योग्यता प्राप्त कर ली। दोनों की शिक्षा एक साथ हुई थी; पीछे हेनरी उपन्यास-लेखक बना, परन्तु मनोवैज्ञानिक उपन्यास-लेखक; विलियम ने मनोविज्ञान पर लिखा, परन्तु मनोविज्ञान को उपन्यास की रोचकता दे दी।

विलियम जेम्स के लिए शिक्षा की मिश्रितता के कारण प्रश्न यह था कि वह जीवन-कार्य का चुनाव कैसे करे। उसने विज्ञान को चुना। यहाँ भी रसायनविद्या और चिकित्सा में चुनना था; चिकित्सा प्रवल साबित हुई। वह हार्वर्ड कालेज में शरीरक्रिया की शिक्षा के लिए नियुक्त किया गया। कुछ समय के बाद वह मनोविज्ञान विभाग में चला गया। 1890 में उसकी प्रसिद्ध पुस्तक 'मनोविज्ञान के नियम' प्रकाशित हुई। पहले उसका ख्याल था कि पुस्तक दो वर्षों में लिखी जा सकेगी, परन्तु यह 12 वर्षों के परिश्रम के वाद समाप्त हो पायी। इस पुस्तक ने जेम्स को मनोवैज्ञानिकों की पंक्ति में प्रथम स्थान दे दिया। परन्तु जेम्स के चंचल स्वभाव ने उसे मनोविज्ञान से युक्त रहने नहीं दिया। उसने मनोविज्ञान को छोड़ कर, दर्शन का पढ़ाना आरम्भ कर दिया, और अन्तिम वर्षों में दर्शन पर ही लिखा। कुछ लोगों के विचार में यह निश्चय उपयोगी न था।

उसका स्वास्थ्य आरम्भ से ही अच्छा न था। पीछे उसे हृदय-रोग ने आ पकड़ा। वह अवकाश-काल में भ्रमण के लिए एक जंगल में गया। वहाँ मार्ग खो बैठने के कारण इतना श्रम करना पड़ा कि वह विश्वविद्यालय को छोड़ने पर बाध्य हो गया। उसने स्वास्थ्य के लिए यूरोप जाने का निश्चय किया। उसकी प्रतिष्ठा पहले ही वहाँ पहुँची हुई थी। आराम तो क्या मिलना था; जो थोड़ी जीवन-शक्ति बची हुई थी, वह भी जाती रही। 1910 में उसका देहान्त हुआ।

दर्शन पर जो कुछ उसने लिखा, उसका विषय एक या दूसरे रूप में व्यवहारवाद ही है। जैसा हम देख चुके हैं, इस विषय में जेम्स का अनुराग पीअर्स के एक व्याख्यान का फल था, जिसका एक शब्द भी जेम्स समझ नहीं सका था। जेम्स की पुस्तकों में हम यहाँ तीन पुस्तकों को विशेष ध्यान में रखेंगे : 'विश्वास-संकल्प', 'व्यवहारवाद', 'अनेकरूप विश्व'।

2. 'व्यवहारवाद'

पीअर्स और जेम्स का व्यवहारवाद मूल में एक ही है, परन्तु ब्योरे में दोनों के दृष्टिकोणों में बहुत भेद है। पीअर्स ने कहा था कि हमारी सारी धारणाएँ प्रतिज्ञा की स्थिति में होती हैं; किसी भी हालत में हम नहीं कह सकते कि वह सन्देह से ऊपर है। ज्ञान के भाग एक दूसरे का सहारा लेते हैं, इसकी नींव किसी असंदिग्ध बोध पर नहीं। पीअर्स ने कहा कि कभी आलोचक ने उसकी प्रशंसा नहीं की; केवल एक आलोचक की निन्दा को उसने प्रशंसा के रूप में देखा। इस आलोचक ने कहा था कि 'स्वयं पीअर्स को अपने समर्थनों के सत्य होने में पूर्ण विश्वास नहीं।' पीअर्स का भाव यह था कि खोज का द्वार कभी भी बन्द नहीं होना चाहिये। यही जेम्स का विचार था। उसकी मृत्यु के बाद, कागज के एक टुकड़े पर निम्न शब्द, जो उसका अन्तिम लेख था, पाये गये—

'कोई नतीजा या समर्थन नहीं। किस सत्ता ने यह निश्चय किया है कि हम उसकी बाबत निर्णय करें? कोई भविष्य बताने को नहीं, और कोई परामर्श देने के लिए नहीं! विदा!'

पीअर्स और जेम्स दोनों के विचार में, धारणाओं की जाँच के लिए उनके व्यावहारिक परिणामों को देखना चाहिये। परन्तु किस प्रकार के परिणामों को? पीअर्स नैयायिक था; उसके लिए परिणामों की जाँच में बुद्धि ही निर्णय कर सकती है। जहाँ यह कुछ न कहे, विश्वास का प्रश्न ही न उठना चाहिए। जेम्स मनोवैज्ञानिक था; उसके लिए बुद्धि के अतिरिक्त भाव और संकल्प भी मानव प्रकृति के अंग हैं; इनकी उपेक्षा नहीं कर सकते। धर्म और नीति के सम्बन्ध में विश्वास न करना भी एक संकल्प ही होता है। जहाँ साक्षी पर्याप्त मात्रा में मिल सके, वहाँ निर्णय करने का अधिकार बुद्धि को ही है; परन्तु जहाँ स्थिति ऐसी न हो,

वहाँ हमें देखना चाहिए कि विश्वास और अविश्वास में अधिक तुष्टि कौन दे सकता है। जो कुछ बुद्धि के क्षेत्र से परे है, उसकी बावत, भाव की नींव पर, संकल्प को निर्णय कर लेना चाहिए। जब बूढ़े, बीमार और आश्रित पीअर्स ने जेम्स की पुस्तक 'व्यवहारवाद' को पढ़ा, तो उसने जेम्स को लिखा—'स्पष्ट विचार की विधि सीखने का यत्न करो।'

3. 'अनेकरूप विश्व'

व्यवहारवाद सत्ता को प्रवाह के रूप में देखता है। हमारा काम सत्ता को दूर से देखना ही नहीं, इसमें परिवर्तन करना भी है। प्लेटो ने परिवर्तन को गिरावट के रूप में देखा था, अरस्तू ने कहा कि गति आगे की ओर हो रही है। नवीन काल में, लाइबनिज़ ने विद्यमान जगत् को अगणित संभावनाओं में सर्वश्रेष्ठ देखा; शापनहावर ने इसमें अभद्र के सिवा कुछ देखा ही नहीं। अमेरिका की आत्मा क्रिया पर मोहित थी। जेम्स ने कहा—'जगत् में अभद्र की बड़ी मात्रा मौजूद है परन्तु यह तो हमारी क्रियाशक्ति के लिए एक ललकार है; हमें इसे स्वीकार करना चाहिए। जीवन का तत्त्व संघर्ष में है, और संघर्ष अनेकवाद का समर्थन करता है। निरपेक्ष अध्यात्मवाद या एकवाद में परिवर्तन के लिए कोई स्थान ही नहीं। जेम्स ने 'अनेकरूप विश्व' में एकवाद की आलोचना की है।

एकवाद कहता क्या है ?

विश्व में अगणित चेतना-अवस्थाएँ हैं। प्रत्येक चेतना कुछ चेतना-अवस्थाओं का समवन्य है। क, ख, घ....मेरी चेतना के भाग हैं; क', ख', घ'...मेरे पड़ोसी की चेतना के अंश हैं; क", ख", ध"....एक तीसरे व्यक्ति की चेतना बनाते हैं। एकवाद कहता है कि व्यक्तित्व का ख्याल एक भ्रम है। मैं, मेरा पड़ोसी और अन्य मनुष्य चेतन नहीं, चेतन अवस्थाएँ ही हैं। क्रिया का ख्याल भी भ्रम है। जहाँ कर्त्ता ही नहीं, वहाँ क्रिया कहाँ से आयेगी।

जेम्स इस विचार को स्वीकार नहीं करता। वह अनेकवाद के पक्ष में निम्न हेतु देता है—

(1) निरपेक्षवाद के अनुसार जो कुछ है, वह निरपेक्ष का ज्ञान ही है; उस ज्ञान में कोई आन्तरिक विरोध नहीं। इस विचार के अनुसार जीवात्मा ज्ञाता नहीं, निरपेक्ष

के ज्ञान का अंश है। परन्तु जीवात्मा तो अपने आपको द्रष्टा भी पाता है। व्यक्ति के ज्ञान में भ्रान्ति होती है और भिन्न पुरुषों के ज्ञान में विरोध भी होता है। एकवाद व्यक्ति की सत्ता से इनकार करता है, इसलिए अमान्य है।

(2) एकवाद के अनुसार हमारी व्यक्तिगत सत्ता है नहीं, केवल भासती है। किसे भासती है ? निरपेक्ष तो पूर्ण था; उसमें यह अपूर्णता कैसे आ गयी ?

निरपेक्षवाद के पास इस कठिनाई का कोई समाधान नहीं। यह अपूर्णता दुःख और पाप के रूप में बहुत भयावनी है। स्वप्न में हम भ्रान्ति में रहते हैं, परन्तु जागने पर इसकी ओर से उदासीन हो जाते हैं। दुःख और पाप बहुत कठिन समस्या प्रस्तुत कर देते हैं। एकवाद इन्हें आभास मात्र बताता है। कोई स्वस्थ चेतना इन्हें आभास नहीं मान सकती।

(3) यदि सब कुछ निरपेक्ष की क्रिया और त्रुटि-रहित है, तो हमारे लिए कुछ करने को रह नहीं जाता। अनिवार्यता का निस्सीम शासन है। अनेकवाद व्यक्ति को स्वाधीनता देता है; और उसे प्रेरणा करता है कि वह स्थिति को सुधारने में जो कुछ कर सकता है, करे। सत्ता स्थिर नहीं; यह तो निरन्तर बदल रही है।

(4) हमारा सारा व्यवहार इस विश्वास पर निर्भर है कि अनेक व्यक्ति विद्यमान हैं, और एक दूसरे के सम्पर्क में आते हैं। यह विश्वास व्यवहार की जाँच में पूरा उतरता है; इसलिए इसे सत्य मानना चाहिए। सत्य वही है, जो व्यवहार में स्थिति की माँगों को पूरा करता है। सत्य कोई स्थिर पदार्थ नहीं, जिसे केवल देखना होता है; यह तो बनता है। यह मूल्य का एक रूप है।

3. जॉन ड्युई

1. व्यक्तित्व

जॉन ड्युई (1859–1952) बर्लिंगटन, वर्मांट, में पैदा हुआ। शिक्षा समाप्त करने के बाद उसने मध्य-पश्चिम के कुछ विश्वविद्यालयों में काम किया, और अन्त में कोलम्बिया विश्वविद्यालय में पहुँचा। जेम्स का जीवन पूर्व अमेरिका

में गुजरा था; ड्युई को पूर्व और पश्चिम दोनों को देखने का अवसर मिला। पूर्व में यूरोप की संस्कृति का अधिक प्रभाव था; पश्चिम में नयी दुनिया का जीवन था। जैसे वाल्टर ह्विटमैन को अमेरिकन कवि कह सकते हैं, वैसे ड्युई को अमेरिकन विचारक कह सकते हैं।

जेम्स ने व्यवहारवाद को उन विश्वासों की पुष्टि के लिए जिन्हें बुद्धि युक्ति-युक्त नहीं बताती, प्रयुक्त किया था। पीअर्स ने इसका विरोध किया था, क्योंकि वह बुद्धि के अधिकार में कोई आक्षेप सहन न करता था। ड्युई ने परलोक की बाबत जेम्स की चिन्ता को अनावश्यक समझा। उसने कहा कि विवेचन का काम वर्तमान जीवन को समझना और इसे निरन्तर उन्नत करते जाने का यत्न है। उसने जीवन के सभी क्षेत्रों को व्यवहारवाद के दृष्टिकोण से देखा; विशेष कर शिक्षा में उपयोगी परिवर्तन करने पर बल दिया।

2. ड्युई का मत

ड्युई ने डार्विन के विकासवाद को सर्वांशतः मान्य समझा। जीवन आगे बढ़ना चाहता है, और इसके लिए जो उपाय भी सहायक होता है, बरतता है। उन्नति का सबसे बड़ा हथियार चिन्तन है। जहाँ वातावरण एक सा बना रहता है, सहज ज्ञान से काम चल जाता है; परन्तु वातावरण में परिवर्तन होता रहता है। नयी स्थिति में नयी व्यवस्था की आवश्यकता होती है। इसके लिए सहज ज्ञान पर्याप्त नहीं होता, और बुद्धि सोचने लगती है। चिन्तन में मानसिक क्रिया क्या होती है ?

मैं प्रातः उठता हूँ, और दैनिक भ्रमण करने को जी नहीं चाहता, यह क्या हो गया है ? मैं जानना चाहता हूँ कि गड़बड़ शरीर के किस भाग में है। मैं डाक्टर से पूछता हूँ। उसे किसी विशेष रोग की शंका होती है, और वह इसे प्रतिज्ञा बना कर दवाई देता है। यदि दवाई के प्रयोग से कठिनाई दूर हो जाती है तो उसकी प्रतिज्ञा को पुष्टि मिल गयी। इसी प्रकार की क्रिया प्रत्येक कठिनाई के प्रस्तुत होने पर होती है। चिन्तन व्यवहार में कुशलता प्राप्त करने का साधन या अस्त्र है। ड्युई ने अपने विचार को अस्त्रवाद या साधनवाद का नाम दिया। इस प्रत्यय को उसने शिक्षा, नीति, राजनीति पर लागू करके बताया कि दर्शन का पुनः निर्माण कैसे हो रहा है। उसने कई पुस्तकें लिखीं। 'मानव प्रकृति और आचरण' और

'दर्शन में पुनः निर्माण' हमारे लिए विशेष महत्त्व की हैं। दूसरी पुस्तक जापान में दिये गये व्याख्यानों का संग्रह है। ड्युई के विचारों में प्रमुख ये हैं—

(क) दर्शन शास्त्र का काम

पशुओं का जीवन प्रत्यक्षीकरण और सहज ज्ञान पर निर्भर है। मनुष्य प्रत्यक्षीकरण के साथ कल्पना और स्मृति को भी मिलाते हैं, और सहज ज्ञान के साथ बुद्धि का प्रयोग भी करते हैं। इस तरह मनुष्यों की दुनिया स्थूल पदार्थों की दुनिया से, जिसमें पशु जीवन व्यतीत करते हैं, अधिक विस्तृत होती है। पशु नियत क्रम को अपने लिए पर्याप्त पाते हैं; मनुष्य आदर्शों की कल्पना करके वास्तविकता को बदलना भी चाहता है। इन भेदों के कारण मनुष्य को 'विवेकी पशु' कहते हैं।

प्लेटो ने प्राकृत पदार्थों की दुनिया के अतिरिक्त प्रत्ययों की दुनिया की कल्पना की। यही नहीं, प्रत्ययों की दुनिया को असल और पदार्थों की दुनिया को नकल कहा। इसी भेद का एक रूप मन की अपेक्षा प्रकृति को निकृष्ट पद देना था। प्लेटो का विचार शतियों तक तत्त्व-ज्ञान का प्रामाणिक सिद्धान्त बना रहा। नवीन काल में इस दृष्टिकोण की उपयोगिता में सन्देह होने लगा। बेकन ने कहा कि जीवन उद्देश्य शक्ति प्राप्त करना है, और 'ज्ञान शक्ति है।' मनुष्य का कल्याण अदृष्ट की बावत विवेचन करने में नहीं; दृष्ट जगत् को समझने और उसके प्रयोग में है। विज्ञान की उन्नति ने औद्योगिक क्रान्ति को जन्म दिया; और लोगों ने प्रकृति के महत्त्व को अनुभव किया।

ड्युई के विचार में, दर्शनशास्त्र को परलोक का ख्याल छोड़कर लोक की ओर समस्त ध्यान देना चाहिए। लोक के सम्बन्ध में भी, वर्तमान का विशेष महत्त्व है। कितनी ही दूर जाना हो, हमें चलना तो एक-एक कदम होता है। दूर, अति दूर, के स्थिर आदर्शों से ध्यान हटाकर बदलती हुई स्थिति को सुधारना दार्शनिक विवेचन का काम है।

(ख) अनुभव और बुद्धि

पुराने तत्त्व-ज्ञान के लिए अनुभव प्रकटनों की दुनिया तक सीमित था;

अन्तिम स्थिर सत्ता की बावत बुद्धि ही कुछ बता सकती थी। व्यवहारवाद के अनुसार सत्ता प्रवाहरूप है। इसके अनुसार अनुभव निकृष्ट ज्ञान नहीं; यही ज्ञान है। बुद्धि अनुभव से अलग नहीं; यह तो अनुभव में निरीक्षण का अंश प्रविष्ट करके उसे सुबोध बनाती है। जेम्स ने कहा था कि सत्य बना बनाया कहीं पड़ा नहीं, जिसे ढूँढ़ने के लिए हम इधर-उधर फिरते रहें; सत्य वह प्रतिज्ञा है, जो व्यवहार में ठीक उतरती है : सत्य बनता है। यही ड्युई का मत है। पुराना विचार ज्ञान और कर्म में ज्ञान को प्रथम स्थान देता था। अब मनोविज्ञान जीवनविद्या के प्रभाव में है। इससे स्थिति बदल गयी है; और क्रिया प्रमुख हो गयी है। पदार्थों के जानने का तरीका यह नहीं कि हम दूर से उनका चिन्तन करें; उन्हें प्रयोग में लाकर देखना होता है कि हम उनपर क्या प्रभाव डाल सकते हैं, और वे हमें कैसे प्रभावित करते हैं।

(ग) नीति

जेम्स ने जगत् के नानात्व को देखकर अनेकवाद का समर्थन किया था। ड्युई ने अनेकवाद के प्रत्यय का नीति में प्रयोग किया। पुराने दृष्टिकोण को अपनाकर नीति एक ही अन्तिम उद्देश्य का प्रसार करती रही है। इसे कोई सुख के रूप में, कोई शिवसंकल्प के रूप में, कोई ज्ञान के रूप में देखता है; परन्तु विचारक प्रायः नैतिक एकवाद का समर्थन करते हैं। ड्युई नीति में अनेकवाद को लाता है। वह साधन और साध्य के भेद को भी नहीं मानता, न नैतिक मूल्यों में ऊँच नीच का भेद करता है। हम पूछते हैं—'नैतिक आदर्श क्या है ?' ड्युई पूछता है—'किसकी बावत और किस स्थिति की बावत प्रश्न करते हो ?' सारे मनुष्य एक स्थिति में नहीं; और कोई एक मनुष्य भी एक ही स्थिति में नहीं रहता। हरएक का कर्त्तव्य वर्त्तमान कठिनाई को दूर करके आगे बढ़ना है। यदि मेरे लिए इस समय शारीरिक निर्बलता कठिनाई है, तो मेरा कर्त्तव्य स्वास्थ्य को प्राप्त करना है; यदि मेरे पड़ोसी के लिए पारिवारिक कलह विशेष कठिनाई है, तो उसका कर्त्तव्य उस कलह को दूर करना है। यह बात महत्त्व की नहीं कि हम कहाँ खड़े हैं। महत्त्व की बात यह है कि जहाँ कहीं भी हैं, आगे बढ़ने का यत्न करें। अच्छे पुरुष का चिह्न यह है कि वह अधिक अच्छा बनने के यत्न में लगा रहे।

(घ) राजनीति

राजनीति में ड्युई प्रजातन्त्रवादी था; यह स्वाभाविक ही था। उसके विचार में प्रजातन्त्रवाद का तत्त्व यह है कि प्रत्येक को अपनी सर्वांश उन्नति का अवसर मिले, और प्रत्येक, अपनी योग्यता के अनुसार, सामूहिक उन्नति में योग दे सके। मानव जाति की उन्नति में युद्ध बड़ी रुकावट है। जब तक विविध राज्य अपनी-अपनी प्रभुता पर बल देंगे, युद्ध की सम्भावना बनी रहेगी।

व्यक्ति और समाज का सम्बन्ध एक बड़ी समस्या है। हर एक स्वाधीनता और व्यवस्था की कीमत को स्वीकार करता है; परन्तु यह स्वीकृति हमें दूर नहीं ले जाती। प्रश्न यह है कि व्यक्ति को स्वाधीनता को कहाँ सीमित किया जाय। प्रजातन्त्र की माँग यह है कि जो कुछ भी मनुष्य, अकेले या इच्छा से बनाये समूहों में, कर सकते हैं, उन्हें करने दिया जाय; जो कुछ उनकी शक्ति से बाहर है, वह राष्ट्र करे। ड्युई तो चाहता है कि राष्ट्र भी एक दूसरे के निकट आयें। व्यापार, श्रम, विज्ञान, कला धर्म—ये सब देशों की आड़ों को तोड़ ही रहे हैं।

(ङ) शिक्षा

शिक्षा के सुधार पर जनता के ध्यान को केन्द्रित करने में जितना काम ड्युई ने किया है, उतना अमेरिका में किसी अन्य व्यक्ति ने नहीं किया। शिक्षा की बावत कहा जाता है कि यह 'जीवन के लिए तैयारी है।' यह विवरण शिक्षा को साधन बना देता है। इसके विरुद्ध ड्युई कहता है कि शिक्षा ही जीवन की प्रमुख क्रिया है। शिक्षा वुद्धि का दूसरा नाम है और यह काम आयु भर जारी रहना चाहिए। स्कूल कालेज छोड़ने पर मनुष्य की शिक्षा समाप्त नहीं हो जाती; अपने सहारे शिक्षा आरम्भ होती है। जो शिक्षा स्कूलों, कालेजों में दी जाती है, उसमें विज्ञान को प्रमुख स्थान मिलना चाहिए। विज्ञान में भी पुस्तकों के पढ़ने पर नहीं, हाथ के काम पर बल देना चाहिए। जो ज्ञान इस तरह प्राप्त होता है, वही ज्ञान का अमूल्य अंश है। 'क्रिया को शिक्षा का साधन बनाओ।'

इस मनोवृत्ति का प्रभाव अमेरिका की उच्च शिक्षा में दिखाई देता है। ऐसी शिक्षा की संस्थाएँ कहीं कालेज कहलाती हैं, कहीं विश्वविद्यालय। नाम का भेद है। प्रक्रिया का भेद नहीं। हर एक संस्था अपना पाठ्यक्रम निश्चित करती है; एकरूपता का प्रश्न

ही नहीं उठता। इसका फल यह है कि देश में अनेक निरीक्षण हो रहे हैं। व्यवहारवाद के अनुसार प्रयोग सारी उन्नति की जान है। वर्त्तमान नसल का सबसे बड़ा काम आने वाली नसल को अच्छी शिक्षा देना है।

4. सेंटायना

1. व्यक्तित्व

जार्ज सेंटायना 1863 में स्पेन में पैदा हुआ। उसका पिता धनी और उच्च वर्ग का था। जार्ज अभी 9 वर्ष का था, जब उसकी माता अपने दूसरे पति से अलग हो गयी। वह पहले पति से पैदा हुए बच्चों और जार्ज को लेकर अमेरिका चली गयी। सौतेले भाइयों में यों ही स्नेह कम होता है, जार्ज की उम्र और दूसरों की उम्र में इतना अन्तर था कि वे एक दूसरे के बहुत निकट न हो सकते थे। जार्ज को नये देश में भी दूसरों की संगति में न रुचि न थी, वह अपना समय अकेला ही पुस्तकों के साथ या कल्पना में गुजारता था। उसने हार्वर्ड में शिक्षा प्राप्त की, और वहीं 1890 से 1912 तक पढ़ाता रहा। विश्वविद्यालय के काम से अलग होकर, वह यूरोप वापिस चला गया, और रोम में रहने लगा।

जितने समय वह अमेरिका में रहा, एक परदेशी की स्थिति में रहा—अमेरिका के जीवन ने उसे प्रभावित नहीं किया। जेम्स और राएस भी उस समय पढ़ाते थे; सेंटायना हैरान होता था कि लोग उनपर मोहित हैं। वह वास्तव में प्राचीन यूनान का वासी था; प्लेटो और अरस्तू उसके दिल और दिमाग पर छाये हुए थे। उसने कई पुस्तकें लिखीं, और बहुत रोचक भाषा में लिखीं। उसकी पुस्तकें प्लेटो की लेखशैली की याद दिलाती हैं। पहली पुस्तक, 'सौन्दर्य-अनुभव' थी; सबसे प्रसिद्ध रचना 'बुद्धि का जीवन' थी। यह पांच जिल्दों में प्रकाशित हुई। इनकी बाबत ही यहाँ कुछ कहेंगे।

2. 'सौन्दर्य-अनुभव'

मैं फूल को देखता हूँ, इसे छूता हूँ; निकट होने पर इसकी गंध भी लेता हूँ। इसी प्रकार के अनुभव लस्सन से भी प्राप्त करता हूँ। फूल को सुन्दर कहता हूँ; लस्सन को सुन्दर नहीं कहता। क्या कोई विशेष गुण फूल में मौजूद है, और लस्सन में मौजूद नहीं, जिसके कारण मैं फूल को सुन्दर कहता हूँ, और लस्सन को नहीं

कहता ? या यह भेद बाह्य पदार्थों में तो नहीं, मेरी मानसिक अवस्था में है ? किसी वस्तु को सुन्दर कहने का अर्थ यह है कि उसके सम्पर्क में आने पर हमें प्रसन्नता होती है। प्रसन्नता तो अन्दर की व्यवस्था है; बाहरी पदार्थों का गुण नहीं। आरम्भ में बच्चा अन्दर-बाहर का भेद कर नहीं सकता; मानव जाति भी अपने बचपन में ऐसा करने के अयोग्य होती है। गुणों के साथ, हम उद्वेगों को भी बाहर से आता समझते हैं। सेंटायना के विचार में, सौन्दर्य-अनुभव में हम थोड़े काल के लिए, फिर उसी आरम्भिक अवस्था में जा पहुँचते हैं। 'सौन्दर्य वह हर्ष है जिसे हम अपने अन्दर नहीं, अपितु बाहर देखते हैं।' यह भ्रान्ति थोड़ी देर रहती है, परन्तु जितनी देर रहती है, बहुत सुखद होती है। बुद्धि में आदर्श-रचना की शक्ति है। इस शक्ति के प्रयोग से वह गद्य के नीरस जगत् के साथ कविता के जगत् की भी रचना कर लेती है। कला एक ऐसी रचना है।

3. बुद्धि विज्ञान में

बुद्धि प्राकृत प्रवृत्तियों की शत्रु नहीं; यह उन्हें मेल-मिलाप से रहने के योग्य बनाती है। बुद्धि प्रवृत्तियों और विवेक का संयोग है; इन दोनों में कोई एक अंश जीवन को सफल नहीं बना सकता।

तत्त्व-ज्ञान में सेंटायना डिमाक्राइटस का अनुयायी था। जगत् में जो कुछ हो रहा है, परमाणुओं का खेल है; प्राकृत नियम व्यापक हैं। चेतना भी किसी तरह प्रकट हो गयी है; परन्तु यह प्रकृति के व्यवहार में किसी प्रकार का दखल नहीं दे सकती। चेतना किसी क्रिया का साधन नहीं; यह कल्पना से रोचक चित्र बना लेती है और उनसे प्रसन्नता चूस लेती है ?

आजकल विकास का प्रत्यय प्रधान है। विकासवाद के अनुसार कोई वस्तु या शक्ति प्रकट नहीं होती, कम से कम कायम नहीं रहती, जब तक कि उससे विकास में सहायता न मिलती हो। यदि चेतना कुछ करती कराती नहीं, तो प्रकट क्यों हुई ? और व्यर्थ होने पर भी अभी टिकी हुई क्यों है ?

4. बुद्धि और धर्म

परमाणुवादी होने के कारण, सेंटायना आस्तिक हो नहीं सकता था; परन्तु वह यूनानी भाव में रँगा था, और स्पेन में पैदा हुआ था। उसे ईसाइयत में विश्वास

न था, परन्तु रोमन कैथॉलिक मत से प्यार करता था। उसे शोक था कि ऐसी 'प्रतापी भ्रान्ति' उसके हाथ से जाती रही है। यहूदी बाइविल को कविता के रूप में देखते थे; जर्मनी के लोगों ने इसे इतिहास की दृष्टि से देखा, और इसका परिणाम यह हुआ कि यह कविता अपनी कीमत खो वैठी।

5. बुद्धि और समाज

समाज का प्रमुख काम सदस्यों को व्यवस्था में रखना और उन्हें अच्छा जीवन व्यतीत करने के योग्य वनाना है। अमेरिका में आम ख्याल यह था कि प्रजातन्त्र राज्य इसका सर्वोत्तम साधन है। हम देख चुके हैं कि सेंटायना अमेरिका में रहने पर अमेरिका की मनोवृत्ति को अपना नहीं सका। उसकी दृष्टि आगे की ओर नहीं, पीछे की ओर देखती थी। वह आप उच्च वर्ग में पैदा हुआ था; प्लेटो और अरस्तू के विचार उसके मस्तिष्क पर छाये हुए थे। जो व्यवस्था सुकरात जैसे पुरुष को युवकों का आचरण भ्रष्ट करने के आरोप पर, मृत्युदण्ड दे सकती है, वह सेंटायना को उपयोगी प्रतीत नहीं हो सकती थी। वह शिष्टजन-शासन के पक्ष में था; शासन उन लोगों के हाथ में होना चाहिए, जो योग्यता में आगे हों। हाँ, यह ठीक है कि शिष्ट-वर्ग का कोई वन्द वाड़ा नहीं होना चाहिए; प्रत्येक मनुष्य के लिए, अपनी हिम्मत से आगे वढ़कर, इस वर्ग में प्रविष्ट होने की संभावना होनी चाहिए।

सेंटायना के विचारों में अमेरिका के जीवन का कोई अंश नहीं। उसे वर्त्तमान अध्याय में स्थान देने का कारण यही है कि उसने अपनी पुस्तकें अमेरिका में लिखीं। यह उन्हें यूरोप के किसी देश में भी लिख सकता था। उस हालत में यह संदिग्ध है कि उसे दर्शन के संक्षिप्त इतिहास में स्थान मिलता या न मिलता। वह एक योग्य प्रोफेसर था, और उसने अच्छी पुस्तकें लिखीं, परन्तु कोई ऐसा विचार प्रस्तुत नहीं किया, जो उसे प्रसिद्ध दार्शनिकों की पंक्ति में ला खड़ा करे। अमेरिका में उसके लेखों का स्वागत कैसा हुआ? उसने एक बार हँसी में कहा " 'सौन्दर्य-अनुभव' मेरी पुस्तकों में सब से प्रिय है; इसकी 100 प्रतियाँ वर्ष में बिक जाती हैं।"

■

नाम-सूची

NAME INDEX

Achilles
Anaxagoras
Anaximander
Anaximenes
Aquinas St. Thomas
Aristotle
Metaphysics, Ethics, Politics
Bacon, Francis
Advancement of Learning,
Navum Organan.
Bergson, Henri
Creative Evolution
Berkely, George
New Theory of Vision,
Principles of Human Knowledge
Comte, Auguste
Darwin, Charles
Democritus
Descartes, Rene
Discourse on Method,
Meditations
Dewey, John
Epictetus
Epicurus
Fichte, J. C.
Geulinex
Gorgias
Hegel
Heracleitus
Hobbes, Thomas
Leviathan
Hume, David
Human Nature
James, William
Pragmatism
Kant, Immanuel
The Critique of Pure Reason
The Critique of Practical Reason
The Critique of Judgment.
Leibniz
The Monadology
Locke, John
Essay on the Human Understanding
Lucretius
Malebranche
Marcus Aurelius
Nietzsche, Frederick
Thus Spakc Zarathustra

Parmenides
Prince, Charles
Plato
The Republic, Apology, and other Dialogues
Protagoras
Phythagoras
Santayana, George
The life of Reason
Schopenhaver *The world as Idea and Will.*
Socrates
Spencer, Herbert
The Synthetic Philosophy
Spinoza
Ethics
Thales
Zeno

■

पर्यायवाची शब्द

हिन्दी-अंग्रेजी

अतिमानव (शुभ्र मनुष्य) Superman
अतिसूक्ष्म गणना Calculus
अद्वैतवाद Monism
अध्यात्मवाद Idealism
अनन्त Infinite
अनिवार्यवाद Necessitarianism
अनुभववाद Empiricism
अनेकवाद Pluralism
अभद्रवाद (निराशावाद) Pessimism
अवसरवाद Occasionalism
असत् Non-Being
अस्त्रवाद Instrumentalism
आकृति Form
आगमन Induction
आलोचनवाद Criticism
आस्तिकवाद Theism
उद्गतिवाद Transcendentalism
उद्वेग Emotion
एकवाद Singularism
कारण Cause
,, उपादान Material Cause
,, निमित्त Efficient Cause
,, आकारात्मक Formal Cause
,, लक्ष्यात्मक Final Cause
गुण Quality
,, प्रमुख (प्रधान) Primary Quality
,, गौण (अप्रधान) Secondary Quality
चिद्विन्दु Monad
चेतना Consciousness
चेतनवाद Spiritualism
ज्ञान-मीमांसा Epistemology
तत्व Essence
द्रव्य Substance
धारणा (पक्ष) Thesis
नामवाद Nominalism
नास्तिकवाद Atheism
निगमन Deduction
निरपेक्ष Absolute
निर्णय Judgment
निर्देशवचन Proposition
निःश्रेयस Summum Bonum, Highest-Good
न्यायशास्त्र Logic
प्रकटन Phenomenon, Appearance
प्रकृति Matter
प्रकृतिवाद (जड़वाद) Materialism
प्रक्रिया Function
प्रतिधारणा (विपक्ष) Anti-Thesis

प्रतिभा Intuition
प्रत्यय Idea, Concept
प्रभाव Impression
प्रलय Dissolution
प्रयोजन Purpose
प्रयोजनवाद Teleology
बोध Cognition
ब्रह्मविद्या Theology
भद्र Good
भद्रवाद Optimism
भूगर्भविद्या Geology
भूमण्डल-विद्या Cosmology
भोगवाद Hedonism
भौतिक विज्ञान Physics
यन्त्रवाद Mechanism
वर्ग Category
वस्तुगत Objective
वस्तुवाद Realism
विकास Evolution
विवेकवाद Rationalism
विषय Object
वृत्त Virtue
व्यवहारवाद Pragmatism
व्यवहारिकवाद Pragmaticism
संदेहवाद Scepticism
संवेदन Sensation
सत्ता, सत् Reality
समन्वय Synthesis
सम्पूर्णतावाद Perfectionism
स्वार्थवाद Egoism
सर्वार्थवाद Altruism
सापेक्ष Relative
सौन्दर्यशास्त्र Aesthetics
स्व Self
स्वतःसिद्ध धारणा Axiom

पर्यायवाची शब्द

अंग्रेजी–हिन्दी

Absolute निरपेक्ष
Aesthetics सौन्दर्यविद्या
Altruism सर्वार्थवाद
Antithesis प्रतिधारणा, विपक्ष
Atheism नास्तिकवाद
Attribute गुण
Axoim स्वतःसिद्ध धारणा
Being सत्
Biology प्राणिविद्या
Calculus अतिसूक्ष्म गणना
Category वर्ग
Cause कारण
,, Efficient निमित्त कारण
,, Material उपादान कारण
,, Formal आकारात्मक कारण
,, Final लक्ष्यात्मक कारण
Cognition बोध
Concept प्रत्यय
Consciousness चेतना
Cosmology भूमंडलविद्या
Creation सृष्टि
Criticism आलोचनवाद
Deduction निगमन
Dissolution प्रलय
Egoism स्वार्थवाद
Emotion उद्वेग
Empiricism अनुभववाद
Epistemology ज्ञान-मीमांसा
Essence तत्त्व
Evolution विकास
Experience अनुभव
Form आकृति
Function प्रक्रिया
Geology भूगर्भविद्या
Good भद्र
Good, Highest निःश्रेयस
Hedonism भोगवाद
Idea प्रत्यय, चित्र, बोध
Idealism अध्यात्मवाद
Impression प्रभाव
Induction आगमन
Inference अनुमान
Infinite अनन्त
Instrumentalism अस्त्रवाद
Intuition प्रतिभा
Judgment निर्णय
Logic न्यायशास्त्र
Matter प्रकृति

Materialism प्रकृतिवाद, जड़वाद
Mechanism यन्त्रवाद
Monad चिद्बिन्दु
Monism अद्वैतवाद
Necessitarianism अनिवार्यवाद
Nominalism नामवाद
Non-being असत्
Object विषय
Objective वस्तुगत
Occasionalism अवसरवाद
Perception प्रत्यक्षीकरण
Perfectionism सम्पूर्णतावाद
Pessimism अभद्रवाद, निराशावाद
Phenomenon प्रकटन
Physics भौतिक विज्ञान
Pluralism अनेकवाद
Pragmatism व्यवहारवाद
Pragmaticism व्यावहारिकवाद
Proposition निर्देश-वचन
Purpose प्रयोजन
Quality गुण
,, Primary प्रमुख (प्रधान) गुण
Quality, Secondary गौण (अप्रधान) गुण
Rationalism विवेकवाद
Relative सापेक्ष
Reality सत्ता
Realism वस्तुवाद
Realist वस्तुवादी
Scepticism सन्देहवाद
Self स्व
Sensation संवेदना
Singularism एकवाद
Spirit पुरुष, आत्मा
Spiritualism चेतनवाद
Substance द्रव्य
Superman अतिमानव (शुभ मनुष्य)
Summum Bonum निःश्रेयस
Synthesis समन्वय
Teleology प्रयोजनवाद
Theism आस्तिकवाद
Theology ब्रह्मविद्या
Thesis धारणा, पक्ष
Transcendentalism उद्गतिवाद
Virtue वृत्त

श्री

1) २५,०००।—
२) १५,०००।—
३) १०,०००।—
४) ११,०००।—
५) ६,०००।—
६) ४,०००।—
७) २ ०००।—
८) २८,००।—
९) ६००।—
१०) ६००।—
११) ८००।—

२०५१।१२।८ होलि का सोमवार है

रामप्रसाद गुप्त (रेस्टुरेन्ट लेटा) का लागी सम्पर्क फोन नं- ५३।५२२ होरपाटन गोष्ठ लाउन सुनुख्वा
२०५१।१२।५ होलिपूर्णिमा सोमवार

४/ श्री हरिहर अधिकारी (दिल्ली)
७०२६९२६९४

२) पुरुषोत्तम पाण्डेय (दिल्ली पत्रिका)
५१ ६९९७४५५ दिल्ली
राम्री ०७५/ २१ ३७२
योगी नरहरिनाथ मार्फत

कार्यका लागी सम्पर्क गर्नुपर्दा संक्षिप्त
०७ओलितमा पाण्डेयजीको पति ५०६७ ।
उहाँ सवेत पुग्न्यार

'म तिम्रा विचारसँग सहमत छैन। तर; तिम्रा विचारको रक्षाका लागि सधैंव लडिरहने छु।

— भोल्तेयर